पाशुपतसूत्रम्

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमवाड़ीमठ

वाराणसी

आचार्य चक्रपाणि त्रिवेदी

प्रकाशक
शैवभारतीशोधप्रतिष्ठानम्
डी. ३५/७७, जंगमवाड़ी मठ
वाराणसी - २२१ ००१
दूरभाष : (०५४२) २४५०५४६

पाशुपतसूत्रम्

प्रथम संस्करण २००९

मूल्य : रु. ४००.०० (सजिल्द), रु. ३००.०० (अजिल्द)

अक्षर संयोजन
शिव-शक्ति कम्प्यूटर प्रोसेस
जंगमवाड़ी मठ
वाराणसी - २२१ ००१

मुद्रक
मित्तल ऑफसेट्स
सुन्दरपुर, वाराणसी

Research Publications Series—54

PĀŚUPATASŪTRAM

of

Śrī Lakulīśa

With the Commentary of

Śrī Kouṇḍinya

Translated by

Ācārya Cakrapāṇi Trivedi

SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM

D. 35/77, Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Published by :
Shaiva Bharati Shodha Pratishthanam
D. 35/77, Jangamawadimath
Varanasi - 221 001
Phone : (0542) 2450546

PĀŚUPATASŪTRAM

First Published 2009

ISBN 81-86768-91-2 (Hb)
81-86768-92-0 (Pb)

Price : Rs.400.00 (Hb) Rs. 300.00 (Pb)

Laser Typeset at :
Shiva-Shakti Computer Process
Jangamawadimath
Varanasi - 221 001

Printed at :
Mittal Offesets
Sundarpur, Varanasi

शैवभारती-शोधप्रतिष्ठान-संस्थापकानां



श्रीकाशीविश्वाराध्यज्ञानसिंहासनाधीश्वराणां

श्री १००८ जगद्गुरु-डॉ. चन्द्रशेखरशिवाचार्यमहास्वामिनां

सुभाशीर्वचन

श्री जगद्गुरु विश्वाराध्य ज्ञानसिंहासन जंगमवाड़ी मठ के शैवभारती शोधप्रतिष्ठान के द्वारा, निदेशक पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी जी के मार्गदर्शन में, विगत अनेक वर्षों से आगमशास्त्र सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन, अनुवाद और प्रकाशन का कार्य निरन्तर चलता आ रहा है। इसी क्रम में इस महाशिवरात्रि के पर्वकाल में **पाशुपतसूत्रम्** नामक अतिप्राचीन ग्रन्थ का कौण्डिन्य-भाष्य और हिन्दी अनुवाद के साथ लोकार्पण करते हुए हम अपार हर्ष का अनुभव कर रहे हैं।

महर्षि व्यास ने महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान में भारत के अतिप्राचीन पाँच शास्त्रों का इस प्रकार उल्लेख किया है— सांख्य, योग, पांचरात्र, वेद एवं पाशुपत। श्री सिद्धान्तशिखामणि में भी इन पाँच सिद्धान्तों का—

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
एतानि मानभूतानि नोपहन्यानि युक्तिभिः।।

(सिद्धान्तशिखामणि, ५.४)

इस प्रकार उल्लेख पाया जाता है। इनमें महर्षि कपिल के द्वारा सांख्यसिद्धान्त का और हिरण्यगर्भ के द्वारा योगशास्त्र का (बाद में महर्षि पतञ्जलि के द्वारा विस्तृत विवेचन करने के कारण महर्षि पतञ्जलि को ही योगशास्त्र का प्रणेता माना गया), भगवान् वासुदेव के द्वारा पांचरात्र का, अपान्तरतपा ऋषि के द्वारा चारों वेदों की, इसी तरह श्रीकण्ठ अर्थात् भगवान् शिव के द्वारा पाशुपत सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना हुई है। इस तरह भारत के प्राचीनतम पांच शास्त्रों में पाशुपत मत का उल्लेख होने के कारण यह पाशुपत मत भारत का अतिप्राचीन शास्त्र माना जाता है। इस शास्त्र में पति, पशु और पाश — इन त्रिविध पदार्थों के ऊपर विस्तृत विवरण होने के कारण इसे पाशुपत मत कहा गया है। यह पशुपति का होने के कारण भी पाशुपत कहा जा सकता है। भगवान् पशुपति के द्वारा प्रतिपादित इस पाशुपतशास्त्र पर लकुलीश नामक आचार्य ने सूत्रों की रचना कर इसे लोक में प्रचारित किया, अतः लकुलीश इस पाशुपत मत के प्रमुख आचार्य माने जाते हैं।

आगमशास्त्र के उद्भट विद्वान् डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय के मतानुसार लकुलीश आचार्य का समय ईसवी प्रथम या द्वितीय शताब्दी माना जाता है। लकुलीश ने इस शास्त्र पर जिन सूत्रों की रचना की, वही आज **'पाशुपतसूत्रम्'** के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस ग्रन्थ में कुल १६८ सूत्र हैं। इन सूत्रों को पाँच अध्यायों में बाँटा गया है। प्रथम अध्याय में पति अर्थात् शिव का, द्वितीय अध्याय में पशु अर्थात् जीव और माया का, तृतीय-चतुर्थ अध्यायों में उस पशु का पति के साथ योग का और पंचम अध्याय में दुःखनिवृत्ति के बारे में बताया गया है। इन्हींको यहाँ पर पञ्चार्थ कहा गया है।

लकुलीश आचार्य के द्वारा लिखित सभी सूत्रों के ऊपर महर्षि कौण्डिन्य ने भाष्य लिखा है। कौण्डिन्य का कार्यकाल डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय के अनुसार ईसा-पाँचवीं शताब्दी माना जाता है।

पाशुपतसूत्र के त्रिवेन्द्रम् संस्करण के पंचम अध्याय में सूत्रसंख्या ४७ है, जब कि प्रस्तुत संस्करण में यह संख्या ४८ है। त्रिवेन्द्रम् संस्करण के पृ.१२९ पर एक टिप्पणी दी गई है। उससे ऐसा प्रतीत होता है कि पाँचवें अध्याय के २१-२२ सूत्रों को यहाँ एक में मिला दिया गया है। इसीसे संख्या में यह अन्तर आ गया है। पाशुपतसूत्रों के रचयिता आचार्य लकुलीश के विषय में तन्त्रालोककार अभिनवगुप्त का कहना है कि लकुलीश आदि

आचार्यों ने ''सर्वदेवमयः कायः'' कहते हुए यह सूचित किया है कि मनुष्य के शरीर में सभी देवता निवास करते हैं। इस सिद्धान्त के माध्यम से इन्होंने भारतीय दर्शन और धर्म के क्षेत्र में अद्भुत परिवर्तन किया था। सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में नकुलीश पाशुपत के नाम से इनका दर्शन संगृहीत है। आचार्य के सही नाम का निर्धारण अपेक्षित है।

इसी तरह इन सूत्रों के भाष्यकार आचार्य कौण्डिन्य ने अपने भाष्य में रामायण, महाभारत और मनुस्मृति के साथ यमों और नियमों की विशद व्याख्या के प्रसंग में इनसे संबद्ध लगभग १०० श्लोक उद्धृत किये हैं। योगशास्त्र के किसी एक ही ग्रन्थ के ये वचन हो सकते हैं। इस भाष्य में हम देखते हैं कि प्रथम अध्याय के अन्त में सद्योजात मन्त्र, द्वितीय के अन्त में वामदेव मन्त्र, तृतीय के अन्त में अघोर मन्त्र, चतुर्थ के अन्त में तत्पुरुष मन्त्र और अन्तिम पंचम अध्याय के अन्त में ईशान मन्त्र की व्याख्या की गई है। इन पंचब्रह्म मन्त्रों का दूसरा क्रम भी उपलब्ध है, किन्तु वीरशैव दर्शन में पाशुपत सूत्रों का क्रम ही मान्य है।

इन सब विषयों को देखते हुए हमें ऐसा लगता है कि इन दोनों ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के महत्त्व को देखते हुए इनका आधुनिक शोधपद्धति से परिष्कृत संस्करण प्रस्तुत किया जाय। कौण्डिन्य-भाष्य का उसमें दिये गये उद्धरणों के कारण अत्यन्त महत्त्व है। उन सब वचनों को स्थान-निर्देशन के साथ प्रस्तुत कर पाना कठिन कार्य है। शैवभारती शोधप्रतिष्ठान को इसका बीड़ा उठाना चाहिये। जब तक यह कार्य नहीं होता, इस संस्करण को महनीय पाशुपतमत के जिज्ञासुओं की सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस प्रकार भाष्ययुक्त पाशुपतसूत्र का राष्ट्रिय भाषा में अनुवाद करने से इसकी उपादेयता बढ़ जायेगी, इस विचार से हमारे शैवभारती शोधप्रतिष्ठान के निदेशक राष्ट्रियपण्डित पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी जी के निर्देशानुसार काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विद्या धर्मविज्ञान संकाय के धर्मागम विभाग के अतिथि-अध्यापक साहित्य शास्त्राचार्य पं. चक्रपाणि त्रिवेदी जी ने इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया है। इस तरह हिन्दी अनुवाद से युक्त होने के कारण यह बहुत उपयोगी हो गया है। अतः इस सन्दर्भ में ग्रन्थ के अनुवादक पं. चक्रपाणि त्रिवेदी को तथा इस कार्य में प्रेरणा देने वाली डॉ. रमा घोष को हम अनन्त मंगलाशीर्वाद प्रदान करते हैं। अन्य संस्करणों से भी इस कार्य में सहायता ली गई होती, तो यह कार्य अधिक उपादेय बन जाता। इस ग्रन्थ

के मुद्रण-कार्य में अहर्निश सेवारत श्री चिदानन्द ओ. हिरेमठ (कसगी) एवं डॉ. जी.सी. केण्डदमठ को भी अनन्त मंगलाशीर्वाद। जिज्ञासु पाठकगण इस ग्रन्थ का उचित अध्ययन करके अपनी ज्ञान-सम्पदा को बढ़ाते हैं, तो इससे सभी का श्रम सार्थक होगा।

हम अन्त में काशी विश्वनाथ, माता अन्नपूर्णा और जगद्गुरु विश्वाराध्य जी से प्रार्थना करते हैं कि हमारे देश के प्राचीन शास्त्रों का संरक्षण हो, लोगों में इन ग्रन्थों के स्वाध्याय में प्रवृत्ति बढ़े और सभी की बुद्धि शान्त रहे, जिससे पूरा विश्व शान्ति से रह सके।।

इत्याशिषः

●●●

भूमिका

पाशुपत सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन है; इसलिये कि वैदिक देवता भगवान् पशुपति परमशिव से इसका साक्षात् सम्बन्ध है। किन्तु कालक्रम से जगत् में परिवर्तन आता है। अतः सृष्टि के सर्जन में उदय और लय अनादिकाल से चला आ रहा है। द्वितीय या तृतीय शताब्दी ई. के लगभग जब बौद्ध धर्म का सूर्य अस्ताचल होने जा रहा था और आर्य संस्कृति का सूर्य उदित हो रहा था, इसी अन्तराल में अतिप्राचीन दबा हुआ पाशुपत सम्प्रदाय इस पावन धरा-धाम पर पुनः पनपने लगा। भगवान् शिव स्वयमेव जगत् के गुरु के रूप में अवतरित हुए और अपने शिष्यों के प्रति पाशुपतसूत्रों का उपदेश किया। कुछ कालानन्तर चतुर्थ एवं षष्ठ शताब्दी ई. के मध्यकाल में शैव धर्म के क्षेत्र में एक महान् भाष्यकार 'कौण्डिन्य' का जन्म हुआ और इन्होंने स्वयं को संस्कृत-साहित्य से जोड़ कर इस सम्प्रदाय का वर्धन किया। इनके अतिरिक्त अन्य १७ विद्वान् सम्पूर्ण देश में बिखरे हुए थे, जैसे कि लकुलीश, कौशिक, गार्ग्य, मैत्रेय आदि।

तृतीय शताब्दी एवं इसके आगे पाशुपत सम्प्रदाय के मुख्य प्रवर्तक न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय के संस्थापक रहे। वात्स्यायन (३००), उद्योतकर (६३५), वाचस्पति मिश्र (८४१), भासर्वज्ञ (१२५), उदयन (९८४) आदि तार्किकगण इसमें शामिल रहे। इस सम्प्रदाय का प्रभाव तथ्य से सहज दृश्य है कि आर्यावर्त नवम शताब्दी पर्यन्त एक "पशुपति" में श्रद्धा रखता था, जबकि कहीं पर वैदिक देवताओं (स्कन्द, उमा, विष्णु आदि) की अर्चना होती थी। १३५० ई. के लगभग एक वैदिक भाष्यकार "सायण-माधव" का जन्म हुआ, इन्होंने देखा कि इस सम्प्रदाय में कई छोटे-छोटे उपसम्प्रदाय हो गये हैं। अतः अपने 'सर्वदर्शनसंग्रहः' ग्रन्थ में चार वर्ण में बाधा है। प्रथम— नकुलीश या लकुलीश पाशुपत के नाम से प्रचलित था, जो मौलिक सूत्रों को मानता है। द्वितीय— शिव आगम के साथ तत्काल दक्षिण में शैवधर्म का प्रचार था, वह दूसरे वर्ग की रचना करता है। धार के भोजराज इससे

सम्बद्धित रहे, जिसकी कृति 'तत्त्वप्रकाश:' है। तृतीय— वसुगुप्त का 'शिवसूत्रम्' एवं 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' आदि। चतुर्थ— 'रसेश्वरदर्शन', सिद्ध नागार्जुन द्वारा संशोधित किया हुआ है। यह सम्प्रदाय भगवत्पाद 'गोविन्द' जैसे महान् अद्वैतवेत्ता द्वारा विकसित था। रसेश्वर के २५ ग्रन्थ हैं, जिसमें गोविन्दपादाचार्य का 'रसहृदयम्' भी शामिल है।

'सर्वदर्शनसंग्रह:' में पाशुपतसूत्रों और उनके कौण्डिन्यभाष्य का राशीकर के पञ्चार्थभाष्य एवं दीपिका के रूप में वर्णन किया है। उसमें उन्होंने 'गणकारिका' के रूप में ज्ञात अष्टश्लोक के प्रणेता 'हरदत्ताचार्य' का संकेत किया है। वहाँ भासर्वज्ञ के भाष्य को उक्त ग्रन्थ पर भाष्य बतलाया है। ब्रह्मसूत्रों में पञ्चश्लोक के पाशुपतसूत्रों की कौण्डिन्यकृत पञ्चार्थभाष्य के रूप में चर्चा की है। यह सम्प्रदाय कई विभिन्न नामों से जाना जाता था। जैसा कि नकुलीश, पाशुपत, कालमुख, योग, शैव एवं नैयायिक आदि। आनन्दगिरि और वाचस्पतिमिश्र ने उक्त भाष्य की व्याख्या करते हुए पाशुपतों के चार सम्प्रदाय बताए— शैव, पाशुपत, कारुणिक और कापाल। श्रीरामानुजाचार्य (१०१९-११३९) ने भी स्वकृत श्रीभाष्य के पाशुपताधिकरण में पाशुपत के चार भेद बताए हैं। इस सम्प्रदाय का द्वितीय वर्ग, अर्थात् 'दक्षिण का शैवधर्म के पास विशाल साहित्य भरा पड़ा है। इस वर्ग पर लिखन वाले श्रीकण्ठशिवाचार्य वेदान्तसूत्रों के भाष्यकार हैं। श्रीअप्पयदीक्षित (१५३०) ने 'शिवार्कमणिदीपिका' संज्ञक उक्त ग्रन्थ पर टीका लिखी है। इन दोनों आचार्यों ने स्वतन्त्र सम्प्रदाय के विकास के साथ क्रमश: भाष्य एवं व्याख्या लिख कर ब्रह्मसूत्रों के सिद्धान्त को शैव में परिवर्तित किया। नवम शताब्दी के पश्चात् दक्षिणभारत में कई शैवाचार्य हुए और जिन्होंने संस्कृत एवं तमिल भाषा में लिखे अपने ग्रन्थों से इसे समृद्ध किया। इस प्रकार उत्तर में कश्मीर से लेकर सुदूर कन्याकुमारी पर्यन्त सम्पूर्ण भारतवर्ष में यह सम्प्रदाय छाया हुआ था।

भगवान् श्रीपशुपतिनाथ द्वारा उपदिष्ट प्रस्तुत यह 'पाशुपतसूत्रम्' शैवागमतन्त्रशास्त्र का एक उत्तम ग्रन्थरत्न है। इसकी उत्पत्ति के विषय में वायु एवं कूर्म पुराण में निर्दिष्ट किया गया है कि कलियुग के प्रारम्भ काल में स्वयमेव परमेश्वर रुद्र ने भगवती नर्मदा नदी के समीपवर्ती करवण, अर्थात् 'कायावरोहण' नामक सुप्रसिद्ध ग्राम में जंगम जगत् के हितार्थ एवं भक्तजनों

के अनुग्रहार्थ अवतार ग्रहण किया था। यह सुपवित्र स्थान वर्तमानकाल में गुजरात प्रान्त के बड़ौदा जनपद के अन्तर्गत है और वह आज भी शैवीय भावना का प्रतीक हैं। इस पावनभूमि पर निवास करने वाले अत्रि मुनि के वंशज एक अग्निहोत्री परिवार में अवतरित होकर भगवन् पशुपति ने शैव धर्म की मर्यादा को स्थिर किया। उनके जन्म एवं बाल्य अवस्था से सम्बद्धित कुछ चमत्कार जुड़े हैं। एकदा उज्जैन की ओर विचरण करते हुए एक ब्राह्मण को पाशुपत धर्म की शिक्षा से शिक्षित किया और वह द्विज ब्रह्मावर्त से आया हुआ था तथा ग्रन्थ में उपलब्ध सूत्रों के रूप में ही यह शिक्षा दी गयी है, सम्पूर्ण ग्रन्थ १६८ सूत्रों में है। जो पाँच मन्त्रों के आधार पर पाँच वर्गों में विभक्त है। यथा— सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान। इसमें साधक को साध्य अर्थात् परमशिव की प्राप्ति पाशुपतव्रतधर्म द्वारा अविलम्ब हो जाय, इसके लिए सरल-सहज उपायों का वर्णन है। सूत्रों के पाँचों भाग साधक को यह बताने के लिए है कि किस प्रकार से भगवान् परमशिव की बाह्य सभी उपकरणों से यथाशक्ति रहित होकर एवं श्रद्धा-भक्तिभाव तथा मानसपूजामात्र से प्रार्थना करते हुए उनके चरण कमलों को प्राप्त करें। सूत्रों में लोक-लोकान्तर का वर्णन नहीं है। किसी कर्म एवं अपसिद्धान्त या अमंगल अनुष्ठान का भी वर्णन नहीं मिलता। जैसे पंचाग्नि विद्या के रूप में छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णन है। किन्तु यह सम्प्रदाय वस्तुतः मुमुक्षु को सहज-सरल रूप में सुज्ञान प्रदान करता है। इस लघुकलेवर के रूप में विद्यमान 'पाशुपतसूत्रम्' पर भाष्य लिखने वाले महर्षि कौण्डिन्य हैं। इनका काल लगभग ४ और ६ शताब्दी ई. में था। उस काल में पाटलिपुत्र एवं उज्जैन नगरों की महती ख्याति थी। चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवनचरित्र का आंशिक संकेत भाष्य से प्राप्त होता है, किन्तु वह अपने किसी समकालीन लेखक की चर्चा नहीं करते, वह स्वतन्त्र रूप से पाशुपतसूत्रों में श्लोकों को बिना किसी का नाम दिये उद्धृत करते हैं। इसलिए कि वह तीन सूत्रों के भिन्न-भिन्न पाठ का संकेत करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि उनके पूर्ववर्ती एक या दो ग्रन्थ थे। सांख्य एवं योग के सम्बन्ध में प्रायः चर्चा करते हैं, किन्तु वेदान्तसम्बन्धी कहीं एक या दो स्थलों में वेदमन्त्रों को उद्धृत किया है तथा अन्यत्र मनु ने कहा था ऐसे उद्धृत श्लोक प्राप्त होते हैं। भाषाशैली सुन्दर सरल है और वाक्यरचना पांतजल महाभाष्य के अनुसार है।

सायण-माधव एवं भट्ट भास्कर जैसे भाष्यकारों ने अपने वेदभाष्य में एक शब्द भी सद्योजातसम्प्रदाय के विषय में नहीं कहा है। सम्पूर्ण पाशुपतसम्प्रदाय इन्हीं मन्त्रों पर आधारित है। कौण्डिन्य, सायण-माधव एवं अन्य लोगों के भाष्यों में दूरवर्ती सम्बन्ध भी नहीं है। जैसे भट्ट भास्कर ने अपने रुद्रभाष्य और सद्योजातमन्त्र में रुद्र शब्द के अनेक अर्थ किये हैं, किन्तु कौण्डिन्य द्वारा दिये गये इसके अर्थ की चर्चा नहीं पायी जाती है। विशुद्धमुनि एवं तदनुवर्ती लोगों ने अपनी कृतियों में भाष्यकार के मत का ही अनुमोदन किया है। सायण-माधव ने वेदभाष्य में अपने पूर्ववर्ती का जहाँ भी उन्हें किसी मन्त्र का एक से अधिक अर्थ देना अभीष्ट है। सद्योजात मन्त्र का वर्णन तैत्तिरीय आरण्यक में आता है। सायण-माधव एवं भट्ट भास्कर इसे पंचमुख शिव की प्रार्थना मानते हैं। कौण्डिन्य सद्योजातमन्त्र को तीन अंश में विभक्त करते हैं। सद्+आद्य+अजात अर्थात् शाश्वत+पुरातन+अजन्मा। किन्तु सायण-माधव आदि ने इस व्याख्या की चर्चा नहीं की है। जिससे ज्ञात होता है कि पाशुपतसम्प्रदाय ४ या ५ शताब्दी ई. के पश्चात् विलुप्त हो गया था। ऐसी स्थिति में हम इस विलुप्तता की जागृति कैसे कर सकते हैं? जबकि सायण-माधव अपने 'सर्वदर्शनसंग्रहः' में उल्लेख करते हैं कि भासर्वज्ञ (९२५) की इसकी व्याख्या ८ श्लोक भी उद्धृत है। सद्योजातमन्त्र को ठीक से जान लेने के बाद ही विद्वान् व्यक्ति इसका समाधान कर सकते हैं।

पाशुपत सम्प्रदाय की शाखायें

पशुपति नाम वैदिक-साहित्य में प्रसिद्ध है, जिसका अर्थ है कि पशुओं के ईश्वर। पशु का अर्थ संसारी जीव है। इस सम्प्रदाय की चर्चा करते हुए बादरायण ने पति या ईश्वर शब्द का प्रयोग शिव या शंकर के अर्थ में किया है। पति-ईश-जगत् का सृष्टा, पालक एवं संहायक है। तत्त्वजिज्ञासुजन दीक्षित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसके अनुयायी इन्द्रियों की स्वस्थता एवं शुद्धता पर भार देते हैं। अन्य धर्म के विपरीत या मूक, बधिर आदि व्यक्तियों को इस सम्प्रदाय में अधिकार नहीं है। नित्यनैमित्तिक कर्मों की सूची पाशुपतसूत्र एवं भासर्वज्ञ के भाष्य गणकारिका में दी गयी है। साधना की पाँच अवस्थाओं का वर्णन है। क्रमशः साधक साधना युक्त होकर निर्गुण या निर्विकारस्वरूप में समाहित हो जाता है, जब कोई दुःख से छुटकारा पा

जाता है, तो वह अजर है। यही मुक्ति है। इस शाखा में पाँच वस्तुओं का वर्णन किया जाता है। १. कारण का ज्ञान अर्थात् परमेश्वर का ज्ञान, २. कार्य जीव जगत् का ज्ञान, ३. योग अर्थात् शिव से जीव की एकता, ४. विधि अर्थात् साधना क्रम, ५. दु:ख से निवृत्ति। इन्हें इस सम्प्रदाय में पंचार्थ कहा जाता है, सदाशिव के सद्योजात मन्त्रों का आवर्तन के साथ परमेश्वर की पूजा की जाती है, एतत् अतिरिक्त पाशुपतधर्म के अनुयायियों के लिए किसी अन्य क्रियाओं का विधान नहीं है। देव और पितृकार्य वर्जित है। यज्ञ और श्राद्ध कर्म वर्जित है, इसलिए कि उनमें कहीं स्थलविशेष में बलि का विधान है। अत: पाशुपतकाल में देव एवं पितरों की पूजा को बढ़ावा नहीं मिला। एक परमात्मा की भक्ति करते हुए सहज-विचार पूर्वक जीवन था, पवित्र भस्म रमाना प्रचलित था। रुद्राक्ष बिल्वपत्र और पंचाक्षर मन्त्र पूजा के लिए आवश्यक अंग समझा जाता था। किन्तु इन सब बातों पर सूत्रों एवं भाष्यों ने अधिक भार नहीं दिया है; इसलिए कि सहजभाव में बाह्य सामग्री की अपेक्षा नहीं रह जाती है। ये कुछ साधन-भजन अन्तराल साधना के अन्तर्गत यथाशक्ति समयानुसार किये जाते हैं। इस सम्प्रदाय में मुख्यरूप से तीन तत्त्व और तीन प्रमाण हैं। पति, पशु और पाश— ये तीन तत्त्व तथा प्रत्यक्ष अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण हैं।

ग्रन्थप्रतिपाद्यविषय

प्रथम अध्याय के अन्तर्गत वस्तु-पदार्थ का उपन्यास, भस्म का माहात्म्य, यम-नियम प्रकरण, आयतन प्रकरण, आधिकारिक ऐश्वर्यप्रकरण, षट्सूत्रीकरण, ऐश्वर्यनित्यत्व प्रकरण और सद्योजातमन्त्रसम्बन्धी प्रकरण दिये हुए हैं। द्वितीय अध्याय में आधिकारिक कार्य-करण प्रकरण, आनुषंगिक चर्याप्रकरण एवं वामदेवमन्त्रविषयक प्रकरण प्रस्तुत हैं। तृतीय अध्याय में विधि-विधान प्रकरण और अघोरमन्त्रसम्बन्धी प्रकरण उपलब्ध है। चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत विधानज्ञान प्रकरण, आधिकारिक असन्मार्ग चरित्रप्रकरण एवं आनुषंगिक रूप में तत्पुरुषमन्त्रविषयक प्रकरण आता है। पंचम अध्याय में योगी का लक्षण, अर्थात् योगप्रक्रिया का स्वरूप, शून्यागारगुहा प्रकरण, योगविषयक वस्तुपदार्थ, दु:खान्त प्रकरण, अर्थात् निरतिशय स्वात्मसुखानुभूति एवं ईशानमन्त्रसम्बन्धी प्रकरण वर्णित है।

पशुपतिसम्बन्धी यह प्राकरणिक ग्रन्थरत्न पाशुपतव्रत धारण करने वाले भक्तजनों के लिए अत्यन्त उपयोगी अवगत होता है, अत एव अद्यावधिपर्यन्त प्रस्तुत ग्रन्थरत्न अनुपलब्ध था, किन्तु भगवान् पशुपतिनाथ परमशिव के अनुग्रह से हम पुन: शिवभक्तों को समर्पित करते हुए अत्यन्त आनन्द का अनुभव कर रहे हैं, भगवान् पशुपतिनाथ परमशिव की हम सभी की जीवन्मुक्ति के लिए प्रार्थना करते हैं।

कृष्णानन्दसागरः
१९८७
महाशिवरात्रिः

◆◆◆

श्री परमात्मने नमः

प्रथम निवेदन

नमोऽस्तु ते महायोगिन् प्रपन्नमनुशाधि माम्।
यथा त्वच्चरणाम्भोजे रतिः स्यादनपायिनी।।
एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्।।

मानवमात्र का उद्देश्य है, सुख की प्राप्ति। वह सुख कैसा हो? उसके लिये वेद कहता है— **"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।"** इसी आनन्द की प्राप्ति के लिये सन्तों, महापुरुषों के द्वारा चलाये गये सम्प्रदायों का हम अनुसरण करते हैं। उन्हीं सिद्धान्तों में एक शैव सिद्धान्त है, जिसका अनुसरण कर हम पशुपति भगवान् का सायुज्य प्राप्त करते हैं। पशुपति भगवान् के अवतार लकुलीश द्वारा प्रोक्त एक अनुपम ग्रन्थ 'पाशुपतसूत्रम्' है। इस ग्रन्थ में पाँच अध्याय हैं। इसमें साधना की पाँच अवस्थाओं का वर्णन है। सम्पूर्ण ग्रन्थ १६८ सूत्रों में है। जो पाँच मन्त्रों के आधार पर विभक्त है। यथा— सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान। प्रथम अध्याय में कारण अर्थात् परमेश्वर का ज्ञान, द्वितीय अध्याय में जीव और माया का ज्ञान, तृतीयाध्याय में योग अर्थात् पशु का पशुपति से योग का ज्ञान, चतुर्थ अध्याय में विधिज्ञान अर्थात् साधनाक्रम और पाँचवें अध्याय में दुःख की निवृत्ति। इन्हें इस सम्प्रदाय में पञ्चार्थ कहा जाता है। इन्हीं पञ्चार्थ का भाष्य शंकर रूप भगवान् कौण्डिन्य ने किया है।

पाशुपतव्रती के लिये इस शास्त्र के अनुसार अधिकारी होना आवश्यक है। यथा—

बाधिर्यमान्द्यमन्धत्वं मूकता जडता तथा।
उन्मादः कौण्यं कुष्ठित्वं क्लैब्यं गुदावर्तपङ्गुता।।

अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासु शिष्य में उपर्युक्त दोषों का अभाव होना चाहिए— तथा श्रेष्ठ गुरु के द्वारा परीक्षित होना चाहिए। सङ्गदोष से बचने के लिये पाशुपतव्रती को इस शास्त्र में बताये गये नियमों का पालन अत्यावश्यक माना गया है। यथा— भस्मस्नान, भस्मशयन, अनुस्नान और निर्माल्य पुष्पमालाओं का सेवन आदि। इस प्रकार अनेक विधियों के सेवन से जब शिष्य का अन्त:करण शुद्ध हो जाता है, तब उसे परमशिव का ज्ञान गुरु के द्वारा प्राप्त होता है।

इस ग्रन्थ के अन्त में "शिवो मे अस्तु" सूत्र के द्वारा उपसंहार करते हैं। अधिकारी पाशुपतव्रती अप्रसन्नता और अकल्याणता को देखकर आत्यन्तिक दु:ख की निवृत्ति करता है तथा शिवत्व की प्राप्ति को देखकर तब कहता है, मेरी आत्मा शिव होवे। अस्तु।

कृतज्ञता ज्ञापन

सर्वप्रथम डॉ. कमलेश झा, धर्मागम विभागाध्यक्ष, संस्कृत विद्या धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का अतिशय आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे अपने विभाग में अतिथि-अध्यापक के रूप में रखकर अध्ययन-अध्यापन का विशेष अवसर प्रदान किया। डॉ. रमा घोष, अतिथि अध्यापिका धर्मागम विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का मैं विशेष कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मुझे प्रेरित कर छात्रों के हित में अनुपलब्ध ग्रन्थ की हिन्दी टीका करने के लिये आग्रह किया। इन्हींकी कृपा से राष्ट्रियपंडित व्रजवल्लभ द्विवेदी जी का दर्शन तथा टीका करने की अनुमति एवं आशीर्वाद प्राप्त हुआ, जिसे मैं पूर्ण कर सका। अत: उनके चरणों में मेरी प्रणति है। श्री १००८ जगद्गुरु डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी के चरणों में साष्टाङ्ग नमस्कार समर्पित करते हुए कहना है कि इन्हींकी कृपा से यह पुस्तक प्रकाशित हो रही है। अत: भूयो भूयो नमाम्यहम्। इति।

अनुवादक:
आचार्य पं. चक्रपाणि त्रिवेदी
साहित्यशास्त्राचार्य, एम.ए.
साम्प्रतम् — अतिथि अध्यापक
धर्मागमविभाग, संस्कृत-विद्या-धर्मविज्ञानसंकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय:, वाराणसी

विषयानुक्रमणिका

इति शुभम्

♦♦♦

ॐ श्रीसच्चिदानन्दाय नमः

अथ

पाशुपतसूत्रम्

कौण्डिन्यकृतभाष्यभाषानुवादोपेतम्

अथातः पशुपतेः पाशुपतं योगविधिं व्याख्यास्यामः।।१।।

हितार्थमखिलं येन सृष्टं ब्रह्मादिकं जगत्।
प्रणम्य तं पशुपतिं शिरसा सदसस्पतिम्।।
अर्थातिशयसम्पन्नं ज्ञानातिशयमुत्तमम्।
पञ्चार्थं क्रियते भाष्यं कौण्डिन्येनानुपूर्वशः।।

ध्यात्वा ब्रह्म परज्योतिः सोमं शम्भुं समं हरिम्।
नत्वाचार्यान् गुरून् प्राज्ञान् जननीजनकौ तथा।।
कौण्डिन्यभाष्यसंयुक्तं सूत्रं पाशुपताख्यकम्।
अनूद्यते मया हिन्द्यां चक्रपाणित्रिवेदिना।।

सन्दर्भ— यह पाशुपतसूत्र ग्रन्थ का प्रथम सूत्र है। इस सूत्र में आठ पद हैं। इन आठ पदों के माध्यम से पाशुपत ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों का उल्लेख है। साथ ही मङ्गलाचरण भी है। इस सूत्र का अर्थ भगवान् कौण्डिन्यभाष्य के आधार पर किया जा रहा है।

सूत्रार्थ— नित्य-शुद्ध-बुद्धमुक्त अधिकारी शिष्य को स्वयं पशुपति भगवान् आचार्यरूप होकर पशुपति सम्बन्धि पाशुपत शास्त्र के द्वारा शिव सायुज्य के नियमों का उपदेश करेंगे।

भाष्यानुवाद— अखिल ब्रह्माण्ड का मङ्गल करने वाले, चराचर तथा ब्रह्मादि देवताओं की सृष्टि करने वाले, सभापति पशुपति भगवान् को शिर से नमन कर, विशिष्टार्थ से युक्त तथा विशिष्ट ज्ञान से युक्त आनुपूर्वी पाँच भागों में विभक्त पाशुपत सूत्रों का कौण्डिन्य द्वारा भाष्य किया जा रहा है।

आह— वक्ष्यति भगवान् पञ्चार्थम्। अथास्यादिसूत्रं किमिति? अत्रोच्यते— अथातः पशुपतेः पाशुपतं योगविधिं व्याख्यास्याम इति। एतत् प्रथमसूत्रं शास्त्रादावुच्चार्यते। तदनन्तरं पदविग्रहः क्रियते। (तदुपयोगिनं योगविधिं व्याख्यास्याम इति?) अष्टपदं सूत्रम्। तत्र 'अथ अतः' इति द्वे पदे नैपातिके। पशुपतेरित्येतत् पदं परिग्रहार्थेनोच्चार्यते। पाशुपतमिति तद्धितम्। योगविधिमिति सामासिकम्। वि आङिति द्वे पदे। व्याख्यास्याम इत्याख्यातिकम्। आह—किं प्रयोजनं पदविग्रहः क्रियते? तदुच्यते— अर्थप्रसिद्ध्यर्थम्। कस्मादर्थाप्रसिद्धिः पदानाम्? यस्मात् पृथगर्थानीह पदानि भवन्ति। यस्मादेवं ह्याह—

यथा विवृतगात्रोऽपि शिरसि प्रावृतो नरः।
नाभिव्यक्तिं व्रजत्येवं सूत्रं विग्रहवर्जितम्।।

एवमर्थप्रसिद्ध्यर्थं पदविग्रहः क्रियते। आह—उक्तः पदविग्रहः प्रयोजनं च। इदं तु वाच्यम्—अथ शास्त्रादिः क इति? अत्रोच्यते—अथातः पशुपतेरित्येष तावच्छास्त्रादिः। तत्र शास्त्रं तन्त्रं ग्रन्थो विद्या च, ग्रन्थार्थयोस्तदधिगमोपायत्वात्।

कहते हैं—भगवान् पाँच पदार्थों का उपदेश करेंगे। 'अथ' शब्द क्या आदि सूत्र का बोधक है? अथवा इसका प्रथम सूत्र क्या है? यहाँ कहा जाता है— अथातः पशुपतेः पाशुपतं योगविधिं व्याख्यास्यामः। इति। यह शास्त्र का प्रथम सूत्र है। तत्पश्चात् पदविग्रह करते हैं। (तथा उससे सम्बन्धित योगविधि की व्याख्या करेंगे?) आठ पदों से युक्त सूत्र है। जिसमें अथ और अतः दोनों पद नैपातिक है। 'पशुपतेः' यह पद पशुपति सम्बन्धि अर्थ को बताता हे। पाशुपतम् 'यह तद्धितान्त शब्द है। 'योगविधिं' यह शब्द सामासिक है। 'व्याख्यास्यामः' ख्या प्रकथने धातु से निष्पन्न है। कहते हैं— पदविग्रह का प्रयोजन क्या है? उत्तर देते हैं— अर्थ की प्रसिद्धि के लिये। तो क्या पदों का अर्थ अप्रसिद्ध होता है? उत्तर देते हैं— पदों का अर्थ भिन्नार्थ होता है अतः प्रसिद्धि के लिये कहा। आच्छादित शिरवाला मनुष्य की पहचान नहीं होती। उसी प्रकार पदविग्रह के विना सूत्रों का अर्थबोध नहीं होता।

इसलिये अतिशयार्थ के लिये पदविग्रह करते हैं। पदविग्रह का प्रयोजन कहा गया। यह कहना चाहिए— इस शास्त्र का आदि अर्थात् प्रारम्भ क्या है? उत्तर में— अथातः पशुपतेः ही शास्त्र, का प्रारम्भ है। जिसको शास्त्र, तन्त्र, ग्रन्थ और विद्या भी कहते हैं। ग्रन्थार्थ ही उपदेश प्राप्ति का आधार है। इसकी

पारिमाण्यम् अथशब्दादिशिवान्तं (अ.१-५) प्रवचनम्। संख्या पञ्चाध्यायाः पञ्च ब्रह्माणि अधिकरणं च। अथशब्दातशब्दव्याख्यान(म्?) वचनस्नान-शयनाद्युपदेशाच्च (अ.१, सू.१-३) शिष्याचार्ययोः प्रसिद्धिः। कैवल्यगतानामपि दुःखित्वदर्शनात् कार्यकारणप्रत्यक्षदर्शी विप्रत्वाद् (अ.५, सू.२७) उपायोपेय-प्रत्यक्षदर्शित्वाच्च प्रश्नप्रतिवक्ता ऐश्वर्यावस्थस्यैव मुक्तत्वान्मनोऽमनःसंस्थं च (अ.२, सू.२७) कामित्वाद् (अ.१, सू.२४) अतः सर्वाचार्यविशिष्टोऽयमाचार्य इति। तथा ब्राह्मणग्रहणात् (अ.४, सू.२०) स्त्रीप्रतिषेधाद् (अ.१, सू.१३) इन्द्रियजयोपदेशाच्च (अ.५, सू.७)। उक्तं हि—

बाधिर्यमान्द्यपङ्गुत्वं मूकता जडता तथा।
उन्मादः कौण्यं कुष्ठित्वं क्लैब्यं गुदावर्तपङ्गुता।।

सीमा अथ से लेकर शिवं सूत्रान्त तक है। अर्थात् एक अध्याय से पाँच अध्याय तक उपदेश है। इस उपदेश के पाँच विभाग तथा पाँच आधार हैं। अथ शब्द के पश्चात् अतः शब्द का क्या तात्पर्य है? उत्तर देते हैं— शिवत्व प्राप्ति के साधनों का अर्थात् वचन, स्नान, शयन आदि का उपदेश है। शिष्य और आचार्य अर्थात् उपदेष्टा और उपदिष्य दोनों ही विशिष्ट पुरुष होना चाहिए। सर्व प्रथम आचार्य कैसा होना चाहिए इसका विवेचन करते हैं। कार्यकारण को प्रत्यक्ष देखने वाला हो अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ हो क्योंकि जीवनमुक्त पुरुष में भी क्रोधादि दुःख देखे जाते हैं, अतः ज्ञानी हो, साधनसाध्य को प्रत्यक्ष देखता हो, प्रश्नों का यथार्थ उत्तर देने वाला हो, भगवान् के विभूतियों में स्थित रहने पर भी उससे अलग हो, मन होते हुए भी अमन होकर स्थित हो। 'कामित्वाद्' अर्थात् सबकी एषणा उसके प्रति हो इस प्रकार सभी आचार्यों से विशिष्ट आचार्य अर्थात् उपदेशक का लक्षण होना चाहिए और भी आचार्य का लक्षण कहते हैं— 'ब्राह्मणग्रहणात्' अर्थात् वेद को भलिभांति जानता हो, स्त्रीसङ्गरहित हो, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो तथा उपदेशक हो। कहा गया है—ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ समर्थ होते हुए भी विषयों की ओर आकृष्ट न होती हों वही इन्द्रियजयी है— यहाँ तक आचार्य का लक्षण हुआ, अब शिष्य का लक्षण बताते हैं। शिष्य को बहरा, आलसी, अन्धा, गूंगा, धृष्ट, पागल, अङ्गहीन, कोढ़ी, नपुंसक, गुदारोग से युक्त तथा लङ्गणा आदि दोषों से रहित इन्द्रियजयी होना और ब्रह्मोन्मुख होना चाहिए।

(एवम्) आदिरहित: पट्विन्द्रियो ब्राह्मण: शिष्य:। स चान्यविशिष्टोऽयं शिष्य इति। तथा देवादिभ्यश्च क्रीडाधर्मित्वात् क्रीडानिमित्ता ईश्वरप्रवृत्ति:। अनुग्रहार्था चाचार्यस्य प्रवचनवक्तृत्वे प्रवृत्ति:। तथा भजनचोदनप्रसादशिवत्व-लिप्सोपदेशाद् दु:खान्तार्थिन: शिष्यस्येहोपसदनप्रवृत्ति:, न तु धर्मार्थकाम-कैवल्यार्थत्रेति। तथा कामित्वाद् (अ.१, सू.२४) इन्द्रकौशिकादिभ्यश्चाचार्यो दिव्यो निरतिशयक्रीडैश्वर्यस्वाभाव्यादित्यर्थ:। चोदनोपसदनसंस्कारवश्यादिदु:खैरभि-भूतत्वाच्चादिव्या इन्द्रकौशिकाद्या: शिष्या इति। तथा शिष्टप्रामाण्यात् कामित्वाद् (अ.१, सू.२४) अजातत्वाच्च (अ.१, सू.४०) मनुष्यरूपी भगवान् ब्राह्मणकायमास्थाय कायावतरणे अवतीर्ण इति। तथा पद्भ्यामुज्जयिनी प्राप्त:। कस्मात्? शिष्टप्रामाण्यात् चिह्नदर्शनश्रवणाच्च। अत्याश्रमप्रसिद्धं लिङ्गमास्थाय प्रवचनमुक्तवान् ; भस्मस्नानशयनानुस्नाननिर्माल्यैकवासोग्रहणाद् (अ.१, सू.२-५,

---

सभी शिष्यों से सर्वगुण सम्पन्न और विशिष्ट होना चाहिए। जिस प्रकार देवताओं और ईश्वर की प्रवृत्ति खेलधर्मी होने के कारण केवल खेल के लिये होती है उसी प्रकार अहैतुकी कृपा उपदेश देने के लिये होती है। शिष्य की भी प्रवृत्ति केवल भजन, शिवत्व प्राप्ति और प्रसन्नता के लिये ही होनी चाहिये। आचार्य के उपदेश से आत्यन्तिक दु:ख की निवृत्ति के लिये ही गुरु सान्निध्य होना चाहिए। न कि धर्मार्थकाम कैवल्य मात्र प्राप्ति के लिये। आचार्य सर्वप्रिय होता है तथा इन्द्रकौशिकादिकों से दिव्य होता है और असीम क्रीड़ास्वभाव वाला होता है। इन्द्रकौशिक देवतादि संस्कारवश प्रेरित होकर आसुरी सम्पत्ति से युक्त होने के कारण दिव्य कोटि में न होकर शिष्य कोटि में ही आ जाते हैं। उपदेष्टा का स्वरूप बतलाते हैं— अनादि विशेषण विशिष्ट मनुष्यरूपी भगवान् ब्राह्मण शरीर धारण कर सगुणरूप में अवतार लिये। वह पैदल ही उज्जयिनी पहुँच गये। इसमें प्रमाण क्या है? उत्तर देते हैं— शिष्ट जनों के कहने से, जगह-जगह चिह्नित स्थानों के देखने से और कथा श्रवण से। आश्रम और वर्णों के धर्मों से ऊपर होकर किसी विशेष चिह्नों को धारण कर उपदेश दिया। वह उपदेश भस्म, स्नान, शयन, अनुस्नान, निर्माल्य, एक वस्त्र धारण का हुआ। शैव सिद्धान्त के अनुसार पवित्र देश, पवित्र स्थल प्रसिद्ध स्थान पर भस्म की वेदी पर बैठकर शिष्य सम्बन्ध के लिये उपदेश हुआ। रुद्रभगवान् के द्वारा प्रेरित कुशिक रूप शिष्य आचार्य के पास आकर, परिपूर्णता परितृप्तता

१०) अधिकरणप्रसिद्ध्यर्थं च स्वशास्त्रोक्ते आयतने शिष्यसम्बन्धार्थं शुचौ देशे भस्मवेद्यामुषितः। अतो रुद्रप्रचोदितः कुशिकभगवानभ्यागत्याचार्ये परिपूर्णपरितृप्ताद्युत्कर्षलक्षणानि, विपरीतानि चात्मनि दृष्ट्वा, पादावुपसंगृह्य न्यायेन जातिं गोत्रं श्रुतमनृणत्वं च निवेदयित्वा कृतक्षणमाचार्यं काले वैद्यवदवस्थितं-मातुरवददवस्थितः शिष्यः पृष्टवान्— भगवन्! किमेतेषामाध्यात्मिकाधि-भौतिकाधिदैविकानां सर्वदुःखानामैकान्तिकात्यन्तिको व्यपेहोऽस्त्युत नेति? अथोक्तपरिग्रहाधिकारलिप्सासु परापदेशेनोपदेशे सच्छिष्यसाधकपाठप्रसिद्ध्यर्थं कारणपदार्थाधिगमार्थं चात्मनि परापदेशं कृत्वा भगवानेवोक्तवान्—अथेति। अत्र पूर्वप्रकृतापेक्षायामथशब्दः। कथम्? शिष्येणोदीरितं पूर्वं प्रश्नमपेक्ष्योक्तवानथेति एवमयमथशब्दः पृष्टप्रतिवचनार्थोऽस्ति। स दुःखान्त इत्यर्थः।।

आह— किं परीक्षिताय शिष्याय दुःखान्तः प्रतिज्ञात उतापरीक्षितायेति? उच्यते—परीक्षिताय। यस्मादाह—अत इति। अत्र अतःशब्दः शिष्यगुणवचने। यस्मादयं ब्रह्मावर्तदेशजः कुलजः पट्विन्द्रियो विविदिषादिसम्पन्नः शिष्यः। पूर्वं चात्रार्थतोऽतःशब्दो द्रष्टव्यः।

आदि उत्कर्षगुणों के लक्षणों से युक्त अथवा उससे भी पृथक् अपने को देखने वाला आचार्य के चरणों को ग्रहण कर समय की प्रतिक्षा के बाद जैसे वैद्य के पास रोगी बैठकर निदान के लिये प्रतिक्षा करता है। उसी प्रकार शिष्य नम्र होकर जाति, गोत्र, विद्या, अनृणत्व कहकर प्रश्न किया। हे भगवन् त्रिविध दुःखों का सर्वथा अभाव होता है या नहीं? कहते हैं— शिवत्व प्राप्ति अधिकार की इच्छा से युक्त, यथार्थ उपदेश प्राप्ति में तत्पर, सदाचरणरत शिष्यसाधक को उपदेश सिद्धि के लिये कारण पदार्थ को बताने के लिये, अपने को स्वच्छ और निर्मल कर भगवान् ने उत्तर दिया। सूत्र में जो 'अथ' शब्द है वह प्रश्न के बाद ऐसा अर्थ देता है। कैसे? शिष्य ने पहले प्रश्न किया तत्पश्चात् उत्तर हुआ इस प्रकार अथ शब्द पृष्ट प्रतिवचनार्थ हुआ। वह उत्तर दुःखान्त के लिये हुआ।

कहते हैं— क्या परीक्षित शिष्य के लिये दुःखान्त का उपदेश हुआ, या अपरीक्षित शिष्य के लिये? उत्तर में परीक्षित शिष्य के लिये। इसलिये सूत्र में अतः शब्द का व्याख्यान है। अतःशब्द शिष्य के गुण का कथन है। जिससे यह ब्रह्मावर्त देश में उत्पन्न, कुलीन, इन्दियजयी, जिज्ञासु आदि गुणों से सम्पन्न शिष्य होता है। अतः शब्द पूर्वार्थ से सम्बन्धित ही समझना चाहिये।

अथ स दुःखान्तः कुतः प्राप्यते? केन वाभ्युपायेनेति? तदुच्यते— पशुपतेः। प्रसादादिति वाक्यशेषः। अत्र पशूनां पतिः पशुपतिः। अत्र पशवो नाम सिद्धेश्वरवर्जं सर्वे चेतनावन्तः। कार्यकारणाञ्जना निरञ्जनाश्च पशवः। आह— किं तेषां पशुत्वम्? उच्यते—अनैश्वर्यं बन्धः। कारणशक्तिसन्निरोध-लक्षणमस्वातन्त्र्यमनैश्वर्यं बन्धोऽनादिः। बन्धगुण इत्युपचर्यते(?) तत् कथं-लक्षणमिति चेत्? तदुच्यते— पश्यनात् पाशनाच्च पशवः। तत्र पाशा नाम कार्यकरणाख्याः कलाः। ताश्च कला उपरिष्टाद् वक्ष्यामः। ताभिः पाशिताः बद्धाः सन्निरुद्धाः शब्दादिविषयपरवशाश्च भूत्वावतिष्ठन्ते, इत्यतोऽवगम्यतेऽ-स्वातन्त्र्यमनैश्वर्यं बन्धः। कार्यकरणरहितस्य पशुत्वं निवर्तत इति चेत्; (न)। तदुच्यते— संहृतानामपि पुनः पुनः संबन्धग्रहणाच्छास्त्रे। किं चान्यत्। पश्यनाच्च पशवः। यस्माद्विभुत्वेऽपि चित्समवेतत्वेऽपि च शरीरमात्रमेव पश्यन्त्युपलभन्ति

कथनान्तर— वह दुःखान्त उपदेश कहाँ से किससे प्राप्त होता है? किस उपाय से प्राप्त होता है? कहते हैं—पशुपति के अनुग्रह से। संसारी जीवों के पति को ही पशुपति कहते हैं। सिद्ध या मुक्त और ईश्वर को छोड़कर सभी चेतना से युक्त प्राणी पशु कहलाते हैं। कार्यकारण से युक्त और अयुक्त सभी पशु कहे जाते हैं। कहते हैं— उनका पशुत्व क्या है? उत्तर देते हैं— अनैश्वर्य में बन्धन ही पशुत्व है। अनैश्वर्य क्या है? गतिरोध अस्वातन्त्र्य, लक्षणयुक्त अनैश्वर्य बन्ध है जो अनादि है। बन्ध क्या गुण है? तो उसका क्या लक्षण है? कहते हैं— जैसे कोई पशु रस्सी में बन्धा दिखाई देता है तो पशु संज्ञा होती है वैसे ही संसार में लिप्त होने से जीव पशु कहे जाते हैं। वहाँ रस्सी कार्य करण के द्वारा प्रतीत कला को कहते हैं। उन कलाओं के सम्बन्ध में आगे कहेंगे। उन कलारूपी रस्सी से बद्ध को सन्निरुद्ध कहते हैं अर्थात् वह पशु शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों से आवृत्त होकर रहता है अतः अस्वातन्त्र्य और अनैश्वर्य बन्ध से जाना जाता है। पशुत्व की निवृत्ति, कार्य करण का अभाव होगा? नहीं। कहते हैं— चित्तवृत्तियों के निरुद्ध होने पर भी पुनः वृत्तियाँ समय आने पर जागृत हो जाती हैं ऐसा शास्त्र वचन है और दूसरा भी पशुत्व में दर्शन हेतु है। क्योंकि व्यापक में चित्त का तादात्म्य होने पर भी शरीर को ही देखता है और प्राप्त करता है न कि इसके अतिरिक्त किसी धर्म का। कार्यकरण से रहित जीव अर्थात् जीवन्मुक्त,

च न बहिर्द्धानि। कार्यकरणरहिताश्च न कार्यकरणं प्रतिपद्यन्ते त्यजन्ति वा धर्माधर्मप्रकाशदेशकालचोदनाद्यपेक्षितत्वाच्च। अतः सुष्ठूक्तं पश्यनात् पाशनाच्च पशवः। यस्मादुक्तम्—

सांख्ययोगेन ये मुक्ताः सांख्ययोगेश्वराश्च ये।
ब्रह्मादयस्तिर्यगन्ताः सर्वे ते पशवः स्मृताः।।

पतिः कस्मात्? आप्ति पाति च तान् पशूनित्यतः पतिर्भवति। तान् केनाप्नोति? केन रक्षति? ततो विभुशक्त्या। यस्मात् तत्रापि शक्तिमस्यानन्तां नातिवर्तन्ते। विप्रत्वा(च्चा) (अ.५, सू.२७)स्यानन्ता ज्ञानशक्तिरपरिमिता। तया अपरिमितया अपरिमितानेव प्रत्यक्षान् पशूनाप्नोतीति पतिः। तथा पालयतीति प्रभुशक्तिः। कस्मात्?। तच्छन्दात् तेषां प्रवृत्तिनिवृत्तिः स्थितिरिष्टानिष्टस्थान-शरीरेन्द्रियविषयादिप्राप्तिर्भवति। तत्परिदृष्टानां तत्प्रचोदितानां चेत्यर्थः। एवं पशुपतेरिति कार्यकारणयोः प्रसादस्य चोद्देशः। तस्मात् प्रसादात् स दुःखान्तः प्राप्यते। न तु ज्ञानवैराग्यधर्मैश्वर्यत्यागमात्रादित्यर्थः।

कार्यकरण का ग्रहण या त्याग नहीं करते अपितु धर्म, अधर्म, प्रकाश, ईश, काल और प्रेरणा से वह कार्यकरण प्रेरित होता है। अतः सुन्दर कहा गया है कि इष्ट और प्राप्त होने से पशु संज्ञा है, इसके विषय में श्लोक में है—

प्रकृति पुरुष का ज्ञान प्राप्त कर जो ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित किये हैं, वे ब्रह्मादि देवताओं से लेकर पशु पक्षी योनि तक सभी पशु संज्ञक ही हैं।

किन लक्षणों से पति है? उत्तर देते हैं— जो जीवों को प्राप्त करते हैं और पालन करते हैं वह पति होते हैं। वह किसके द्वारा प्राप्त किया जाता है? किससे रक्षा किया जाता है? उत्तर देते हैं— व्यापक शक्ति के द्वारा। जिसमें अनन्त और अनतिशय शक्ति है। वह अक्षुण्ण शक्ति है। अनन्त ज्ञान शक्ति है। उस अपरमित शक्ति से अपरमित प्रत्यक्ष जीवों को प्राप्त करता है तथा पालन करता है। जो पालन करता है वह प्रभु शक्ति है। कैसे? उसी की कृपा से जीव की प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है। स्थिति, इष्टानिष्ट, स्थान शरीर, इन्द्रिय, विषय की प्राप्ति होती है। उसी के द्वारा दृष्ट तथा प्रेरित होता है। इस प्रकार 'पशुपतेः' की षष्ठी विभक्ति अर्थात् कार्यकारण बताने का उद्देश्य है। उसी के कृपा से जीव को दुःखान्त की प्राप्ति होती है, न कि ज्ञान, वैराग्य, धर्म, ऐश्वर्य और त्याग आदि से दुःखान्त होता है।

आह—कुत्रस्थस्य कदा कीदृशस्य वा स भगवान् प्रसीदतीति? उच्यते—यदानेन तु तत् प्राप्तं भवति। आह—किं तद् इति? उच्यते— पाशुपतम्। अत्र पशुपतिनोक्तं परिगृहीतं पशुपतिमधिकृत्य चारभ्यत इति पाशुपतम्। यथा वैष्णवं मानसमिति।

किं तदिति? उच्यते—योगम्। अत्रात्मेश्वरसंयोगो योग:। स पुन: पुरुषस्याध्ययनादिनैमित्तिकत्वादन्यतरकर्मज: स्थाणुश्येनवत्, चोदनाध्ययनादिवचनाद् मेषवदुभयकर्मज:। यस्मात् सति विभुत्वेऽनधिकारकृतत्वाद् वियोगस्य। वियुक्तस्यैव च संयोग उपदिश्यते। विषयरक्तविरक्तवत् क्रियायोगे। इह तु समाधिलक्षणे योगे संनियम इति।

आह—किं परिज्ञानमात्रादेव तद्योग: प्राप्यते? उच्यते। यस्मादाह-तत्प्राप्तौ विधिं व्याख्यास्याम:। अत्र योगस्य विधिर्योगविधिरिति षष्ठीतत्पुरुषसमास:।

कहते हैं— कहाँ रहकर, कब, कैसे भगवान् प्रसन्न होते हैं? कहते हैं— जब इस जीव के द्वारा शिव की प्राप्ति होती है। पुन: प्रश्न करते हैं कि तद् शब्द किसके लिये है— उत्तर— पाशुपत शास्त्र। पशुपति के द्वारा उक्त एवं ओतप्रोत पशुपति को आधार बनाकर जो आरम्भ है वह पाशुपतम् है। जिस प्रकार विष्णु से ओतप्रोत वैष्णवमानस।

पाशुपतम् क्या है? कहते हैं— योग है। आत्मा और ईश्वर का संयोग ही योग है। योग की व्याख्या करते हैं कि पुरुष के अध्ययनादि निमित्त कारणों के द्वारा प्रयत्न पूर्वक प्राप्त ईश्वर का संयोग योग है। यथा स्थाणुस्येनवत् — बाज पक्षी अपने प्रयत्न से स्थाणुवृक्ष को आधार बनाता है। अथवा मेष की तरह दोनों में प्रेरणा अध्ययनादि के द्वारा योग होता है। व्यापक ईश्वर के रहने पर भी अनधिकारी जीव का वियोग होता है, क्योंकि वियोग रहने पर ही संयोग का उपदेश होता है। व्यवहार में भी जो विषयासक्त है वही विरक्त होगा। इस शास्त्र में भी समाधि लक्षण वाला योग का ही नियमन हुआ है।

कहते हैं— तद् सम्बन्धी ज्ञान से ही योग हो जाता है? उत्तर देते हैं कि ईश्वर की प्राप्ति में विधि कारण है। यहाँ सूक्ष्म, स्थूल, बाह्य, आभ्यन्तर, सलक्षण विलक्षण क्रियाओं में विधि संज्ञा है, जैसी यज्ञ विधियाँ हैं। न कि किसी समूह विधि विधि है यथा सेना, वन आदि। कैसे? उत्तर देते हैं— क्षणिक

अत्र सूक्ष्मस्थूलबाह्याभ्यन्तरलक्षणविलक्षणक्रियासु विधिसंज्ञा यज्ञविधिवत्, न तु सेनावनादिवत्। कस्मात्? क्रियाणां क्षणिकानां समुदायासम्भवात्। यद्येवं विधिः कस्मात्? विधायकत्वाद् विधिः। उपायोपेयभावाच्च। विधिमिति कर्म।

एवं सदुःखान्ताः कार्यं करणं योगो विधिरिति पञ्चैव पदार्थाः समासत उद्दिष्टाः। ते व्याख्येयाः। व्याख्यानमेतेषां विस्तरविभागविशेषोपसंहारनिगमनानि। तस्माद् अन्यद् व्याख्येयमेतेषां अन्यद् व्याख्यानम्। यस्मादाह— व्याख्यास्यामः। अत्र विः विस्तरे विभागे विशेषे च भवति। तत्र विस्तर इति प्रत्यक्षानुमानाप्तवचनानि (? नानि)ति प्रमाणान्यभिधीयन्ते। तत्र प्रत्यक्षं द्विविधम्—इन्द्रियप्रत्यक्षम्, आत्मप्रत्यक्षं च। इन्द्रियप्रत्यक्षमिन्द्रियार्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धघटाद्याः, व्याख्यान-तापमूत्रपुरीषमांसलवणप्राणायामैः सिद्धम्।

आत्मप्रत्यक्षं तदुपहार (अ.१, सू.८) कृत्स्नतपो (अ.३, सू.१९) दुःखान्तादि-(अ.५, सू.४०) वचनात् सिद्धम्। यथा प्रस्थेन मितो व्रीहिः प्रस्थः। परमार्थत-स्त्विन्द्रियार्थसम्बन्धव्यञ्जकसामग्र्यं धर्माधर्मप्रकाशदेशकालचोदनाद्यनुगृहीतं सत्

क्रियाओं का समूह नहीं हो सकता। यदि ऐसी बात है तो विधि कैसे होगी? विधायक होने से विधि है। विशेष्य विशेषण होने से विधि है। विधि कर्म है।

इस प्रकार दुःखान्त, कार्य, कारण, योग और विधि सहित पाँच पदार्थों के उद्देश्य से पाशुपत शास्त्र विद्यमान है। वे ही व्याख्या के विषय हैं। इन सबों का व्याख्यान विस्तर, विभाग, विशेष, उपसंहार और निगमन के रूप में है। इसलिये भिन्न-भिन्न विधियों का व्याख्यान है। इसलिये सूत्र में कहते हैं, व्याख्या करूँगा। यहाँ व्याख्यान शब्द में वि उपसर्ग से विस्तर, विभाग और विशेष लेंगे। तो क्या विस्तर शब्द से प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द प्रमाणों का ग्रहण होगा? उत्तर देते हैं— वहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं। इन्द्रिय प्रत्यक्ष और आत्मप्रत्यक्ष। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और घटादि इन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय हैं क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा ही, व्याख्यान, ताप, मूत्र, पुरीष, मांस, लवण और प्राणायाम का अवगमन होता है।

आत्म प्रत्यक्ष क्या है? बताते हैं। प्रथमाध्याय का ८वाँ सूत्र तीसरे अध्याय का १९वाँ सूत्र पाँचवें अध्याय का चालीसवाँ सूत्रों के व्याख्यान से आत्म प्रत्यक्ष का भाव जाना जायेगा जो अवसर प्राप्त होने पर व्ख्याख्या

प्रमाणमुत्पद्यते। आत्मप्रत्यक्षं तु चित्तान्तःकरणसम्बन्धसामग्र्यम्। अनुमानमपि प्रत्यक्षपूर्वकम्, चित्तात्मान्तःकरणसम्बन्धसामग्र्यं च धर्माधर्मप्रकाशदेशकाल-चोदनादिस्मृतिहेतुकम् उत्पत्त्यनुग्रहतिरोभावकालादि। तैश्चोत्तरसृष्टिकर्तृत्वमनुमीयते कारणस्य। अतो नोत्सूत्रम्। तच्च द्विविधम्—दृष्टं सामान्यतोदृष्टं च। तत्र दृष्टमपि द्विविधम्—पूर्ववच्छेषवच्च। तत्र पूर्वदृष्टोऽयं षडङ्गुलीयकः स एवेति पूर्ववत्। विषाणादिमात्रदर्शनाद् गौरिति शेषवत्। सामान्यतोदृष्टमपीह गतिपूर्विकां देशान्तरप्राप्तिं दृष्ट्वा चास्यादित्यादिगतिप्रसिद्धिः। त्रैकाल्येऽप्यर्थाधिगमे निमित्तं प्रमाणम्। आगमो नाम आ महेश्वराद् गुरुपारम्पर्यागतं शास्त्रम्।

आगमोऽलौकिकादिव्यवहारहेतुराचक्षितः स्मृतः (०)। रुद्रः प्रोवाच (अ.५, सू.८) वचनात् सिद्धिः। एष्वेवोपमानार्थापत्तिसम्भवाभावैतिह्यप्रतिभादीनां व्याख्यायमानानामन्तर्भावः। एवमेतानि त्रीणि प्रमाणानि। प्रमापयिता भगवांश्चोदकः।

होगी। जैसे— प्रस्थ मापक के द्वारा मापा गया धान प्रस्थ ही कहा जाता है। वास्तविक इन्द्रियार्थ सम्बन्ध व्यञ्जक सामग्री धर्म, अधर्म, प्रकाश, देश, काल, प्रेरणा आदि से अनुगृहीत ही इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। आत्म प्रत्यक्ष तो चित्त और अन्तकरण सामग्री है। अनुमान प्रमाण भी प्रत्यक्ष पूर्वक चित्तात्मा, अन्तकरण सम्बन्ध सामग्री जो धर्म, अधर्म, प्रकाश, देश, काल, प्रेरणादि स्मृति हेतुक है, जो उत्पत्ति, अनुग्रह और तिरोभाव कालादि का ज्ञान कराता है। सभी सामग्रियों से स्पष्ट होता है कि इसके उत्तर में अर्थात् अतिरिक्त कोई सृष्टि कर्ता कारण रूप है ऐसा अनुमान करते हैं। इसलिये सूत्र में नहीं कहा। अनुमान प्रमाण भी दो प्रकार का है— (१) दृष्ट (२) सामान्यतो दृष्ट। दृष्ट भी दो हैं— (१) पूर्ववत् (२) शेषवत्। पूर्ववत् का उदाहरण देते हैं कि मैंने जो छः अङ्गुली वाले पुरुष को देखा था वह वही है, अनुमान हुआ। गौ पशु आदि में सिंह देखने मात्र से गौ का बोध हो जाता है यह शेषवत् अनुमान है। सामान्यतो दृष्टानुमान को गति से देशान्तर में आया हुआ पुरुष जाना गया, जैसे सूर्य आदि की गति प्रसिद्ध है। जो प्रातः, मध्याह्न, सायं त्रैकालिक ज्ञान में निमित्त प्रमाण है।

आगम प्रमाण या आप्त प्रमाण कहते हैं— आगम अर्थात् महेश्वर से लेकर गुरु परम्परागत शास्त्र आगमशास्त्र है। अलौकिकादि व्यवहार में जो हेतु रूप कहा गया स्मृतिशास्त्र को आगम शास्त्र कहते हैं। जैसे रुद्र ने विशेष रूप

प्रमाता पुरुष:। प्रमेया: कार्यकारणादय: पञ्च पदार्था:। प्रमिति: संवित्। संवित् संचिन्तनं सम्बोधो विद्याभिव्यक्तिरित्यर्थ:। उद्देशनिर्देशाधिगमाच्च विर्विस्तरे भवति। विभागो नाम पदपदार्थसूत्रप्रकरणाध्यायाद्यसङ्कर:। विशेषो नाम साध्यसाधनव्यतिरेक:। आङिति व्याख्यामर्यादायां भवति। पदात् पदं सूत्रात् सूत्रं प्रकरणात् प्रकरणम् अध्यायादध्यायम् आ बोधादा परिसमाप्तेरिति, मर्यादावस्थस्यैव च वक्ष्याम:। ख्या प्रकथने। प्रतीताप्रतीताभि: संज्ञाभिर्वेदादि-विहिताभिर्व्यतिरेकेण च व्याख्यास्याम:। स्या इत्येष्ये काले। यावदयमाचार्यो गृहस्थादिभ्योऽभ्यागतं पूर्वमत:शब्दात् परीक्षितं ब्राह्मणं व्रतोपवासाद्यं महादेवस्य दक्षिणस्यां मूर्तौ सद्योजातादिसंस्कृतेन भस्मना संस्करोति, उत्पत्तिलिङ्गव्यावृतिं कृत्वा मन्त्रश्रावणं च करोति तावदवेष्य: काल: क्रियते। म इति प्रतिज्ञायां भवति।

से कहा— इन वचनों के सिद्धि से आप्त प्रमाण कहा जाता है। इन्हीं तीनों प्रमाणों में, उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव ऐतिह्य और प्रतिभादियों का अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार तीन प्रमाण हैं। प्रमाण को जनाने वाले तथा प्रेरक भगवान् ही है। प्रमाता पुरुष है। प्रमा का विषय कार्य कारण आदि पाँच विषय प्रमेय है। प्रमिति को संवित् कहते हैं। सम्यक् चिन्तन, सम्यक् बोध, विद्या की अभिव्यक्ति ही संवित् है। उद्देश्य निर्देशन ज्ञान से वि से विस्तर का अर्थ होता है। विभाग क्या है? कहते हैं— पद पदार्थ, सूत्र, प्रकरण और अध्यायादि का समूह विभाग है। विशेष क्या हैं— साध्यसाधन से अतिरिक्त है। व्याख्यान पद में आङ् का अर्थ करते हैं— मयार्दा। अर्थात् पद, सूत्र, प्रकरण, अध्याय के परिसमाप्ति तक जो ज्ञान करावे वह मर्यादा है। मर्यादा में स्थित होकर ही व्याख्या करेंगे। ख्या धातु प्रकर्षेण कथन करने के अर्थ में है। प्रकथन क्या है? कहते हैं— प्रतीताप्रतीत संज्ञा अर्थात् ज्ञाताज्ञात संज्ञाओं से, वेदादि विहित कथनों से भी अतिरिक्त व्याख्यान करेंगे। 'स्या' पद भविष्य काल का द्योतक है। भविष्य काल क्या है? कहते हैं— जब तक आचार्य गृहस्थाश्रम से आया हुआ अधिकारी परीक्षित शिष्य ब्राह्मण को व्रत, उपवास, स्नान आदि का उपदेश देता है और महादेव की दक्षिणामूर्ति सद्योजातादि मन्त्रों के द्वारा और भस्म संस्कार के द्वारा जन्म चिह्न संस्कारों को अलग कर मन्त्र श्रवण कराता है तब तक एष्य काल कहते हैं। 'म:' का अर्थ प्रतिज्ञा में है।

उत्थानादिगणे सम्यग्व्यवस्थितस्य व्याख्येयव्याख्यानयोर्भगवानेव क्रमशो वक्ता। स्थूलोपायपूर्वकत्वात् सूक्ष्मविधेयाधिगमस्य पूर्वाश्रमनियमप्रतिषेधार्थ-मत्याश्रमयमनियमप्रसिद्ध्यर्थं च (प्राग्?) विधिः प्रथमं व्याख्यायते। इत्यत्रायं पदार्थोपन्यासः परिसमाप्त इति।।१।।

अत्राह—प्रतिपन्नांशो यथाविधि प्रथमं व्याख्यायते। इदमिदानीं चिन्त्यम्। अथास्य कश्चादि:? किं मध्यम्? कोऽन्त:? कत्यङ्गो वा विधिरिति? तदुच्यते—भस्मनाद्यो (अ.१, सू.२) निन्दामध्यो (अ.३, सू.५) मूढान्तश्च (अ.४, सू.८) विधि:। स च त्र्यङ्गो दानयजनतपोङ्ग इति। तत् कथमवगम्यते? यस्मादिदमारभ्यते—

भस्मना त्रिषवणं स्नायीत।।२।।

अत्र भस्म वामद्रव्यं यदग्नीन्धनसंयोगान्निष्पन्नम्। तत् परकृतं पार्थिवं भुक्तं दीप्तिमत्। ग्रामादिभ्यो भैक्ष्यवद् भस्मार्जनं कर्तव्यम्। स्नानशयनानुस्नान-

---

जिज्ञासुओं के समूह में भलिभाँति व्यवस्थित शिष्य के लिये प्रवचन का विषय और उपदेष्टा दोनों भगवान् ही है। उपदेश का क्रम बताते हैं— स्थूल, सूक्ष्म साधनों द्वारा विधेय का ज्ञान तथा पूर्वाश्रम नियम का प्रतिषेध, सन्यासाश्रम की प्रसिद्धि के लिये पहले विधि का उपदेश देते हैं। यहाँ पञ्च पदार्थों का उल्लेख समाप्त हुआ।।१।।

शरणागत के लिये मर्यादित, विधि का उपदेश देते हैं— यहाँ यह विचार है— विधि का आदि मध्य, अन्त क्या है? विधि के कितने भेद हैं। उत्तर देते हैं— प्रथम अध्याय का दूसरा सूत्र आदि है। तीसरे अध्याय का पाँचवा सूत्र विधि का मध्य है। चौथे अध्याय का आठवाँ सूत्र अन्त है। इसके तीन भेद हैं— (१) दान, (२) यजन, (३) तप। यह कैसे जाना जाता है इसके लिये सूत्र कहते हैं—

विधि के उपदेश में प्रथम सूत्रार्थ— आचार्य शिष्य को दु:खान्त के लिये आवश्यक नियम का उपदेश देता है— शरीर और मन की शुद्धि के लिये भस्म से तीन सन्धि कालों में स्नान करे।

भाष्यानुवाद— यहाँ भस्म देव द्रव्य है। जो लकड़ी और अग्नि से निष्पन्न होता है। वह दूसरे के द्वारा भी निर्मित पार्थिव द्रव्य यानी भस्म ग्रहणीय है तथा चमत्कृत होना चाहिये। जिस प्रकार संन्यासी भिक्षाटन कर

कृत्यबन्धुत्वान्निष्परिग्रहत्वादहिंसकत्वाद् उत्कृष्टमेव शुचि प्रभूतं ग्राह्यं साधनत्वात्। अलाभे स्वल्पमपि ग्राह्यम्। आधारोऽप्यलाबुचर्मवस्त्रादिरत्र प्रसिद्धः। आह— किं तेन भस्मना कर्तव्यम्? तदुच्यते—भस्मनेति तृतीया करणार्थे कर्तुः क्रियामादिशति, यथा वाश्या तक्षणं बुद्ध्या पिधानम्। आह—अथ कस्मिन् काले सा क्रिया कर्तव्येति? त्रिषवणम् इति। द्विगुः समासः। त्रीणीति संख्या। सवनमिति कालनिर्देशः। पूर्वसन्ध्या मध्याह्नसन्ध्या अपरसन्ध्येति सन्ध्यात्रयम्। त्रिषवणं त्रिसन्ध्यं त्रिकालमित्यर्थः। आह—त्रिषवणं किमनेन कर्तव्यम्? तदुच्यते— स्नायीत। अत्र स्नानं शौचकार्येण शरीरेष्वागन्तुकानां स्नेहत्वग्लेपमलगन्धादीनां भस्मनापकर्षणं कर्तव्यम्। स्नानं तु भस्मद्रव्यगात्रसंयोजनम्। परमार्थतस्तु स्नानादि पुण्यफलसंयोगधर्मात्मवचनाद् (अ.५, सू.३१) आत्मशौचमेवैतत्। केवलं

भिक्षा ग्रहण करता है वैसे भस्म भी ग्रहण करना चाहिये। भस्म किस लिये अर्जित करना चाहिये? कहते हैं— स्नान, शयन, अनुस्नान कृत्यों से बन्ध होने के कारण, ग्रहणीय होने के कारण, अहिंसक होने के कारण ग्राह्य है। दुःखान्त के साधन होने के कारण सर्वोत्तम, पवित्र ही अधिक भस्मार्जन करें। अधिक न मिलने पर थोड़ा भी लेना चाहिये। भस्मार्जन के लिये तुमड़ी, चर्म और वस्त्रादि ही प्रसिद्ध है। कहते हैं— भस्म से क्या करना चाहिए? उत्तर देते हैं— भस्मना शब्द में करण में तृतीया है अतः कर्ता का क्रिया से सम्बन्धित आदेश है। जिस प्रकार बढ़ई अपनी बसुली से लकड़ी तरासता है वैसे भस्म से बुद्धि का मार्जन होता है। कहते हैं— किस काल में वह क्रिया करनी चाहिए? उत्तर तीनों सन्ध्या काल में। यहाँ त्रयाणां सवनानां समाहारः करके द्विगु समास है। तीन संख्या है। सवन शब्द काल बोधक है। पूर्व सन्ध्या, मध्याह्न सन्ध्या और अपराह्न सन्ध्या और ये तीन सन्ध्यायें होती हैं। त्रिषवणं का अर्थ त्रिसन्ध्य अर्थात् त्रिकाल होता है। तीनों कालों में भस्म से क्या करना चाहिए? उत्तर— स्नान करना चाहिये। यहाँ स्नान से तात्पर्य है, शौच कार्य से शरीर में आये हुए चिकनाहट, भस्मापसरण, मल और दुर्गन्धादि को भस्म लेप से दूर करना। भस्म द्रव्य को शरीर में खूब मिलाना ही स्नान है। वास्तविक तो स्नान से पुण्यफल का संयोग धर्म का संयोग और आत्मा का संयोग ही अभीष्ट है। भस्म, स्नान, वास्तविक अन्तःकरण की ही शुद्धि है। पाँचवें अध्याय के ३१वें सूत्र में निर्दिष्ट है कि स्नान आदि क्रिया

स्नानाद्यकलुषा(अ.१, सू.१८)पहतपाप्मादिवचनात्, (अ.३, सू.६) कार्यकरण-व्यपदेशेनात्मशौचं व्याख्यायते। इत इत्येतद् आज्ञायां नियोगे च। नियोगत्वान्नियतं नियतत्वान्नियम इत्यर्थः। कस्मात्? प्रतितन्त्रसिद्धत्वाद् अहिंसकत्वाद् निश्रेयस-हेतुत्वाच्च। भस्मना स्नेयम्, न चाद्भिर्विपरीतत्वादित्यर्थः॥२॥

किं स्नानमेवैवं भस्मना कर्तव्यम्? उच्यते। यस्मादाह—

भस्मनि शयीत॥३॥

अत्र भस्म तदेव। निरुक्तमस्य पूर्वोक्तम्। भस्मनि इत्यौपश्लेषिकं सन्निधानम्। शय इत्युपशमस्य विश्रामस्याख्या। इत इत्येतदाज्ञायां नियोगे च। भस्मन्येव रात्रौ स्वप्तव्यं नान्यत्रेत्यर्थः। उक्तं हि—

यथा मृगा मृत्युभयस्य भीता उद्विग्नवासा न लभन्ति निद्राम्।
एवं यतिर्ध्यानपरो महात्मा संसारभीतो न लभेत निद्राम्॥

निर्मल स्वच्छ बनाती है। आत्मा की पवित्रता कार्य· करण के व्याज से कहते हैं। 'स्थायीत' में इत शब्द आज्ञा में करना ही है, अर्थात् अनुष्ठान परक है। नियोग से नियत, नियत से नियम हो जाता है। कैसे? उत्तर— प्रतिशास्त्र सिद्ध होने से, अहिंसक होने से, मोक्ष का हेतु होने से। भस्म से ही स्नान करें न कि इसके विपरीत जलादि द्रव्यों से॥२॥

तीसरे सूत्र के उपक्रम में कहते हैं कि क्या भस्म से केवल स्नान मात्र ही करें? आगे सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ— भस्म पर शयन भी करें।

भाष्यानुवाद— यहाँ भस्म शब्द पूर्व में जो कहा गया है वही है। इसके सम्बन्ध में भलीभाँति कहा जा चुका है। इस शब्द की सप्तमी औपश्लेषिक सप्तमी है। अर्थात् भस्म पर यानी भस्म के एक देश में शयन करें। शय अर्थात् शान्ति और विश्राम प्राप्त करें। इत शब्द पहले की भाँति क्रियान्वयन में ही है। भस्म पर ही रात्रि में शयन करें न कि अन्यत्र।

कहा गया है— जिस प्रकार सिंहादि के भय से मृग भयभीत होकर इतः उतः वास करता हुआ रात्रि में नींद नहीं ले पाता है उसी प्रकार संन्यासी, ध्यानी, महात्मा संसार से डरकर निद्रा में निमग्न नहीं होता।

किञ्च, विशेषार्थित्वात्। विशेषार्थी चायं ब्राह्मणः। उक्तं हि—

न विशेषार्थिनां निद्रा चिरं नेत्रेषु तिष्ठति।
हयानामिव जात्यानामर्धरात्रार्धशायिनाम्।।

तस्मात् परिवृष्टे भूप्रदेशे दिवा परिग्रहं कृत्वा भस्मास्तीर्याध्ययनाध्यापन-ध्यानाभिनिविष्टेन प्रवचनचिन्तनाभिनिवेशैश्च श्रान्तेन बाहूपधानेन सद्योजातादिसंस्कृते भस्मनि रात्रौ स्वप्तव्यमित्यर्थः। किमर्थमिति चेत्? उच्यते— तपोर्थं भूप्रदेशे शौचार्थं विश्रामार्थं वा। समविषमनिम्नोन्नतायां भूमौ यामं यामद्वयं वा स्वप्तव्यमित्यर्थः।।३।।

आह—किं स्नानं शयनं च भस्मना प्रयोजनद्वयमेवात्र कर्तव्यम्, उतान्यदपि? सवनान्तस्थस्यास्याशौचकं प्राप्तस्य निर्घातकं किमिति? तदुच्यते—

अनुस्नानम्।।४।।

और भी— विशेष लक्ष्य को प्राप्त करने वाला ब्राह्मण है, अतः भस्म पर शयन करे। कहा गया है—

विशेष लक्ष्य को प्राप्त करने वाला व्यक्ति बहुत देर तक नहीं शयन करता है जिस प्रकार उत्तम जाति का घोड़ा तीन याम ही रात्रि में शयन करता है।

इसलिये दिन में ही उपयुक्त भूमि को ग्रहण कर अर्थात् किलित कर भस्म को बिछाकर, अध्ययन, अध्यापन, ध्यानादि और प्रवचन चिन्तन से थके होने से बाँह की तकिया बनाकर सद्योजातादि मन्त्र से परिमार्जित कर रात्रि में भस्म पर सोना चाहिए। किसलिये ये सब होना चाहिए? उत्तर— तपस्या के लिये, पवित्रता तथा विश्राम के लिये। समान भूमि पर या शिर के तरफ ऊँची तथा पैर के तरफ नीची भूमि पर एक याम या दो याम शयन करना चाहिए।।३।।

कहते हैं— भस्म का प्रयोजन केवल स्नान और शयन ही है और भी? (२) त्रैकालिक सन्ध्या के मध्य में जो अशौच की प्राप्ति होती है, उसका निवारण विधि क्या है— उत्तर में चौथा सूत्र—

सूत्रार्थ— स्नान के बाद की क्रिया अनुस्नान कही जायेगी। जैसे स्नान करने बाद लघुशङ्कादि करने पर अनुष्ठानी मन्त्र से जल छिड़क कर अपने को शुद्ध करते हैं उसी प्रकार संक्षिप्त भस्म लेपन किया जायेगा।

मन्त्रादिस्नानवत्। अत्र अनु इति पृष्ठकर्मक्रियायां भवति। अनुपानानुगमनवत्। स्नानं तु भस्मद्रव्यसंयोजनमेव। सवनत्रये स्नानस्यान्तरेषु भुक्तोच्छिष्टक्षुतानिष्ठीवित-मूत्रपुरीषोत्सर्गादिनिमित्तकम् अशौचकमभिसमीक्ष्य तदनुस्नानं कर्तव्यम्। किमर्थमिति चेत्?, शौचार्थं लिङ्गाभिव्यक्त्यर्थं च। स्नेयमित्यर्थः।।४।।

आह — किं भस्मैवैकं लिङ्गाभिव्यक्तिकारणम्? भक्तिविवृद्धौ वा अप्रतिषिद्धस्य साधनं किमिति? तदुच्यते—

निर्माल्यम्।।५।।

अत्र भस्मवल्लोकादिप्रसिद्धं निर्माल्यम्। निर् इति निर्मुक्तस्याख्या। माल्यम् इति पुष्पसमूहपर्यायः। तत् परकृतं कारणमूर्त्यारोपितावतारितं निष्परिग्रहं पद्मोत्पलाद्यम्। भक्तिविवृद्ध्यर्थं च तद् धार्यमित्यर्थः।।५।।

भाषानुवाद— यहाँ अनु शब्द बाद के कर्म क्रिया का द्योतक है। जैसे पान के बाद अनुपान और गमन के बाद अनुगमन होता है। स्नान तो भस्मद्रव्य का विधिवत लेपन ही होता है। अनुस्नान कब होता है? उत्तर— त्रैकालिक सन्ध्या के मध्य में आगन्तुक अशुद्धि जैसे भोजन से उच्छिष्ट अन्न मुख में आना, खंखार, मूत्र, मल आदि के करने से होती है, वह अशुद्धि दूर करने के लिये भस्म से अनुस्नान करना चाहिए। किस उद्देश्य से होता है? उत्तर— पवित्रता और अपनी प्रतीक की अभिव्यक्ति के लिये अनुस्नान होता है।।४।।

पुनः कहते हैं— भस्म ही प्रतीक का कारण है? अथवा भक्ति की विवृद्धि के लिये? या निर्मल निष्कलङ्क स्वच्छ साधन होने से? उत्तर में पाँचवा सूत्र कहते हैं —

सूत्रार्थ— मूर्ति पर चढ़ाये गये मालाओं को उतार कर पाशुपतव्रती धारण करता है, यह भी एक चिह्न के रूप में जाना जाता है।

भाष्यानुवाद— यहाँ अर्थात् पाशुपतव्रत धारण में भस्म स्नान के समान ही निर्माल्य धारण भी लोक-परलोक में प्रसिद्ध है। निर उपसर्ग का अर्थ, निर्मुक्त करना कहा जाता है। माल्यम् का अर्थ पुष्पों का ..ूह है। वह दूसरे के द्वारा निर्मित तथा कारण मूर्ति से उतारा हुआ, विशिष्ट कमल का अ... ार्य रूप से धारणीय माला होता है। च से भक्ति की विशेष वृद्धि के लिये धारणाय होता है।।५।।

आह—भस्मनिर्माल्येन तस्य लिङ्गं व्यक्तं भवतीति क्व सिद्धम्? तदुच्यते—इह। यस्मादाह—

लिङ्गधारी।।६।।

अत्र यथान्येषामपि वर्णाश्रमिणामाश्रमप्रतिविभागकराणि लिङ्गानि भवन्ति। तत्र गृहस्थस्य तावद् वासस्त्रयं वैणवी यष्टिः सोदकं च कमण्डलु सोत्तरोष्ठवपनं यज्ञोपवीतादि लिङ्गम्। तथा ब्रह्मचारिणोऽपि दण्डकमण्डलुमौञ्जीमेखलायज्ञोपवीत-कृष्णाजिनादि लिङ्गम्। तथा वानप्रस्थस्यापि करीरचीरवल्कलकूर्चजटाधारणादि लिङ्गम्। तथा भिक्षोस्त्रिदण्डमुण्डकमण्डलुकाषायवासोजलपवित्रस्थलपवित्रादि लिङ्गम्। एवमिहापि यदेतत् पाशुपतयोगाधिकरणं लिङ्गमित्याश्रमप्रतिविभागकरं भस्मस्नानशयनानुस्नाननिर्माल्यैकवासादिनिष्पन्नं स्वशरीरलीनं पाशुपतमिति लौकिकादिज्ञानजनकं तत्। लीयनाल्लिङ्गनाच्च लिङ्गम्। तद् धारयन् लिङ्गधारी भवति। दण्डधारिवदित्यर्थः।।६।।

कहते हैं— भस्म के निर्माल्य से पाशुपतव्रती का चिह्न व्यक्त होता है यह कैसे सिद्ध है? उत्तर— यहाँ जिससे जाना जाता है उसको कहते हैं—

सूत्रार्थ— पशुपति देवता का लिङ्गधारण करने से पाशुपतव्रती जाना जाता है।

भाष्यानुवाद— यहाँ जिस प्रकार दूसरे आश्रमों में अर्थात् गृहस्थाश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रमों में चिह्न विशेष हैं। उसी प्रकार पाशुपत धर्म में भी लिङ्ग है। जैसे गृहस्थाश्रम में कपड़े, लाठी और जल के साथ कमण्डलु, सर्वतोमुण्डन और यज्ञोपवीत आदि चिह्न हैं। उसी प्रकार ब्रह्मचारी भी दण्ड, कमण्डल, मौञ्जी, मेखला यज्ञोपवीत और कृष्णचर्म धारण से जाने जाते हैं। वानप्रस्थी भी पात्र वल्कल मूँछ दाढ़ी जटा धारण के द्वारा जाने जाते हैं। उसी प्रकार संन्यासी भी त्रिदण्ड, मुण्डन, कमण्डलु, गेरुआ वस्त्र, जल नदी के किनारे पवित्र स्थान पर रहना उनके चिह्न हैं। उसी प्रकार यहाँ पाशुपतयोग का आधार, चिह्न जो सबसे पृथक् करता है वह भस्मस्नान, भस्मशयन, भस्मानुस्नान, निर्माल्यादि से सिद्ध अपने शरीर से तादात्म्य स्थापित करने वाले पाशुपत व्रती, लोक आदि में जाने जाते हैं। लिङ्ग का अर्थ है, तादात्म्य और चिह्न। उसको धारण करने वाला लिङ्गधारी होता है। जैसे दण्ड धारण करना।।६।।

आह—अथैते स्नानशयनानुस्नानादयोऽर्थाः क्व कर्तव्याः? कुतो वा निर्माल्यस्यार्जनं कर्तव्यम्? कुत्रस्थेन वा तद् धार्यम्? कृतालिङ्गेन वा क्व वक्तव्यम्? तदुच्यते—आयतने। यस्मादाह—

आयतनवासी।।७।।

अथ (?त्र) भस्मनिर्माल्यवल्लोकादिप्रसिद्धम् आयतनम्। आङ् इति मर्यादायां भवति। यस्मादेते गृहस्थादयः प्रयतनियतशुचिसाध्वाचाराः स्वस्वमर्यादयोपतिष्ठन्ते यजन्ति च शान्तिकपौष्टिकादिभिः क्रियाभिरिति। यजनाच्चायतनम्। तस्मिन् परकृते आयतने वस्तव्यमिति वासी इत्यायतनं परिगृह्णाति। भूप्रदेशे आकाशे वृक्षमूले बहिः प्रादक्षिण्येन वा यत्र क्वचित् प्रतिवसन् शिष्टमर्यादया आयतनवासी भवति। पुलिनवासवद् वसेदित्यर्थः। पुण्यफलवाप्तिश्चास्याशु भवति। उक्तं हि—

ग्रामे वा यदि वारण्ये पुण्यस्थानं हि शूलिनः।
आवासे धर्मतृप्तानां सिद्धिक्षेत्रं हि तत् परम् ।।७।।

कहते हैं— इसके बाद, ये स्नान, शयन, अनुस्नान, निर्माल्य आदि क्रिया कहाँ करनी चाहिए? कहाँ से निर्माल्य मालाओं को लेना चाहिए? किस स्थान पर रहकर धारण करना चाहिए? अथवा बिना चिह्न के कहाँ रहना चाहिए? उत्तर—कहते हैं मन्दिर में। जिससे कहा जाता है—

सूत्रार्थ— पाशुपतव्रती को मंदिर में रहना चाहिए।

भाष्यानुवाद— भस्म, निर्माल्य के समान लोकादि में आयतन की प्रसिद्धि है। आङ् उपसर्ग आदि अपने-अपने आश्रमों में प्रयत्न पूर्वक निश्चित नियमों का पालन पवित्रता और सदाचरण से मर्यादित होकर करते हैं। यज्ञ करते हैं। शान्तिक, पौष्टिक, यज्ञ रूप कर्म करते हैं। इस आयतन के अर्थ में दूसरे के द्वारा बनाये हुए मन्दिर में रहना चाहिए। यह आयतन का अर्थ ग्रहण करते हैं। अथवा— किसी भू खण्ड पर आकाश में, वृक्ष के नीचे या बाहर घूम फिर कर जहाँ भी अपनी शिष्ट मर्यादा का पालन करता हुआ रहता है, वे सभी आयतन वासी होते हैं। नदी के तट पर जैसे रहने से पवित्रता झलकती है वैसे ही रहना चाहिए। ऐसा करने से पुण्य का फल शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। कहा गया है— ग्राम में या वन में, शङ्कर मंदिर में, पुण्यस्थान में, धर्म में तृप्त रहने वालों के लिये उत्कृष्ट सिद्धि क्षेत्र आवास योग्य कहा गया है।।७।।

आह—अस्मिन्नायतने प्रतिवसता काः क्रियाः कर्तव्याः? किं स्नानाद्या उपलेपनाद्या वा? आहोस्विद् दृष्टा अस्यान्या वैशेषिक्यः क्रियाः कर्तव्या? यथा चान्या वैशेषिक्यः क्रियाः कर्तव्याः प्रयोजनं च वक्ष्यामः—

हसितगीतनृत्तडुंडुंकारनमस्कारजप्योपहारेणोपतिष्ठेत्।।८।।

अथ त्रिषु स्नानकालेषु सद्योजातादिसंस्कृतेन भस्मना जपता स्नात्वा जपतैवायतनमभिगन्तव्यम्। अभिगम्य च यत् पूर्वं जपति तत् प्रत्याहारार्थं जप्यम् ॐ ॐ ॐ। हसितादीनि तु कृत्वा यत् पश्चाज्जपति तन्नियमार्थं जप्यम्। तदत्र हसितं नाम यदेतत् कण्ठौष्ठपुटविस्फूर्जनमट्टहासः क्रियते तद्धसितम्। गीतमपि गान्धर्वशास्त्रसमयानभिष्वङ्गेण यत्र भगवतो महेश्वरस्य सभायां गौणद्रव्यजकर्मजानि नामानि चिन्त्यन्ते तत्। संस्कृतं प्राकृतं परकृतमात्मकृतं वा यद् गेयम्। नृत्तमपि नाट्यशास्त्रसमयानभिष्वङ्गेण हस्तपादादीनामुत्क्षेपणमव-

---

कहते हैं— इस मंदिर में रहते हुए कौन सी क्रियायें करनी चाहिए? क्या स्नानादि उपलेपनादि करनी चाहिए? अथवा इसके अतिरिक्त कोई अन्य विशिष्ट क्रिया करनी चाहिए? और जिस प्रकार अन्य विशिष्ट क्रियायें होती हैं उसका प्रयोजन कहते हैं—

सूत्रार्थ— पाशुपतव्रती को भस्मस्नानादि के बाद लोक में आसक्ति न होवे इसके लिये वह हास, गीत, नृत्य, ध्वनि, नमस्कार, जप आदि को समर्पित करते हुए रहे।

भाष्यानुवाद— अथ तीनों कालों के स्नान में सद्योजातादि मन्त्र से संस्कृत होकर, भस्म से, जप से स्नान से युक्त होकर मन्त्र जप करते हुए मंदिर में आना चाहिए। वहाँ पहुँच कर जो पहले जप हुआ था उसकी सिद्धि के लिये ॐ का जप करे। हसन आदि क्रिया के बाद जो जप होता है वह उसकी सिद्धि के लिए होता है। हसन् क्रिया, कण्ठ और दोनों ओष्ठों का फड़कना ही अट्टहास है। वही हसित है। गीत भी गान्धर्व शास्त्र के समान नृत्यादि का अङ्ग होते हुए होना चाहिए जहाँ भगवान् महेश्वर का मन्दिर हो और उनके गुण द्रव्य कर्म से उत्पन्न नाम हो उसका चिन्तन या गीत होना चाहिए। गीत संस्कृत, प्राकृत, दूसरे के द्वारा रचित या अपनी कविता हो वही गेय है। नृत्य भी नाट्यशास्त्र के नियम से युक्त ताल-लयादि को नियन्त्रित

क्षेपणामाकुञ्चनं प्रसारणं चलनमनवस्थानम्। नियमकाले नियमार्थं गेयसहकृतं नृत्तं प्रयोक्तव्यम्। डुंडुंकारो नाम य एष जिह्वाग्रतालुसंयोगान्निष्पद्यते पुण्यो वृषनादसदृशः सः। डुंडुंकारणं डुंडुंकारः। कारशब्दो डुंडुंकारस्योपहाराङ्गावधारणार्थः। नम इति। नाप्योष्ठीयं कर्तव्यं नोपांशु। मानसं तु नमस्करणं नमस्कारः। कारशब्दो वाचिकोपांशुपतिषेधार्थं मानसोपहाराङ्गवधारणार्थं चेत्यर्थः। जप्यं नाम सद्योजातादिष्वक्षरपङ्क्त्यां मनसा भावस्य सञ्चारविचारः, तज्जप्यम्। उपेति विशेषणे क्रियोपसंहारे समस्तत्त्वे च। उपहारणाद् उपहारो व्रतं नियम इत्यर्थः। उपह्रियते निवेद्यते नियोगमात्रकृर्तृत्वात् साधकेनेत्युपहारः। (उपतिष्ठेद्)। अत्रोपेत्यभ्युपगमे। अभ्युगतेन विधिस्थेन प्रणतविनतेनेत्यर्थः। तिष्ठेदित्यैकाग्र्यं प्रत्याहारा भावस्थितिमेवाधिकुरुते। सर्वकरणानां वृत्तौ प्रत्याहारं कृत्वा कायिक-वाचिक-मानसिकाभिः क्रियाभिरुपहारं कृत्वा भृत्यवदुपहारेण स्थेयम् : अपसव्यं च प्रदक्षिणमुपरिष्टाद् वक्ष्यामः॥८॥

आह—कस्य निर्माल्यं धार्यम्? कस्य वा आयतने वस्तव्यम्? क्व चोपस्थेयमिति? तदुच्यते—

करते हुए हस्तपादादि का प्रसारण, आकुञ्चन आदि गीत से मेल करते हुए होना चाहिए। हुंहुंकार का अर्थ है— जिह्वा और तालु के संयोग से जो पवित्र ध्वनि, वृषभ, ध्वनि के समान होती है वह हुंहुंकार है। 'कार' शब्द का अर्थ समर्पण का अङ्ग है। 'नमः' से तार्त्पय है— न ओष्ठ चालित न उपांशु होना चाहिए बल्कि हृदय का नमस्कार ही यहाँ नमस्कार है। 'जप्य' का अर्थ है— सद्योजातादि मन्त्रों के अक्षर पंक्तियों के भाव का सञ्चार ही जप है। उप शब्द विशेषण के रूप में हार शब्द का है। तथा क्रिया समष्टित्व और समर्पण का भाव है। उपहार को व्रत या नियम कहते हैं। अर्थात् जो साधक समर्पण बुद्धि से नियम पूर्वक सभी क्रियाओं को समर्पित कर देता है, वही उपहार है। या माहेश्वर की सन्निधि में रहे। सामीप्य प्राप्त कर स्वशास्त्र विधि से नम्रीभूत होकर उपासना करे। तिष्ठेत् का अर्थ करते हैं कि मन को एकाग्र कर तादात्म्य स्थापित करे। सभी साधनों की वृत्ति में संक्षिप्त होता हुआ कायिक, वाचिक, मानसिक क्रियाओं को समर्पित कर दास के समान नम्र होकर रहे। अपसव्य क्या है यह आगे कहेंगे॥८॥

कहते हैं— किसका निर्माल्य फूल धारण करना चाहिए? किसके मंदिर में रहना चाहिए? किसके समीप में रहना चाहिए? उत्तर में कहते हैं—

महादेवस्य दक्षिणामूर्तेः।।९।।

अत्र महान् इत्यभ्यधिकत्वे। सर्वक्षेत्रज्ञानामभ्यधिक उत्कृष्टो व्यतिरिक्तश्च भवतीत्यभ्यधिकः। ऋषिर्विप्रः, अधिपतिः (अ.५, सू.२७ तथा ४४)। सदाशिवत्व-मभ्यधिकत्वं च प्रवक्ष्यामः। अत्र देव इति दिवु क्रीडायाम्, क्रीडाधर्मित्वात्, अग्न्युष्णत्ववत्। क्रीडावानेव भगवान् विद्याकलापशुसंज्ञकं त्रिविधमपि कार्य-मुत्पादयति, अनुगृह्णाति, तिरोभावयति च। उक्तं हि—

अप्रचोद्यः प्रचोद्यैस्तु कामकारकरः प्रभुः।
क्रीडते भगवान् लोकैर्बालः क्रीडनकैरिव।।

देवस्य इति षष्ठी। स्वस्वामिभावः सम्बन्धः। परिग्रहार्थमेवाधिकुरुते। अत्र दक्षिणेति दिक्प्रतिविभागे भवति। आदित्यो दिशो विभजति। दिशश्च मूर्तिं विभजन्ति। मूर्तिर्नाम यदेतद् देवस्य दक्षिणे पार्श्वे स्थितेनोदङ्मुखेनोपान्ते यद् रूपमुपलभ्यते वृषध्वजशूलपाणिनन्दिमहाकालोर्ध्वलिङ्गादिलक्षणम् ; यद्वा लौकिकाः प्रतिपद्यन्ते महादेवस्यायतनमिति तत्रोपस्थेयम्। दक्षिणामूर्तिग्रहणात् पूर्वोत्तरपश्चिमानां मूर्तीनां प्रतिषेधः। मूर्तिनियोगाच्च मूर्त्यभावे नियमलोपः। भैक्ष्यानुपयोगान्निर्घाताना-

---

सूत्रार्थ— दक्षिणामूर्ति महादेव के समीप रहना चाहिये, उन्हीं का निर्माल्य धारण करना चाहिये और उन्हीं के मंदिर में रहना चाहिए।

भाष्यानुवाद— यहाँ महान् का अर्थ सर्वातिशय अधिक है, अधिक से तात्पर्य है, सभी क्षेत्रज्ञों में अधिक, उत्कृष्ट तथा उससे भी अलग होता है। जैसे ऋषि, विप्रः, अधिपतिः इत्यादि सूत्र में जो अधिक की व्याख्या की गयी है, वही अधिक जानना चाहिए। सदा शिवत्व जिसमें विद्यमान हो इसके सम्बन्ध में आगे कहेंगे। देव से तात्पर्य है दिवु क्रीडायां धातु से निष्पन्न अर्थात् ऐसा देव जो केवल क्रीड़ा वाले भगवान् ही विद्या, कला, पशु संज्ञक त्रिविध कार्यों को उत्पन्न करता है, अनुग्रह करता है तथा अपने में तिरोधान करता है कहा गया है— स्वतन्त्र, प्रेरणाओं से युक्त होकर सभी कामनाओं को पूर्ण कराने वाला सर्वत्र सत्ता वाला संसार रूपी खेल से बालक की तरह क्रीड़ा करता है। देव शब्द में जो षष्ठी है वह स्व स्वामी भाव का सम्बन्ध है। तादात्म्य के लिये ही है। यहाँ दक्षिण शब्द दिशा का विभाजन है। सूर्य ही

मुक्तत्वाच्चेत्यर्थः। विधिरित्युपदिष्टानामर्थानां भस्मस्नानोपदेशादप्सु स्नानादीनां प्रतिषेधः। भस्मशयनोपदेशाद् विषयशयनादीनां प्रतिषेधः। आयतने वसत्यर्थोपदेशाच्छेषवसत्यर्थप्रतिषेधः। हसिताद्युपदेशाच्छेषोपहारप्रतिषेधः। निर्माल्योपदेशात् प्रत्यग्राणां माल्यानां प्रतिषेधः। भस्मनिर्माल्यलिङ्गोपदेशाच्छेषलिङ्गप्रतिषेधः। महादेवग्रहणादन्यदेवताभक्तिप्रतिषेधः। दक्षिणामूर्तिग्रहणात् पूर्वोत्तरपश्चिमानां मूर्तीनां प्रतिषेधः। एवं (दक्षिणामूर्तिरित्युक्ते?) अस्य ब्राह्मणस्य पूर्वप्रसिद्धा नियमा नियमैः प्रतिषिध्यन्ते, कीलकप्रतिकीलकवत्, पुराणोदकनवोदकवच्चेति।।

अत्रेदं भस्मप्रकरणं समाप्तम्।

दिशाओं को विभक्त करता है। दिशायें ही मूर्ति को अलग करती हैं। दक्षिणा मूर्ति वह है जिसका दक्षिण दिशा में स्वरूप हो उसकी उपासना उत्तराभिमुख होकर किया जाय तथा वृषध्वज, शूलपाणि, नन्दि, महाकाल का उर्ध्व लिङ्गादि से युक्त हो वहाँ रहना चाहिए अथवा लोक के द्वारा निर्मित महादेव मंदिर में रहना चाहिए। दक्षिणा मूर्ति से अन्य दिशाओं की मूर्ति का निषेध किया गया है। मूर्ति में ही सम्बन्ध होना चाहिए। मूर्ति के अभाव में नियम का लोप होता है। भिक्षाओं का उपयोग और हिंसादि पाप का निवारण नहीं होगा। जिस प्रकार नियम के उपदेश में भस्मादि स्नान ही विहित है, जल स्नान का निषेध, भस्म शयन से सांसारिक विषय का निषेध है उसी प्रकार यहाँ दक्षिणामूर्ति से और उनकं मंदिर में रहना चाहिए। मंदिर में केवल उपदेश प्राप्त करने के उद्देश्य से ही निवास करना चाहिए अन्य कार्य की सिद्धि के लिये नहीं। अट्टहास, नृत्त आदि क्रियाओं का समर्पण होना चाहिए न कि अन्य उपहार। निर्माल्य के उपदेश से तत्काल विकसित फूल के मालाओं का निषेध है। दक्षिणामूर्ति का ही निर्माल्य ग्रहणीय है न कि और मूर्तियों का। महादेव भगवान् के कथन से अन्य देवता की भक्ति से निषेध किया गया है। दक्षिणामूर्ति कथन से पूर्वपश्चिम मूर्तियों का निषेध है। इस अधिकारी साधक के पहले जो नियम थे उन सभी नियमों का इस पाशुपतव्रत में निषेध है। जैसे एक किलक के बाद दूसरा किलक, पुराने जल के बाद नया जल ग्रहणीय होता है।

यहाँ तक भस्म प्रकरण समाप्त हुआ।

आह—निमयमाभिधानादेव हि संशयः। यत्र यमास्तत्र नियमाः। मिथुनमेवैतद् यस्मात्। अतो न संशयः। यमा अस्मिन् तन्त्रे के चिन्त्यन्ते? उच्यते—प्रसिद्धा यमा अहिंसादय इति। अत्र त्वन्येषाम्—

अहिंसा ब्रह्मचर्यं च सत्यासंव्यवहारकौ।
अस्तेयमिति पञ्चैते यमा वै संप्रकीर्तिताः।।

अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम्।
अप्रमादश्च पञ्चैते नियमाः संप्रकीर्तिताः।।

तद्वदस्माकं न भवति। कस्मात्? नियमनिवृत्तिदर्शनात्। अस्मिन् हि तन्त्रे कालान्तरिता नियमा (नि) वर्तन्ते। (कथम्?) आदेहपाताद् यमानां न निवृत्तिरस्ति। कस्मात्? हिंसादिदोषात्। तस्मादहिंसाद्या दश सर्वे ते यमाः प्रत्यवगन्तव्याः।

आह—यद्येवं नियमनिवृत्तौ भ्रष्टनियमस्य पतनप्रसङ्गः। उच्यते—अवसित-प्रयोजनत्वान्न पतनप्रसङ्गः। किञ्च, यमानां प्राधान्यात्। उक्तं हि—

कहते हैं— पाशुपतव्रत के नियम विधान में संशय जानकर सभी नियम यम ही जाने जाते हैं। जब दोनों एक हो जायेंगे तो संशय की जगह नहीं होगी। इस शास्त्र में यम किसे कहते हैं? उत्तर—अहिंसादि यम हैं। दूसरे के सिद्धान्त में भी कहे गये हैं— अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, असंव्यवहार, अस्तेय ये पाँच यम हैं। अक्रोध, गुरुशुश्रूषा, शौच, आहार लाघव, अप्रमाद ये पाँच नियम कहे गये हैं।

इनके अनुसार यहाँ यम नियम नहीं हैं। कैसे? नियम में कार्य हो जाने पर निवृत्ति देखी गयी है। इस तन्त्र में नियम कालान्तरित है। कैसे? जब तक शरीर रहेगा, तब तक यम की निवृत्ति नहीं होती। कैसे? हिंसादि दोष होने की आशङ्का से। अतः सभी नियम यम ही हैं। इस प्रकार दस यम जानना चाहिये।

कहते हैं— यदि इस प्रकार नियम की समाप्ति होगी तो नियम से च्युत होने की संभावना होती है? कहते हैं— किसी खास प्रयोजन में न रहने के कारण पतन का भय नहीं आता। क्योंकि यमों का प्राधान्य है। क्योंकि कहा गया है—

पतति नियमवान् यमेष्वसक्तो
न तु यमवान् नियमालसोऽवसीदेत्।
इति यमनियमौ समीक्ष्य बुद्ध्या
यमबहुलेष्वतिसन्दधीत बुद्धिम्।।

तस्मान्न पतनप्रसङ्गः। अतः प्रसिद्धा यमा अहिंसादयः। आह—किं प्रसिद्धा इति कृत्वा गृह्यन्ते? आहोस्विच्छक्यमेतेषां यमानां सर्वज्ञोक्तशास्त्रतः सद्भावो वक्तुम्? उच्यते—यद्यन्यत्र प्रसिद्धा इति क्व? तत्र चिन्त्यते। कस्मात्? कृतोपदेशात्। यस्मादुक्तं सूत्रतःकृतम् (अ.४, सू.७) इत्यत्र। कृताप्रतिषेधादकृत-प्रतिषेधाच्च कृत्स्ना हिंसा तन्त्रे प्रतिषिद्धा द्रष्टव्येत्यर्थः। सा च हिंसा त्रिविधा भवति— दुःखोत्पादनम्, अण्डभेदः, प्राणनिर्मोचनमिति। तत्र दुःखोत्पादनं नाम क्रोशनतर्जनताडननिर्भर्त्सनादिबहुभेदोऽपि चतुर्विधस्यापि भूतग्रामस्य मनोवाक्कायकर्मभिरभिद्रोहो न कर्तव्यः। एवमहिसा भवत्येतेषां जन्तूनाम्।

यम में आसक्त न होकर नियम में रहने वाला च्युत होता है, यमवान व्यक्ति नियम से विरत होकर भी कभी दुःखी नहीं होता। अतः बुद्धि से यमनियम को जानकर यम बहुल में बुद्धि को स्थिर करे। इससे पतन का अवसर नहीं होगा। अतः सिद्ध हुआ कि अहिंसा आदि सभी यम ही हैं।

कहते हैं— यमों की प्रसिद्धि के कारण ही इस तन्त्र में यम ग्राह्य है अथवा सभी शास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित सद्भाव है? उत्तर देते हैं— यदि अन्यत्र प्रसिद्ध है तो कहाँ? इसके सम्बन्ध में विचार करते हैं। कैसे? कृत उपदेश से। सूत्र के द्वारा कहा गया है– इस तन्त्र में कृत का नियमन अकृत का निषेध सम्पूर्ण हिंसा का प्रतिषेध देखना चाहिए। वह हिंसा तीन प्रकार की होती है। दुःख उत्पन्न करने वाला, अण्डभेद, प्राणनिर्मोचन। दुःख उत्पन्न करने वाले कौन? द्रोह, डाँटना, पीटना, तिरस्कार आदि बहुत भेद वाली हिंसा कही जायेगी। चार प्रकार के जीव समूहों को मनसा, वचसा, कर्मणा दुःख नहीं देना ही अहिंसा है। अण्डभेद का तात्पर्य है— किसी प्राणी को दाह, ताप धुओं से विचलित करना, अग्नि के समीप लाना, अग्नि लगाना, धुआँ की धौंकनी करना, ये सभी अण्डभेद हिंसा है। अतः ऐसा नहीं करना चाहिए। प्राण निर्मोचन का अर्थ है— वस्त्र को बार बार साफ करना,

(अण्डभेदो नाम)—दाहतापधूमोपरोधपरिहारार्थमग्निकरणादानसम्प्रदानप्रतिनिधान-सन्धुक्षणादीनि न कुर्यात्, नैव कारयेत्। (तथा प्राणनिर्मोचनं नाम)-वस्त्रशिक्य-भस्माधारभैक्ष्यभाजनादीनि मुहुर्मुहुर्विवेचयितव्यानि। कस्मात्? प्राणिनो हि सूक्ष्मचारिणः क्षिप्रमेव विलयं प्रयान्ति। तस्मात् सूक्ष्मैरङ्गपवित्रैः पक्ष्मचामरताल-वृन्तैर्वस्त्रान्तरैर्वा मुहुर्मुहुर्विग्रन्थोदकेन वा। हरितेषु तृणेषु न संसिक्ते भूप्रदेशे भवति। वसन्तग्रीष्महैमन्तिकान् अष्टौ मासान् भिक्षुर्विचक्रमेत्। दयार्थं सर्वभूतानामेकत्र वर्षासु वसेत्।

वर्षाभेदं तु यः कुर्याद् ब्राह्मणो योगदीक्षितः।
प्राजापत्येन कृच्छ्रेण ततः पापात् प्रमुच्यते।।

शरीरं दृश्यते यत्र भयं कस्याञ्चिदापदि।
दुर्दिने राष्ट्रभङ्गे वा वर्षास्वपि व्यतिक्रमेत्।।

नासूर्यं च व्रजेन्मार्गं नादृष्टां भूमिमाक्रमेत्।
परिपूताभिरद्भिश्च नित्यं कुर्यात् प्रयोजनम्।।

भोजनाधार, भस्माधार, भिक्षा पात्र को बार बार साफ करना ही प्राण निर्मोचन है। कैसे— लघु प्राणि उक्त क्रियाओं से नष्ट होते हैं। इसलिये साधक अपने सुख के लिये या अपने को शुद्ध रखने के लिये जो पाँख, चामर, ताल पंखा, वस्त्रादि के प्रयोग से सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है अतः ऐसा न करें। हरित तृणों में सूखे भू प्रदेश में रहने वाले जीवों की हिंसा होती है, अतः ध्यान देने योग्य है। भिक्षुक को केवल चार ऋतुओं अर्थात् आठ मासों में विचरण करना चाहिए। जीवों पर दया करने के लिए वर्षादि ऋतु में एक जगह वास करना चाहिए।

संन्यासियों के लिये यम में अहिंसा क्या है, श्लोकों द्वारा बताते हैं— योग दीक्षित ब्राह्मण, वर्षा ऋतु में इधर-उधर जाता है तो उसके पाप की निवृत्ति के लिये कृच्छ्र प्राजापत्यव्रत करना चाहिए।

किसी विशेष आपत्ति आने पर या शरीर पर विशेष भय उपस्थित होने पर, राष्ट्र विप्लव में दुर्दिन होने पर भिक्षुक को वर्षा ऋतु में भी यात्रा करनी चाहिए।

संवत्सरकृतं पापं मत्स्यबन्धस्य यद् भवेत्।
एकाहात् तदवाप्नोति अपूतजलसंग्रही।।

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत्।।

हिंसकास्तु निवर्तन्ते ब्रह्मत्वमपि ये गताः।
तस्मादपूतमुदकं नोपयुञ्जीत योगवित्।।

अथ नष्टे पवित्रे च गृह्णीयात् त्रिषु वै सकृत्।
नदीप्रस्रवणे चैव गृहस्थेषु च साधुषु।।

काण्डानि यानि गृह्यन्ते कन्दाश्चैव प्ररोहिणः।
बीजानि चैव पक्वानि सर्वाण्येतानि वर्जयेत्।।

यदा न कुर्याद् द्रोहं च सर्वभूतेषु दारुणम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म संपद्यते तदा।।

यो न हिंसति भूतानि स्थावराणि चराणि च।
आत्मानमिव सर्वाणि सोऽमृतत्वाय कल्पते।।

रात्रि में संन्यासी को नहीं चलना चाहिए। पवित्र जल को ही पीने में प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि अपवित्र जल के प्रयोग से वर्ष पर्यन्त मछली की हिंसा करने से जो पाप होता है वह एक दिन में प्राप्त होता है।

दृष्टि से पवित्र, भूमि पर पैर रखना, वस्त्र से छानकर जल पीना, सत्य युक्त बाणी का प्रयोग करना, मन से पवित्र आचरण करना चाहिए। ब्रह्मत्व को प्राप्त योगी भी हिंसा से पुनः लौट जाते हैं। इसलिये योगवेत्ता अपवित्र जल का सेवन न करें। तीनों संध्याओं में एकबार भी पवित्रता नष्ट हो जाती है तो संन्यासी को नदीतट का सेवन, गृहस्थों की बीच उपदेश तथा साधुओं के समीप में रहना चाहिए। पाशुपतव्रती को हिंसा से बचने के लिये अपने आप होने वाले कन्द मूल और पक्के फलों को भोजन में नहीं लेना चाहिए।

सभी जीवों पर कठोर द्रोह कर्मणा मनसा वाचा नहीं करता वह ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है। चराचर प्राणियों की जो हिंसा नहीं करता अपनी आत्मा के समान प्रिय मानता है वह अमरत्व अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है।

न यज्ञदानैर्न तपोग्निहोत्रैर्न ब्रह्मचर्यैर्न च सत्यवाक्यैः।
न वेदविद्याध्ययनैर्व्रतैर्वा प्राप्यं फलं यद्यदहिंसकस्य।।

यो दद्यात् काञ्चनं मेरुं कृत्स्नां चैव वसुन्धराम्।
समुद्रं रत्नपूर्णं वा न तुल्यं स्यादहिंसया।।

इत्येवमहिंसा तन्त्रे सिद्धा।

२. तथा ब्रह्मचर्यं च तन्त्रे सिद्धम्। कस्मात्? स्त्रीप्रतिषेधात् (अ.१, सू.१३), इन्द्रियजयोपदेशाच्च (अ.५, सू.७)। त्रयोदशकस्य करणस्यानुत्सर्गो ब्रह्मचर्यमित्युक्तम्। विशेषेण तु जिह्वोपस्थयोरिति। अत्राह—विशेषग्रहणं किम्प्रयोजनम्? त्रयोदशकस्य करणस्यानुत्सर्गो ब्रह्मचर्यमित्युक्त्वा जिह्वोपस्थयोर्विशेषग्रहणं किम्प्रयोजनं क्रियते? उच्यते— प्रधानत्वात्। तन्मूलत्वादितरप्रवृत्तेः। तन्मूलाहीतरेषां प्रवृत्तिर्भवति। कथम्? जिह्वेन्द्रियविषये उपस्थेन्द्रियविषये वा सक्तस्त्रयोदशभिः प्रवर्तते। अत एतदुक्तं विशेषेण (तु) जिह्वोपस्थयोरिति।

जिह्वोपस्थनिमित्तं हि पतनं सर्वदेहिनाम्।
तस्मादमित्रवत् पश्येज्जिह्वोपस्थं हि मानवः।।

अहिंसा व्रत से जो फल प्राप्त है वह फल यज्ञ, दान, तप, अग्नि होत्री, ब्रह्मचर्य, सत्यवाक्य, वेदाध्ययन से नहीं होता।

स्वर्ण पर्वत के दान से, धन युक्त पृथिवी के दान से, रत्नपूर्ण समुद्र के दान से जो फल नहीं होता वह फल अहिंसा व्रत से प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार अहिंसा शास्त्र में प्रसिद्धि है।

२. ब्रह्मचर्य भी यम है, तन्त्र में प्रसिद्ध है— कैसे— स्त्रियों के संग से दूर रहना, इन्द्रिय जयी होना, इन्द्रियों के सहायक जो तेरह (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च-कर्मेन्द्रिय, तीन अन्तःकरण) हैं उनकी वृत्तियों का त्याग ही ब्रह्मचर्य का स्वरूप है। लिङ्ग पर विजय प्राप्त करना ब्रह्मचर्य है। यहाँ कहते हैं— 'विशेष ग्रहण' का प्रयोजन क्या है? जबकि तेरह की वृत्तियों का त्याग ब्रह्मचर्य नाम से कहा गया तो जिह्वा और उपस्थ शब्द अलग से कथन का क्या प्रयोजन है? कहते हैं—सभी इन्द्रियों में जिह्वा और उपस्थ प्रधान है। शेष इन्द्रियों की प्रवृत्ति इन्हीं के द्वारा होती है। अतः इन्द्रियों की प्रवृत्ति में ये मूलाधार है। कैसे? कहते हैं— जो व्यक्ति जिह्वा और लिङ्ग की वृत्ति में आसक्त होता है, वह तेरहों करणों में आसक्त हो जाता है। इसलिये इन्द्रियों में जिह्वा और उपस्थ का नाम लिया।

अथवा मनःपूर्वकत्वात् सर्ववृत्तीनां तन्निग्रहात् सर्ववृत्तीनां निग्रहः कृतो भवति। उक्तं हि—

मनो हि मूलं सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तने।
शुभाशुभास्ववस्थासु तच्च मे सुव्यवस्थितम्।।

पुनरप्युक्तम्—

इन्द्रियैः प्रसृतैर्दुःखमिन्द्रियैर्निभृतैः सुखम्।
तस्मादिन्द्रियरूपेभ्यो यच्छेदात्मानमात्मना।।

इन्द्रियाणि हि तत् सर्वं यत् स्वर्गनरकावुभौ।
निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च।।

अतो जन्म अतो दुःखमतो मृत्युभयं तथा।
इन्द्रियाणां प्रसङ्गाद् वै तस्मादेतान् जयामहे।।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति।।

रज्जुरेषा निबन्धाय या स्त्रीषु रमते मतिः।
छित्त्वैनां कृतिनो यान्ति नैनां त्यजति दुष्कृती।।

सभी देहधारियों का पतन इन्हीं दो इन्द्रियों से होता है इसलिये दोनों को शत्रु जानना चाहिए, अब उसके निग्रह से सभी इन्द्रियों का निग्रह हो जाता, कहा गया है— सभी इन्द्रियों के व्यवहार में मन ही प्रधान होता है, अतः शुभाशुभ कर्मों में मन को सुव्यवस्थित करना चाहिए।

पुनः कहा गया है— इन्द्रियों के विस्तार से दुःख होता है और संकोच से सुख होता है। इसलिये अपने द्वारा इन्द्रिय के विषयों से अपनी रक्षा करनी चाहिए।

स्वर्ग और नरक इन्द्रियाँ ही हैं। निगृहीत इन्द्रियाँ स्वर्ग हैं। इसके विपरीत नरक हैं। इसीसे अर्थात् इन्द्रियों के सहयोग से ही जन्म, मृत्यु, दुःख और भय होते हैं, अतः इन पर विजय प्राप्त करना चाहिये।

इन्द्रियों की वृत्तियों से ही निस्सन्देह दोष की प्राप्ति होती है। इन पर विजय प्राप्त करने से सिद्धि प्राप्त होती है।

जिसकी बुद्धि स्त्रियों में आसक्त है वह रस्सी से बँधा हुआ है, जो रस्सी को काट देता है वह पुण्यात्मा होता है जो बँधा रहता है वह पापात्मा होता है।

स्त्रीहेतोर्निर्गमो ग्रामात् स्त्रीकृते क्रयविक्रयः।
स्त्रियो मूलमनर्थानां नैनां प्राज्ञः परिष्वजेत्।।

विषमग्निरसिर्बाणः स्फुटं कृत्वा(?त्या)विभीषिका।
माया रूपवती ह्येषा यां स्त्रियं मन्यते जनः।।

अमेध्यपूर्णे कृमिजन्तुसंकुले
स्वभावदुर्गन्ध अशौच अध्रुवे।
कलेवरे मूत्रपुरीषभाजने
रमन्ति मूर्खा न रमन्ति पण्डिताः।।

माद्यतीति स्त्रियं दृष्ट्वा सुरां पीत्वा न माद्यति।
तस्माद् दृष्टिमदां नारीं दूरतः परिवर्जयेत्।।

अधोमुखेनादंष्ट्रेण जघनान्तरचारिणा।
सर्वशास्त्राचिकित्स्येन जगद् दष्टं भगाहिना।।

लोमशेन कुरूपेण दुर्गन्धेन कुचर्मणा।
हरिणीपदमात्रेण सर्वमन्धीकृतं जगत्।।

स्त्री के लिये ग्राम छोड़ता है और क्रय विक्रय करता है, तो अवश्य ही स्त्री अनर्थ का कारण है, अतः बुद्धिमान् मनुष्य स्त्रियों का संग न करें।

क्षणभंगुररूपवाली स्त्रियों का जो संग करता है वह निश्चय ही भय देने वाले विष, अग्नि, खड्ग और बाण का सङ्ग करता है।

अपवित्रता से पूर्ण, कीटाणुसमूह से युक्त, स्वभाव से दुर्गन्धियुक्त, अपवित्र, नश्वर, मूत्र, पुरीष से युक्त शरीर में मूर्ख लोग ही रमण करते हैं, ज्ञानी जन नहीं।

स्त्रियों को देखने जो नशा होती है वह मादक पेय पीने से नहीं होती। इसलिये स्त्रियों को दृष्टि से दूर रखना चाहिये।

जाँघों के बीच में विद्यमान दन्तविहीन नीचे का मुख जो भगरूप सर्प है, उसके द्वारा डँसा गया जगत् किसी वैद्यशास्त्र के द्वारा निरोग नहीं किया जा सकता। बहुलोम से युक्त, कुरूप, दुर्गन्ध, काली कलूटा बौनी के द्वारा सारा जगत् ही अन्ध हो जाता है।

दीप्ताङ्गारसमा नारी घृतकुम्भसमः पुमान्।
ये प्रसक्ता विलीनास्ते ये स्थितास्ते दिवं गताः।।

यथाग्निरेधस्संवृद्धो महाज्योतिः प्रकाशते।
तथेन्द्रियनिरोधेन महाज्योतिः प्रकाशते।।

ब्रह्मचर्ये स्थितं धैर्यं ब्रह्मचर्ये स्थितं तपः।
ये स्थिता ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणा दिवि ते स्थिताः।।

क्षीरं पिबन्ति मधु ते पिबन्ति
सोमं पिबन्त्यमृतेन सार्धम्।
मृत्योः पुरस्तादमरा भवन्ति
ये ब्राह्मणा ब्रह्मचर्यं चरन्ति।।

इत्येवं ब्रह्मचर्यं तन्त्रे सिद्धम्।

३. तथा सत्यं तन्त्रे सिद्धम्। तच्च द्विविधम्। तद्यथा—परिदृष्टार्थभूतार्थं वचनं वाक्सत्यं चेति। तत्र परिदृष्टार्थभूतार्थं वचनं सत्यं तन्त्रे सिद्धम्। कस्मात्? व्याख्यानोपदेशात् (अ.१, सू.१), विद्वदुपदेशाच्च (अ.३, सू.१९)। तथा वाक्-

---

स्त्री प्रज्वलित अग्नि के समान होती है। पुरुष घड़े की घी के समान होता है। अतः जो सटे वे गये जो दूर रहे वे मुक्त हो गये।

जिस प्रकार इन्धन और अग्नि के संयोग से महाप्रकाश होता है उसी प्रकार इन्द्रिय निग्रह से महाप्रकाश होता है।

ब्रह्मचर्य में ही धैर्य रहता है, ब्रह्मचर्य में ही तपस्या रहती है, ब्रह्मचर्य युक्त जो जीवन व्यतीत करता है वह निश्चय ही उत्तम लोक को प्राप्त करता है।

जो साधक ब्रह्मचारी होता है वही दूध पीता है, मधु पीता है, अमृत के साथ सोमरस पीता है तथा मरने के पहले ही अमर हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य को तन्त्र में सिद्ध किया।

३. उसी प्रकार सत्य भी शास्त्र में प्रसिद्ध है— वह सत्य दो प्रकार का है— (१) परिदृष्टार्थ भूतार्थ वचन और वाक् सत्य वचन। परिदृष्टार्थ भूतार्थवचन और सत्य वचन शास्त्र में सिद्ध है। कैसे सिद्ध है? कहते हैं— पुरुष देश में विद्वानों के उपदेश से। वाक् सत्य भी तन्त्र में सिद्ध है। कैसे

सत्यमपि तन्त्रे सिद्धम्। कस्मात्? वाग्विशुद्ध्युपदेशात् (अ.५, सू.२७)। इह स्वशास्त्रोक्तं भाषतोऽनृतमपि सत्यमापद्यते। कस्मात्? शुद्धिवृद्धिकरत्वात्। यस्मादाह—

स्वर्गमनृतेन गच्छति दयार्थमुक्तेन सर्वभूतानाम्।
सत्येनापि न गच्छति सतां विनाशार्थमुक्तेन।।

पुनस्त्वाह—

गोब्राह्मणार्थेऽवचनं हिनस्ति (?)
न स्त्रीषु राजन्! न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे
पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ।।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः।।

यथा हि तेषामेव भूतानां हितमनृतमपि सत्यमापद्यते, एवमिहाप्यस्माकं स्वशास्त्रोक्तं भाषतामनृतमपि सत्यमापद्यते। कस्मात्? विधिविहितत्वात्। इत्येतदपि तन्त्रे सिद्धम्।

पाँचवें अध्याय के २६वें सूत्र की व्याख्या से। इस शास्त्र में अपने शास्त्र के द्वारा उक्त असत्य भी सत्य माना जाता है। कैसे? शुद्धि में विशेषता लाने से। जिसे कहते हैं—

यदि सभी प्राणियों के हित के लिये दयावश असत्य का सहारा लेता है तो भी वह स्वर्ग का ही भागी बनता है। सत्य के द्वारा सज्जनों का विनाश होता है तो वह नरक का ही भागी बनता है।

पुनः कहते हैं— हे राजन् पाँच स्थानों पर बोले गये असत्य पाप का कारण नहीं होता। (१) गौ ब्राह्मण के लिये बोला गया असत्य, स्त्री के स्त्रीत्व की रक्षा में, विवाह प्रसङ्ग में प्राणनाश में, सर्वधन के अपहरण में बोला गया असत्य नष्ट नहीं करता। सत्य बोलना चाहिए। प्रिय बोलना चाहिए। अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिए। प्रिय असत्य नहीं बोलना चाहिये यह सनातन धर्म है।

जिस प्रकार दूसरे शास्त्र में भी असत्य, प्राणियों के हित के लिये सत्य माना गया है वैसे इस शास्त्र में भी कहा हुआ असत्य सत्यरूप हो जाता है। कैसे? विधि कथन से। यह भी तन्त्र में सिद्ध है।

४. तथा असंव्यवहारस्तन्त्रे सिद्धः। कस्मात्? अव्यक्त— प्रेत (अ.३, सू.१ तथा २)— उन्मत्त मूढोपदेशात् (अ.४, सू.६ तथा ८)। नेह लोके अव्यक्तप्रेतोन्मत्तमूढाः संव्यवहारं कुर्वन्ति यस्माद्, अतोऽत्रासंव्यवहारस्तन्त्रे सिद्धः। संव्यवहारश्च पुनर्द्विविधः। तद्यथा—क्रयविक्रयसंव्यवहारो राजकुलसंव्यवहारश्चेति। अत एकतरेणाप्यत्राधिकृतस्यात्मपीडा परपीडा चावर्जनीये भवतः। तत्र यद्यात्मानं पीडयति, तेनेहैव लोके दुःखी भवति। स्यात् परं पीडयति, तत्राप्यस्याधर्मो दुःखादिफलः प्रचीयते। तेनामुष्मिन् लोके तीव्रं दुःखमनुभवति। तस्मादुभयथापि संव्यवहारो वर्जनीयः। भवति ह्यपि—

यश्च पापं प्रकुरुते यश्च पापं प्रशंसति।
सहायश्चोपभोक्ता च सर्वे ते समकर्मिणः।।

उक्तं हि—

विक्रये तु महान् दोषो विक्रयात् पतते यतः।
एष एव क्रये दोषस्तस्मात् तं परिवर्जयेत्।।

---

४. उसी प्रकार असंव्यवहार भी तन्त्र में सिद्ध है— कैसे? लोक में आसक्ति न होवे इसके लिये अव्यक्त चिह्नों के द्वारा, उन्मत्त और मूढ़ के तरह व्यवहार के द्वारा असंव्यवहार जाना जाता है। इसलिये यह तन्त्र में प्रसिद्धि है। संव्यवहार के दो भेद हैं— (१) क्रयविक्रय संव्यवहार (२) राजकुल संव्यवहार। इसलिये एक भी संव्यवहार अपनाने से अपने को पीड़ा और दूसरे को भी पीड़ा देने वाला होता है। अतः दोनों संव्यवहार नहीं करना चाहिए। यदि अपने को दुःख होता है तो इसलोक में ही दुःखी हो जाता है। यदि व्यवहार से दूसरे को पिड़ित करता है तो उस अधर्म से दुःखादि फल का भागी बनता है। उसके बाद परलोक में भी तीव्र दुःख का अनुभव करता है। अतः दोनों ओर से व्यवहार त्याज्य है।

क्योंकि कहा गया है— जो पाप करता है या पाप की प्रशंसा करता है सभी एक ही श्रेणी में आते हैं और कहा गया है— क्रय विक्रय के व्यवहार में भी महान् दोष आते हैं अतः संन्यासी को क्रयविक्रय से दूर रहना चाहिये। गुप्त पाप करने वाले को समझते है कि मुझे कोई नहीं जानता भले ही लोगों के द्वारा न जाना जाय किन्तु पाप से वह छूट नहीं पाता। क्योंकि

प्रच्छन्नं कुरुते पापं न मे जानाति कश्चन।
मुच्यते जनवादेभ्यस्तस्मात् पापान्न मुच्यते।।

पुनरप्युक्तम्—

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च
द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये
धर्मो हि जानाति नरस्य वृत्तम्।।
नारम्भशीलो न च दम्भशीलः
शास्त्रोपदिष्टानि करोत्यदीनः।।
यमेषु युक्तो नियमेषु चैव
मुनिर्भवत्येष्वजरोऽमरश्च ।।

इत्येवमसंव्यवहारस्तन्त्रे सिद्धः।

५. तथाऽस्तेयं तन्त्रे सिद्धम्। कस्मात्? अवासोपदेशात् (अ.१, सू.११), अनुत्सृष्टान्नप्रतिषेधाच्च (अ.४, सू.७)। इह विद्यमानस्याप्येकस्य वाससो मलवदवस्थितस्यावासोपदेशात् परिग्रहपरित्याग उपदिश्यते। किञ्चान्यदपि। परित्यक्तानामन्नपानादीनामुपयोगो दृष्टो यस्मात्। अतोऽत्रास्तेयं तन्त्रे सिद्धम्।

पुनः कहा गया है— मनुष्य के सारे चरित्र को, आदित्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, भूमि, जल, हृदय, यम, रात, दिन, दोनों सन्धि काल और धर्म भलीभाँति देखते हैं। न आरम्भशील हो न पाखण्डी हो शास्त्र के द्वारा उपदिष्ट वचनों को सहर्ष पालन करने वाला हो, यम और नियमों का पालन करता हो वह अजर अमर मुनि होता है। इस प्रकार असंव्यवहार तन्त्र में प्रसिद्ध है।

५. उसी प्रकार अस्तेय भी तन्त्र में सिद्ध है— कैसे? प्रथमाध्याय के ११वें सूत्र में तथा चौथे अध्याय के सातवें सूत्र के उपदेश से अस्तेय जाना जाता है। यहाँ किसी द्वारा त्याज्य वस्त्र ही धारण करने का विधान है दिया हुआ वस्त्र नहीं, क्योंकि परिग्रह परित्यागी का उपदेश है। और दूसरा भी परित्यक्त अन्नपानादि का प्रयोग दृष्ट है। अतः यहाँ अस्तेय तन्त्र में सिद्ध है।

स्तेयं च पुन: षड्विधम्। तत्र अदत्तादानम् अनतिसृष्टग्रहणम्, अनभिमतग्रहणम्, अनधिकारप्रतिग्रह:, अनुपालम्भ:, अनिवेदितोपयोगश्चेति। अदत्तस्य ग्रहणमदत्तादानम्। अनतिसृष्टग्रहणं नाम बालोन्मत्तप्रमत्तवृद्धदुर्बलानां वित्तापहरणम्। अनभिमतग्रहणं नाम कीटभ्रमरपक्षिपतङ्गादीनाम् अनभिप्रेतद्रव्यापहरणम्। अनधिकारप्रतिग्रहो नाम इह शास्त्रे अनभ्यनुज्ञातानामर्थानां गोभूहिरण्यद्विपदचतुष्पदादीनां ग्रहणम्। अनुपालम्भो नाम कुहककल्कनडम्भविस्मापनवर्धापनादिभिरुपायै: परेभ्यो हिरण्याच्छादनोपयोग:। अनिवेदितोपयोगो नाम भक्ष्यभोज्यलेह्यपेयचोष्यादीनामन्यतमं यत्किञ्चिद् गुरवेऽनिवेदितमुपयुङ्क्ते स उच्यते अनिवेदितोपयोग इति। एवं षड्विधं स्तेयम्। अस्य षड्विधस्यापि स्तेयस्य परिवर्जनमस्तेयमाहुराचार्या:। भवति ह्यपि—

यदेतद् धनमित्याहु: प्राणा ह्येते बहिश्चरा:।
स तस्य हरते प्राणान् यो यस्य हरते धनम्।।

स्तेय छ: प्रकार का होता है। (१) अदत्तादानम् (२) अनतिसृष्टग्रहणम् (३) अनभिमतग्रहणम् (४) अनधिकार प्रतिग्रह (५) अनुपालम्भ (६) अनिवेदितोपयोगश्च।

विना दिये लेना अदत्तादान है। बालक, पागल, घमण्डी, वृद्ध, कमजोर के धन ग्रहण करना अनतिसृष्ट है। निष्प्रयोजन कीड़े, भँवरे, पक्षियों, फतीगों के द्रव्यों का हरण करना, अनभिमत ग्रहण है। अनधिकार प्रतिग्रह वह है जो अज्ञात धन जैसे गौ, पृथिवी, रूपये, द्विपद, चतुष्पदों को लेता है वह अनधिकार प्रतिग्रह है।

अनुपालम्भ स्तेय वह जो छल, विवाद, हिंसा, आश्चर्य, बढ़ाकर आदि उपायों से धन का ग्रहण करना।

अनिवेदित स्तेय— भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय, चोष्य आदि भोजन पदार्थ या अन्य पदार्थ गुरु के समर्पण बिना जो उपयोग करता है। वह अनिवेदित स्तेय है। इस प्रकार छ: प्रकार की चोरी कही गयी है। इस प्रकार षड्विध स्तेय का भी परिवर्जन अस्तेय है ऐसा आचार्यों ने कहा है।

धन प्राण रूप है, धन प्रत्यक्ष रूप से प्राण है। अत: जो धन का हरण करता है वह निश्चय ही प्राण का हरण करता है।

उक्तं हि—

सर्वस्वपरिमोष्टा च जीवितान्तकरश्च यः।
द्वावेतौ समकर्माणौ तस्मात् स्तेयं विवर्जयेत्।।

न स्तेनस्य परो लोको नायं लोको दुरात्मनः।
शङ्कितः सर्वभूतानां द्रोहात्मा पाप एव सः।।

मृदमापस्तथा यानं पत्रं पुष्पं फलान्यपि।
असंवृतानि गृह्णीयात् पवित्रार्थीह कार्यवान्।।

नद्यश्च वाप्यः कूपाश्च तडागानि सरांसि च।
असंवृतानि गृह्णीयात् प्राजापत्येन कर्मणा।।

इत्येवमस्तेयं तन्त्रे सिद्धम्।

६. अक्रोधस्तन्त्रे सिद्धः। कस्मात्? शूद्रप्रतिषेधात् (अ.१, सू.१३), अतितापोपदेशाच्च (अ.२, सू.१६)। इहाध्यात्मिकाधिदैविकानां सर्वद्वन्द्वानां मनसि शरीरे चोपनिपतितानां सहिष्णुत्वमप्रतीकारश्चेति यस्मात् कृता(ऽतो)ऽत्राक्रोधस्तन्त्रे सिद्धः। क्रोधश्च पुनश्चतुर्विधः। तद्यथा—भावलक्षणः, कर्मलक्षणः,

---

कहा गया है कि सर्वस्व चुराने वाला, प्राण हरण करने वाला दोनों समान कर्मी होते हैं इसलिये चोरी नहीं करनी चाहिए। चोरी करने वाला दुरात्मा का न परलोक होता है न यह लोक होता है। वह निश्चय ही सबसे द्रोह करने वाला, सन्देह के घेरे में रहने वाला पापी होता है।

पृथिवी, जल, सवारी, पत्र, पुष्प फल आदि का ग्रहण खुले स्थान का करना चाहिए। नदी, बावली, कुआँ, तालाब और सरोवर का प्राजापत्य कर्म से खुले स्थान का ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार तन्त्र में अस्तेय सिद्ध है।

६. अक्रोध भी तन्त्र में प्रसिद्ध है। कैसे?— कहते हैं— पहले अध्याय के १३वें सूत्र के उपदेश से तथा २ अध्याय के १६वें सूत्र के उपदेश से। शरीर और मन में होने वाले सभी प्रकार के दुःखों के सहने का प्रतिकार न करना अक्रोध तन्त्र में सिद्ध है। क्रोध भी चार प्रकार से कहा गया है— (१) भावलक्षण, (२) कर्मलक्षण, (३) वैकल्यकर और (४) उद्वेगकर। भावलक्षण से तात्पर्य है— जिसके मन में असूया, द्वेष, मद, मान, मात्सर्य आदि भाव उत्पन्न होता है। कर्मलक्षण वह है जो हाथ, पैर, नाक, आँख,

वैकल्यकरः, उद्वेगकरश्चेति। तत्र भावलक्षणो नाम सः, यत्रासूयाद्वेषमदमानमात्सर्यादयो भावाः प्रवर्तन्ते। कर्मलक्षणो नाम यत्र पाणिपादनासाक्ष्यङ्गुलिप्रहरणादयो भावाः प्रवर्तन्ते। उद्वेगकरो नाम यत्र स्वात्मानं परात्मानं वा प्राणैर्वियोजयति। इत्येवं चतुर्विधः क्रोधः। अस्य चतुर्विधस्यापि क्रोधस्य परिवर्जनम् अक्रोधमाहुराचार्याः। तस्माद् देशजातिकुलकर्मसम्बन्धनिन्दायां करणक्रियायां कार्यनिन्दायामाहारनिन्दायां वाधिकृतेन क्रोधो न कर्तव्यः। तत्र देशनिन्दा तावद् भवति। तद्यथा— यत्र भवान् जातस्तत्र देशे ब्राह्मणा एव न सन्तीति यदि कश्चिदधिक्षेपं कुर्यात्, तत्र क्रोधो न कर्तव्यः। तत्रैतत् स्याद् एवम(भि)हिते तीव्रदुःखं मानसमभिव्यज्यते। कथमत्र क्रोधो न भविष्यतीति? उच्यते—न भविष्यति। कस्मात्? परिसंख्यानसामर्थ्यात्। इह मनुष्यलोके देशोऽयं नाम मातापितृहेतुक औपचयिकः कार्यपिण्डः शरीराख्यः। स तस्माद् भवः(?)। क्षेत्रज्ञस्तु चेतनः सर्वगतः शुचिः। अस्य चास्माकं चान्तरमविदितम्। अपरिदृष्टार्थे भवानेतद् वा ब्रूयात्। अतः क्रोधनिमित्तासम्भवात् परिसंख्यानसामर्थ्येन क्रोधो न कार्यः। एवं शेषेष्वपि द्रष्टव्यम्। भवति ह्यपि—

अङ्गुली आदि से क्रोध का भाव उत्पन्न करते हैं। उद्वेग कर क्रोध वह जो अपने और पराये का प्राणहरण करता है। इस प्रकार चार प्रकार के क्रोध हैं। अतः चारों प्रकार के क्रोधों का निषेध ही अक्रोध है। इसलिये देश, जाति, कुल, कर्म सम्बन्धी निन्दा, सहायक क्रिया की निन्दा, कार्य की निन्दा, भोजन की निन्दा होने पर जो क्रोध नहीं करता वही अक्रोध है। जैसे देश निन्दा वह है— आपके देश में ब्राह्मण जाति है ही नहीं तो आप कैसे ब्राह्मण है ऐसा कहने पर क्रोध न करे तो अक्रोध होगा। इस प्रकार तीव्र दुःख को मन में अनुभव करता है तो क्रोध नहीं कहा जायेगा? कहते हैं— क्रोध नहीं होगा। कैसे? ज्ञानी होने से। यहाँ मनुष्यलोक में देश वह है जो माता-पिता के कारण उत्पन्न शरीर है जो जड़ है तो क्रोध क्या उससे उत्पन्न है? आत्मा तो चेतन है सर्वव्यापक है, पवित्र है। वह हमारे अन्दर है और अप्रत्यक्ष है। मैंने कभी नहीं देखा है ऐसा कह सकते हैं, अतः वह आत्मा क्रोध का निमित्त नहीं हो सकता। ज्ञान के सामर्थ्य से क्रोध नहीं करना है। इस प्रकार शेष क्रोध को भी जानना चाहिए।

शृङ्गवान् नखवान् दंष्ट्री विकृतो रुधिराशनः।
राक्षसो वा पिशाचो वा क्रोधिष्णुर्जायते नरः।।

पुनश्चाह—

कङ्कगृध्रसृगालेषु दंशेषु मशकेषु च।
पन्नगेषु च जायन्ते नराः क्रोधपरायणाः।।

विद्विष्टः सर्वभूतानां बह्वमित्रोऽल्पबान्धवः।
क्रूरधर्मा दुराचारः क्रोधिष्णुर्जायते नरः।।

क्रुद्धः करोति पापानि क्रुद्धः पापानि भाषते।
क्रुद्धो भवति निर्लज्जस्तस्मात् क्रोधं विवर्जयेत्।।

तथा चोक्तम्—

यत् क्रोधनो जपति यच्च जुहोति यद्वा
यद्वा तपस्तप्यति यद्ददाति तत्सर्वम्(?)।
वैवस्वतो हरति पूर्तममुष्य सर्वं
मिथ्या श्रुतं भवति तस्य शमोऽपि तस्य।।

क्रोध करनेवाले मनुष्य सिंह, दन्त, नख, वाले योनी में उत्पन्न होते हैं तथा विकृत रूप, रुधिर पान करने वाले राक्षस और पिशाच होते हैं।

और भी कहा गया है— क्रोधी मनुष्य का जन्म— कङ्क, गीध, सियार, काटने वाले, मच्छर, सर्पों में होता है।

क्रोध करने वाला मनुष्य, सबसे द्वेष करने वाला, बहुत शत्रु उत्पन्न करने वाला, कम भाई वाला, हिंसक धर्म को अपनाने वाला दुराचारी होता है।

क्रोधी व्यक्ति पापों को करता है, क्रोधी व्यक्ति पापपूर्ण वचनों को बोलता है औंर निर्लज्ज होता है, अतः क्रोध नहीं करना चाहिए और भी कहते हैं— जो क्रोध से जप करता है, क्रोध से हवन करता है, जो क्रोध से तपस्या करता है और क्रोध से देता है उसका सर्वस्व यमराज हर लेता है, सभी किये गये यज्ञफल को भी हर लेता है। सुना हुआ शास्त्र भी मिथ्या हो जाता है तथा उसकी शान्ति भी व्यर्थ हो जाती है।

धन्यास्ते पुरुषव्याघ्रा ये बुद्ध्या क्रोधमुत्थितम्।
शमयन्ति महात्मानो दीप्तमग्निमिवाम्भसा।।

यतो रूपं ततो ज्ञानं यतो ज्ञानं ततस्तपः।
यतस्तपस्ततः सिद्धिर्यतः सिद्धिस्ततः क्षमा।।

क्षमा सर्वपरं मित्रं क्रोधः सर्वपरो रिपुः।
क्षमावतामयं लोकः परो लोकः क्षमावताम्।।

एतस्मात् कारणात् क्षन्तव्यमित्येवमक्रोधस्तन्त्रे सिद्धः।

७. तथा गुरुशुश्रूषा तन्त्रे सिद्धा। कस्मात्? व्याख्यानोपदेशाद् (अ.१, सू.१), विद्वदुपदेशाच्च (अ.३, सू.१९)। इह चोक्तं विधिं व्याख्यास्यामः (अ.१, सू.१) इति। अत्राङिति मर्यादायाम्। म इति प्रतिज्ञायां भवति। मयि वर्तते। मयि तिष्ठतीति। यदि चेष्टे वत्स्यसि यदि चेष्टे स्थास्यसि ततस्ते

जिन श्रेष्ठ महात्माओं के द्वारा उत्पन्न क्रोध को बुद्धि से शान्त कर दिया जाता है वे धन्य हैं— जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि जल से शान्त हो जाती है।

जिससे विषय, उससे ज्ञान जिससे ज्ञान उससे तपस्या, जिससे तपस्या उससे सिद्धि, जिससे सिद्धि उससे क्षमा की प्राप्ति होती है।

क्षमा सर्वश्रेष्ठ मित्र कहा गया है, क्रोध सर्वश्रेष्ठ शत्रु कहा गया है। क्षमावान् के लिये ही यह लोक और परलोक है। अतः क्षमा करना ही अक्रोध है। तन्त्र में भी सिद्ध है।

७. गुरुसेवा भी तन्त्र में सिद्ध है- कैसे?— योग्य एवं अधिकारी शिष्य तथा सभी अपमानों को सहन करने वाला कृत्स्नतपा के अनुसार योगविधि का उपदेश श्रवण करना गुरु शुश्रूषा है। बताये गये विधि की मर्यादा के अन्दर रहना गुरु सेवा है। म अक्षर से प्रतिज्ञा यानि उपदेश देने का संकल्प है। गुरु शुश्रूषा क्या है? बताते हैं— मुझमें है मुझमें ही स्थित है। यदि मेरी इच्छा में बसोगे और मेरी इच्छा में स्थित रहोगे तो मैं कहूँगा। शिष्य को प्रतिदिन गुरु की सेवा में आठ तरह से रहना चाहिए। उत्थान पर प्रत्युत्थान करना, अभिवादन करना, हितकर गुरु कार्य करना, आगे-आगे न बोलना, पहले उठना, नीच टहल करना, इच्छित या अनिच्छित सभी

वक्ष्यामः। तत्रेष्टमित्यष्टाङ्गं ब्रह्मचर्यं मर्यादामधिकुरुते। तद्यथा— उत्थानप्रत्युत्थानाभिवादन(गुरुकार्य?)गुरुकार्यहितकारी अनुत्तरोत्तरवादी पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशी प्रेषिताप्रेषितसर्वकार्यकृतज्ञः सर्वनिवेदितात्मा दक्षो दाक्षिण्यानुरक्तः स्नानोद्वर्तसंवाहनादिभिः क्रियाविशेषैश्छायेवानुगतो नित्यमिदं कृतम् इदं करिष्ये किं करवाणीति भूत्वा गुरवेऽहरहर्वर्तितव्यम्। यस्तु विद्यां गुरोरधिकृत्य बहुभ्यः सम्प्रयच्छति, अनेनास्य विद्याया दानेन गुरवः शुश्रूषिता भवन्ति। क्षीणे च ब्रह्मचर्ये नियतं गुरुषु यद् गौरवं तद् ब्रह्मचर्यम्। भवति ह्यपि—

गुरुर्देवो गुरुः स्वामी गुरुर्माता गुरुः पिता।
यस्यैवं निश्चितो भावः श्रेयस्तस्य न दूरतः।।

अग्निसूर्येन्दुताराभिश्चाक्षुषोऽर्थः प्रकाशते।
भूतं भव्यं भविष्यं च गुरुवाक्यैः प्रकाशते।।

देशकैर्गम्यतेऽध्वानं (?) देशकैर्गम्यतेऽर्णवः।
देशकैर्गम्यते स्वर्गो गुरुर्मोक्षस्य देशकः।।

कार्य का उपकार मानना, अपने को समर्पित रखना; चतुर और चतुरता से युक्त रहना, स्नान और उपकरणों के साथ समीप में रहना इत्यादि सेवाओं से युक्त होकर छाया के समान रहना चाहिए। यह मैंने किया यह करूँगा, ये करूँ? इस भाव से प्रतिदिन का व्यवहार होना चाहिए। जो प्राप्त गुरु ज्ञान को बहुतों में बाँटता है तो उस विद्या दान से गुरुओं की सेवा ही होती है। कदाचित् ब्रह्मचर्य नियम में त्रुटि होने पर भी गुरु में जो स्थापित गुरुता है वह ब्रह्मचर्य ही है।

कहा गया है और भी जिस शिष्य का गुरु में देवता, पति, माता, पिता के रूप में निश्चित भाव है उसका कल्याण दूर नहीं रहता।

अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और ताराओं का प्रकाश चक्षु सापेक्ष है अर्थात् केवल प्रत्यक्ष ज्ञान है किन्तु गुरु वाक्यों द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्य का भी ज्ञान हो जाता है।

उपदेश के द्वारा ही स्वर्गादि मार्ग जाना जाता है, उपदेश के द्वारा ही भवसागर पार किया जाता है, उपदेश से ही स्वर्ग प्राप्ति होती है तथा गुरु का उपदेश मोक्ष का कारण है।

अमृतस्य प्रदातारं यो गुरुं ह्यवमन्यते।
षष्टिवर्षसहस्राणि नरकं पर्युपासते।।
गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा यत्र प्रवर्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः।।
आचार्यं पूजयेद् यस्तु सर्वावस्थं हि नित्यशः।
पूजितस्तेन भवति शिवो वै नात्र संशयः।।
आचार्यमूर्तिमास्थाय शिवो ज्ञानं प्रयच्छति।
तस्माद् वै नावमन्तव्य आचार्यः श्रेय इच्छता।।
ग्रन्थार्थविदुषे नित्यं योगमार्गानुदर्शिने।
सर्वार्थेनापि कर्तव्यं परितोषो विजानता।।
ऋचं वा यदि वार्धर्चं पादं वा यदि वाक्षरम्।
सकाशाद् यस्य गृह्णीयान्नियतं तत्र गौरवम्।।
लिङ्गकर्त्री यथा माता शास्त्रकर्ता यथा पिता।
प्रबोधकृद् गुरुस्तेषां तदेवायतनं महत्।।

इत्येवं गुरुशुश्रूषा तन्त्रे सिद्धा।

जो उपदेश रूपी अमृत को प्रदान करने वाले गुरु का तिरस्कार करता है, वह साठ हजार वर्ष नरक में वास करता है। जहाँ पर गुरु की निन्दा या भर्त्सना होती हो वहाँ दोनों कानों को बन्द कर लेना चाहिए अथवा वहाँ से दूर हो जाना चाहिए।

जो शिष्य प्रतिदिन सामग्री के सहित गुरु की पूजा करता है, उस पूजा से शिव की ही पूजा होती है, इसमें संदेह का अवसर नहीं। शिव ही आचार्यरूप होकर ज्ञान प्रदान करते हैं। अतः कल्याण को चाहने वाले आचार्य का तिरस्कार न करे।

ग्रन्थ के अर्थों को जानने वाले, योगमार्ग को दिखाने वाला सभी कल्याणकारी पदार्थों को जाननेवाले गुरु की सेवा करनी चाहिए।

पूरा मन्त्र वा आधा मन्त्र वा एक पाद अथवा अक्षर का ज्ञान गुरु के समीप से ही होता है, अतः उस ज्ञान में गुरु की गुरुता विद्यमान है। जन्मदातृ माता, उपदेश कर्ता पिता श्रेष्ठ होता है उसी प्रकार गुरु विशिष्ट ज्ञान दाता और महत्ता का आधार होता है। इस प्रकार गुरु सेवा तन्त्र में सिद्ध हुआ।

८. तथा शौचं तन्त्रे सिद्धम्। कस्मात्? भस्मस्नानोपदेशात् (अ. १, सू. २)। तच्च शौचं त्रिविधम्। तद्यथा—गात्रशौचं भावशोचम् आत्मशौचं चेति। तत्र भस्मस्नानोपदेशात् प्रसिद्धं भस्मना गात्रशौचम्। आह—यदुक्तं प्रसिद्धं भस्मना गात्रशौचमिति, एतदेवायुक्तम्। कस्मात्? पूर्वोत्तरव्याघातात्। इह पुरस्तादुक्तं प्रसिद्धा यमा अहिंसादयो भवन्ति (इति)। यदिह भूयोऽपि अप्रसिद्धं भस्मना गात्रशौचमित्यभिधीयते। तस्मादिदं पूर्वोत्तरं न संगच्छति, व्याहतं च भवति। एष दोष इत्यतः पूर्वोत्तरव्याघातात्। तत्र यदुक्तं प्रसिद्धं भस्मना गात्रशौचमित्येतदयुक्तम् (?)। उच्यते — नायं दोषः। कस्मात्? प्रसिद्धिदर्शनात्। इहान्यत्रापि प्रसिद्धं भस्मना गात्रशौचमिति। एवं ह्याह—

संसर्गजाश्च ये दोषा ये चान्ये पितृमातृजाः।
अन्नपानकृताश्चैव सङ्करा देहमाश्रिताः।।
सर्वांस्तान् दहते भस्म अस्थिमज्जागतानपि।।

पुनश्चाह—

केशकीटोपपन्नानि दुष्टान्नानि च यानि वै।
भस्मना स्पृष्टमात्राणि भोज्यान्याहुर्मनीषिणः।।

---

८. उसी प्रकार पवित्रता भी शास्त्र में प्रसिद्ध है। कैसे?— भस्मस्नान के उपदेश से (अ. १, सूत्र २)। वह पवित्रता यानी शौच तीन प्रकार का है। जैसे— (१) गात्रशौच, (२) भावशौच और (३) आत्मशौच। शरीरों की शुद्धि भस्म से होती है यह पूर्व उपदेश से सिद्ध है। इस कथन पर प्रश्न उठता है कि जो आप भस्म से गात्र की शुद्धि होती है, यह कहते हैं, सो अयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि पूर्व कथन का व्याघात होना संभव है। जैसा के पहले कहा जा चुका है कि अहिंसादि यम होते हैं। जो यम होगा उसका नियम में कथन करना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है, अतः बदतोव्याघात है। जो यहाँ पुनः अप्रसिद्ध भस्म से स्नान का विधान उचित नहीं है। उत्तर देते हैं— बदतोव्याघात दोष नहीं हैं क्योंकि प्रसिद्धि के ज्ञान से। केवल इस शास्त्र में ही प्रसिद्धि नहीं देखी जा रही है अपितु अन्य शास्त्रों में भी प्रसिद्धि देखी जाती है। जैसा कि कहा गया है—

संसर्ग से उत्पन्न दोष, माता-पिता से आया हुआ दोष, अन्न जल का दोष, शरीर में आया हुआ साङ्कर्य दोष, और शरीर के अस्थि, मांस आदि में प्रविष्ट दोष भस्म स्नान से नष्ट हो जाता है और भी— भोज्य पदार्थों में पड़ा हुआ केश, कीड़ा, या दुष्टों का अन्न होने से वह ग्राह्य नहीं होता, किन्तु भस्म स्पर्श से ही सारे दोष समाप्त हो जाते हैं ऐसा मनीषियों का कथन है।

पुनरप्युक्तम्—

मद्यं पीत्वा गुरुदारांश्च गत्वा
स्तेयं कृत्वा ब्रह्महत्यां च कृत्वा।
भस्मोद्ध्वस्तो भस्मराशौ शयानो
रुद्राध्यायी मुच्यते पातकेभ्यः।।
यः स्नानमाचरेन्नित्यमाग्नेयं संयतेद्रियः।
कुलैकविंशमुद्धृत्य स गच्छेत् परमां गतिम्।।

एवमन्यत्रापि प्रसिद्धं भस्मना गात्रशौचम्। तस्माद् युक्तं वक्तुं प्रसिद्धा यमा अहिंसादय इति।

तथोपस्पर्शनप्राणायामजप्यैः (अ.,सू.१४-१६) अकलुषमतिर्भवतीति भावशौचं तन्त्रे सिद्धम्।

भावमन्तर्गतं दुष्टं न स्नानमपकर्षति।
भावशुद्धिः परा शुद्धिः शेषं शृङ्गारमार्जनम्।।
मृत्तिकानां सहस्रेण जलकुम्भशतेन च।
न शुद्ध्यन्ति दुरात्मानः पापोपहतचेतसः।।

पुनः कहते हैं— मद्य सेवी, गुरुपत्नी भोगी, चौर्यकृत्य और ब्राह्मणघाती ऐसे पापों से युक्त व्यक्ति भी पाप रहित हो जाता है जो भस्म से चिह्नित और भस्म समूह पर शयन करता है तथा रुद्राध्यायी का पाठ कर देता है।

इन्द्रियों को वश में रखकर प्रतिदिन भस्म से स्नान करता है वह २१पीढ़ी का तारण कर परम गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर जाता है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी भस्म से गात्र शौच होता है ऐसा विधान प्राप्त होता है। अतः अहिंसादि प्रसिद्ध यम कहना उचित है।

गात्रशौच के व्याख्यान के बाद भावशौच के सम्बन्ध में कहते हैं— भस्म के स्पर्श से, प्राणायाम से और जप से मन स्वच्छ और पवित्र हो जाता है उसी को भावशौच कहते हैं।

"मन में प्रविष्ट दुष्ट भावों को बाह्यस्नान दूर नहीं कर पाता। भावशुद्धि ही सर्वश्रेष्ठ शुद्धि है, शेष तो शृङ्गार मार्जन है। अर्थात् बाह्य शरीर के मल को दूर करता है।

पाप से नष्ट चित्तवाला दुष्टात्मा सैकड़ों जलकुम्भ का स्नान, हजारों बार मिट्टी के प्रयोग से भी शुद्ध नहीं होता। भाव शुद्धि तो सत्य, तप,

सत्यं शौचं तपः शोचं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया शौचमद्भिः शौचं तु पञ्चमम्।।
शौचमेव परं तेषां येषां नोत्पद्यते स्पृहा।
प्रतिग्रहे तथारम्भे इन्द्रियाणां च गोचरे।।

यस्मादाह—

सर्वस्वमपि यो दद्यात् कलुषेणान्तरात्मना।
न तेन धर्मभाग् भवति भाव एवात्र कारणम्।।

यथा यथा हि पुरुषः कल्याणीं कुरुते मतिम्।
तथा तथास्य सिद्ध्यन्ति सर्वार्था नात्र संशयः।।

इत्येवं भावशौचं तन्त्रे सिद्धम्।

तथात्मशौचं तन्त्रे सिद्धम्। कस्मात्? यस्मादवमानपरिभवपरिवादाद्यैरपहत-पाप्मा भवति (अ.३, सू.३-७) इत्यात्मशौचं तन्त्रे सिद्धम्। यस्मादन्यैरप्युक्तम्—

इन्द्रियनिग्रह, सभी प्राणियों पर दया और पाँचवीं शुद्धि जल से होती है। सभी शौचों में उत्कृष्ट शौच वह है जो कामना रहित हो प्रतिग्रही और कार्यारम्भी न हो। एवं विषयों में इन्द्रियों की आसक्ति न हो। अर्थात् कामना, प्रतिग्रह, आरम्भ और इन्द्रियासक्ति नहीं होने पर ही पर शुद्धि कही जायेगी।

जिससे कहते हैं— कलुषित विचार से जो अपना सर्वस्व लूटा देता है अर्थात् दान देता है वह धर्म का हिस्सेदार नहीं होता, उत्तम भावना से जो दान देता है वह धर्म का भागी होता है। अत: भाव शुद्ध ही धर्म का कारण है।

जैसे जैसे पुरुष कल्याणकारी बुद्धि का प्रयोग करता है वैसे वैसे ही सभी अभीष्ट सिद्ध हो जाते हैं इसमें सन्देह का अवसर नहीं। इस प्रकार शास्त्र में भावशौच सिद्ध है।

उसी प्रकार आत्मशौच भी शास्त्र में सिद्ध है— कैसे? उत्तर देते हैं— तीसरे अध्याय के ३ से ७ सूत्रों तक में वर्णन है कि मनुष्य पाप को दूर कर कैसे निष्पाप होता है— तिरस्कार का होना, पराजय का होना निन्दा का होना अर्थात् जो पुरुष बार-बार जीवन में किसी के द्वारा तिरस्कृत होता है, पराजित होता है और निन्दित होता है वह निष्पाप हो जाता है। ऐसा आत्मशौच के सम्बन्ध में कहा गया है। इस सम्बन्ध में अन्य शास्त्रों का भी

कृत्स्नां महीं पर्यटतः सशैलवनकाननाम्।
अपमानात् परं नास्ति साधनं मनुरब्रवीत्।।

इत्येवं शौचं तन्त्रे सिद्धम्।

९. तथा आहारलाघवं तन्त्रे सिद्धम्। कस्मात्? भैक्ष—(अ.५, सू.१४) उत्सृष्ट (अ.४, सू.७) यथालब्धोपदेशात् (अ.५, सू.३२)। स्वल्पमपि अनुपायतोऽर्जितमलघु, प्रभूतमपि उपायतोऽर्जितं लघ्वेव द्रष्टव्यम्। उक्तं हि—

चरेन्माधुकरीं वृत्तिं वल्मीकनिचयोपमाम्।
अक्रुद्धश्चाप्रहृष्टश्च तपस्तद्धि सनातनम्।।

यश्चरेत् सर्वभोज्येषु भक्ष्यं च व्यवहारतः।
भुञ्जीत प्रतिगृह्णीयात् प्रशस्तानां स्वकर्मसु।।

चातुर्वर्ण्यं चरेद् भैक्ष्यं पतितांस्तु विवर्जयेत्।
पयश्चापश्च भैक्ष्यं च सममेतन्न संशयः।।

कथन है— मनु कहते हैं कि आत्मशुद्धि, पर्वतों और जङ्गलों से युक्त सम्पूर्ण पृथ्वी की परिक्रमा से उतनी नहीं होती जितनी आत्मशुद्धि तिरस्कार को प्राप्त होने से होती है। इस प्रकार शौच तन्त्र सिद्ध हुआ।

९. तथा आहार लाघवं तन्त्रे, सिद्धम्। कस्मात्? उसी प्रकार आहार पवित्रता भी शास्त्र में सिद्ध है। कैसे? अध्याय ५ सूत्र १४, अध्याय ४ सूत्र ७ एवं अ. ५ सूत्र ३२ के उपदेशों से। विना प्रयास के थोड़ी भी भिक्षा पर्याप्त है, प्रयास से उपार्जित भिक्षा अधिक होने पर भी थोड़ा ही है। अर्थात् पाशुपतव्रती को यदृच्छा से प्राप्त भिक्षा ही ग्रहणीय एवं उत्तम मानी गयी है।

जैसा कि कहा गया है— पाशुपतव्रती को मधुकर यानी भँवरा के समान भिक्षावृत्ति करनी चाहिये जैसा दीमक मिट्टी एकत्रित करता है। भिक्षा में क्रोध और प्रसन्नता नहीं होना ही सनातन तपस्या है। विशिष्ट स्वकर्मों के भोज्य पदार्थों में भिक्षा के व्यवहार से ही भोजन करना चाहिए तथा भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

पतितों को छोड़कर सभी वर्णों अर्थात् सभी चार वर्णों क़ी (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) भिक्षा लेनी चाहिए। भिक्षा में दूध, जल, अन्न सभी समान हैं। इसमें सन्देह नहीं।

भैक्ष्यशेषं तु यो भिक्षुर्यदि किञ्चित् समुत्सृजेत्।
ग्रासे ग्रासे तु कर्तव्याः प्राणायामास्त्रयस्त्रयः।।

सन्निधानं न कुर्वीत सर्वावस्थोऽपि योगवित्।
सन्निधानकृतैर्दोषैर्यतिः सञ्जायते कृमिः।।

माधुकरमसङ्कल्पं प्राक्प्रवृत्तमयाचितम्।
तत्तत्कालोपपन्नं च भैक्ष्यं पञ्चविधं स्मृतम्।।

गृहाद् गृहं पर्यटंस्तु यो गृहं परिवर्जयेत्।
परस्य वचनं श्रुत्वा दुष्टवेश्म विवर्जयेत्।।

अदुष्टापतितं साधुं भिक्षुको यो व्यतिक्रमेत्।
स तस्य सुकृतं दत्त्वा दुष्कृतं प्रतिपद्यते।।

तथैव च गृहस्थस्य निराशो भिक्षुको व्रजेत्।
स तस्येष्टं च पूर्तं च भिक्षुरादाय गच्छति।।

यदि कोई यती भिक्षा को दूसरे समय के लिये बचाकर रखता है और खाता है तो उसे प्रायश्चित के रूप में एक ग्रास के भोजन में तीन बार प्राणायाम करना चाहिए।

भिक्षुक को किसी भी अवस्था में स्त्री आदि का सङ्ग नहीं करना चाहिए। यदि सङ्ग करता है तो वह कृमि यानी नीचातिनीच योनि को प्राप्त करता है।

पाँच तरह की भिक्षा कही गयी है— मधुकर, असङ्कल्प, प्राक् प्रवृत्त, अयाचित और तत्तत्कालोपपत्र अर्थात् कई घरों से थोड़ा-थोड़ा भिक्षा लेना, पूर्व विचार से रहित प्रथम प्रवृत्ति, बिना माँगे जो प्राप्त, तत्काल प्राप्त हो जाय यही उत्तम भिक्षा है।

सभी घरों से भिक्षा लेते हुए उसी घर को छोड़ना चाहिए जो दुष्टों का घर है। दूसरे के वचन को सुनकर ऐसा करना चाहिए। जो भिक्षुक दोष रहित, पवित्र, साधु को भिक्षा लेने में छोड़ देता है वह अपना पुण्य देकर उसका पाप ग्रहण कर लेता है।

उसी प्रकार यदि किसी गृहस्थ के घर से भिक्षुक निराश होकर जाता है तो उसके यज्ञादियों का पुण्य भिक्षुक ले लेता है। भोजन बनने के बाद तुरन्त

अकृते वैश्वदेवे तु भिक्षुके गृहमागते।
उद्धृत्य वैश्वदेवार्थं भिक्षुकं तु विसर्जयेत्।।
वैश्वदेवकृतान् दोषान् शक्तो भिक्षुर्व्यपोहितुम्।
नहि भिक्षुकृतान् दोषान् वैश्वदेवो व्यपोहति।।
दशाहं द्वादशाहं वा यत्र भिक्षा न लभ्यते।
तद् गृहं वर्जयेद् भिक्षुरूषराणीव कर्षकः।।
चतुरक्षरसंयुक्तां भिक्षां तु समुदाहरेत्।
एष प्रव्रजिनां धर्मः शेषस्तु क्रयविक्रयः।।
न हसेन्न चाभिप्रेक्षेत् भिक्षामिच्छंस्तु भिक्षुकः।
गोदोहमात्रं सन्तिष्ठेन्नोपतिष्ठेत् कदाचन।।
जरामरणगर्भेभ्यो भीतस्य नरकादपि।
भयात् क्षपयते यस्मात् तस्माद् भैक्ष्यमिति स्मृतम्।।
दधिभक्षाः पयोभक्षा येऽन्ये यावकभक्षिणः।
सर्वे ते भैक्ष्यभक्षस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।।

भिक्षुक भिक्षा के लिये पहुँच जाता है तो ऐसी स्थिति में वैश्वदेव के लिये पक्वान्न निकालकर भिक्षुक को भिक्षा दे देनी चाहिए।

क्योंकि वैश्वदेवकृत दोषों को नष्ट करने में भिक्षुक समर्थ है किन्तु भिक्षुकृत दोषों को नष्ट करने में वैश्वदेव समर्थ नहीं हैं।

दस या बारह दिन तक यदि भिक्षा कहीं प्राप्त नहीं होती है तो उस घर को त्याग देना चाहिये जैसे किसान ऊसर जमीन को छोड़ देते हैं।

चार अक्षर से ही भिक्षा माँगनी चाहिए। अर्थात् "भिक्षां देहि" कहकर जो भिक्षा लेता है वही संन्यासियों का धर्म होता है विशेष वार्ता तो व्यापार की कोटि में आता है। भिक्षुक भिक्षा ग्रहण करने में न हँसे न चारों तरफ देखे। गोदोहन मात्र समय तक प्रतिक्षा करे। वहाँ वास न करे।

जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और नरक के भय को नष्ट करने वाली भिक्षा कही गयी है।

दही खाकर तपस्या करने वाले दूध पीकर तपस्या करने वाले गोमूत्र में यव पकाकर खाने वाले तपस्वी भी भिक्षा माँगकर खाने वाले की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं होते।

तप्तकाञ्चनवर्णेन गवां मूत्रेण यावकम्।
पिबेद् द्वादश वर्षाणि न तद् भैक्ष्यसमं भवेत्।।
मासि मासि कुशाग्रेण यः पिबेत् सोममग्रजः।
भैक्ष्यं चाव्यवहारेण तुल्यं भवति वा न वा।।
भैक्ष्यमन्नं परं श्रेयो भैक्ष्यमन्नं परं शुचि।
भैक्ष्यं हि व्रतिनां श्रेष्ठं भैक्ष्यमेव परा गतिः।।
यद्याज्जलं निर्गमनेष्वपेयं
नवीगतं तत् पुनरेव पेयम्।
तथान्नपानं विधिपूर्वमागतं
द्विजातिपात्रान्तरितं न दुष्यति।।
लवणमलवणं वा स्निग्धमस्नेहिकं वा
सहरसविरसं वा शुष्कमन्नं द्रवं वा।
यदि इह निरवद्यं भुञ्जते भैक्ष्यमन्नं
स खलु भवति भिक्षुर्भिक्षुधर्मादलुप्तः।।

तथोत्सृष्टं यथालब्धं च तत्रैवावसरप्राप्तत्वात् प्रतितन्त्रसिद्धान्तसिद्धं, सूत्रतोऽर्थनिर्देशं करिष्यामः। इत्येवमाहारलाघवं तन्त्रे सिद्धम्।

गोमूत्र से बने यव रस को शुद्ध स्वर्ण पात्र में रखकर बारह वर्ष तक सेवन किया जाय तब भी भैक्ष्य की बराबरी नहीं होगी।

प्रत्येक मास में कुशा के अग्रभाग से सोमरस के पीने वाले भी भैक्ष्य की तुलना नहीं हो सकती। भिक्षा का अन्न कल्याणकारी और परमपवित्र होता है। तपस्याओं में भिक्षा लेना श्रेष्ठ है। तथा मोक्ष परक है। जो जो जल निरुद्ध होता है वह वह अपेय होता है। वही जल नदी में चला जाता है तो शुद्ध पेय हो जाता है उसी प्रकार विधानानुसार द्विजातियों की भिक्षा दोषपूर्ण नहीं होती।

नमकीन या नमक रहित, घृतादि से युक्त अथवा रहित हो, सरस या निरस हो, सूखा यो गिला हो प्रसन्नता से यदि भिक्षान्न को खाता है तो भिक्षु का धर्म कभी लुप्त नहीं होता।

तथोत्सृष्टं यथालब्धं सूत्र का अवसर प्राप्त होने पर प्रत्येक शास्त्र के सिद्ध सिद्धान्तों का वर्णन करूँगा। इस प्रकार आहार शौच का वर्णन समाप्त हुआ।

१०. तथाऽप्रमादस्तन्त्रे सिद्धः। कस्मात्? अप्रमादोपदेशात् (अ.२, सू.१२) जप्योपदेशाच्च (अ.१, सू.८)। इह नित्यं यमेष्वप्रमत्तेनोपस्थितस्मृतिना भवितव्यम्। उक्तं हि—

अप्रमादो दमस्त्यागो ब्राह्मणस्य हयाः स्मृताः।
शीलरश्मिसमायुक्तैर्ध्येयात्मा मानसे रथे(?)।।
तं ब्रह्मरथमारुह्य गर्भजन्मजरायुतान्।
छिन्दन् मृत्युभयान् पाशान् ब्रह्मभूतोऽवतिष्ठते।।

इत्येवमप्रमादस्तन्त्रे सिद्धः। एवं प्रसिद्धा यमा अहिंसादयः।

आह—अविशेषदोषान्न प्रसिद्धा यमाः। इहान्येषामप्यहिंसादीनि धर्मसाधनानि। इहापि च शास्त्रे तान्येव। तस्मात् साध्यसाधननिष्ठास्वप्यविशेषः। उच्यते—न। अतिप्रसङ्गादनेकान्ताच्च। यदि धर्मसाधनास्तित्वमात्रसाधर्म्यादहिंसादीनां त्यागः क्रियते। तस्मात् कार्यकारणक्षेत्रज्ञधर्माधर्मसुखदुःखसंसारपदार्थादयोऽपि त्याज्याः।

---

१०. तथा अप्रमादस्तन्त्रे सिद्धः। कस्मात्? दूसरे अध्याय के १२वाँ सूत्र, प्रथम अध्याय का आठवाँ सूत्र के उपदेश के द्वारा इस शास्त्र के अनुसार वर्णित यमों में सावधान होकर आहार शौच को सिद्ध करना चाहिए। कहा गया है—

· ˉ रूपी रथ पर आसीन यती, अप्रमाद दम, त्याग रूपी घोड़ों को जोतक ीलरूपी रस्सी अर्थात् बागडोर को पकड़कर सारथी का कार्य करे।

गर्भ, जन्म, जरा, मृत्यु, भय रूपी बन्धनों को काटता हुआ ब्रह्मरथ पर बैठकर ब्रह्मभूत हो जाय।

इस प्रकार अ न्त्र सिद्ध है। उसी प्रकार अहिंसादि यम प्रसिद्ध है।

प्रश्न होता है कि म का विधान आपके अनुसार ही दूसरे शास्त्रों में भी देखा जाता है तो प्रसिद्ध कथन न होकर सामान्य कथन ही प्रतीत हो रहा है। क्योंकि इस शास्त्र में भी अहिंसादि धर्म के साधन हैं अन्यत्र भी। अतः साध्य यम में साधन अहिंसादि की स्थिति में कोई विशेषता नहीं है। उत्तर देते हैं— न=नहीं। अति प्रसङ्ग और अनेक त्या दोष उपस्थित हो जाता है। धर्म के साधनों का अस्तित्व मात्र त्याग से अहिंसा ˉ त्याग उपस्थित हो जाता है। कार्यरूप आत्मा, कारण रूप परमात्मा के धर्मा सुखदुःख और

अथ नैवम्, अनेकान्तः। किञ्च, त्यागे कृतिहिंसादीनां धर्मसाधनत्वप्रसङ्गः(?)। किञ्च, अतिदानातियजनातितपोऽतिगत्यनावृत्त्यादिभिः (अ.२, सू.१५-१७ तथा अ.४, सू.२०) यमनियमगर्भत्वाद् विधेः सिद्धम् (?)। नियमविशेषणाच्च नाविशेषः। तस्माद् युक्तमुक्तं यमा अहिंसादय इति। अत एतदुक्तं—महादेवस्य दक्षिणामूर्तेः (अ.१, सू.९) इति॥९॥

अत्रेदं यमप्रकरणं समाप्तम्।।

आह—तस्मिन्नायतने प्रतिवसतः का मात्रा? सा वाच्या गृहस्थादिवत्। तदुच्यते—न। यस्मादाह—

एकवासाः।।१०।।

अत्र एकम् इति संख्या। वास इत्याच्छादने भवति। तस्य वासः चतुर्विधम्। अण्डजं वोड (?ढृ)जं वालजं चर्मजं वा। यत् कुशलेनाभ्युपायेनोपपद्यते

सांसारिक पदार्थ भी त्याज्य हो जायेंगे और भी त्याग में हिंसादि ही धर्मसाधन उपस्थित हो जायेगा। इस शास्त्र में अतिदान, अति यजन, अति तप, अति गति और अनावृत्ति इत्यादि जो दूसरे अध्याय के १५ से १७ तक सूत्रों में चौथे अध्याय के २० सूत्र में जो उपदेश हुआ है, इससे अतिविशेष न होकर विशेष ही माना जायेगा। अतः प्रसिद्ध यम अहिंसादि कहना युक्तियुक्त है। इसीलिए इस अध्याय के नवें सूत्र में "महादेवस्य दक्षिणामूर्तेः" कहा गया है॥९॥

यहाँ यम प्रकरण समाप्त हुआ।

प्रश्न करते हैं? दक्षिणामूर्ति भगवान् के मंदिर में रहने का क्या विधान है? क्या गृहस्थ के समान रहा जाता है? उत्तर देते हैं— नहीं। जिससे कहा गया है—

सूत्रानुवाद— एक वस्त्र का परिधान का नियम है।

भाषानुवाद— एक संख्या वाची शब्द है। वास=वस्त्र पहनने का अर्थ है। वह वस्त्र पाँच प्रकार का होता है— (१) अण्डजं अर्थात् रेशमी वस्त्र, (२) वोढृजं = कपास का वस्त्र, (३) बालजं (ऊनी वस्त्र), (४) वल्कलजं = छाल वस्त्र (५) चर्मजं = मृगछाला आदि आसान उपाय से प्राप्त हो जाता

तदेकपटलमनेकपटलं वा ग्राम्यादिभ्यो निष्परिग्रहं कौपीनप्रच्छादनमात्रं लज्जाप्रतीकारार्थं चैकं वासो ग्राह्यम्। अस्यैव च सूत्रस्य सामर्थ्यात् सर्वद्रव्यपरित्यागे कृते एकवासोमात्रपरिग्रहः संस्कर्तव्यः शिष्यः। आह—लज्जाविनिवृत्तिरस्य कदा भवतीति? उच्यते—ज्ञानाकलुषाभ्याम्। अत्र यदा प्राप्तज्ञानः क्षीणकलुषश्च भवति तदा तस्य लज्जानिवृत्तिः॥१०॥

आह—किं विनिवृत्तायामपि लज्जायां नियतमेवैकं वासो ग्राह्यम्, आहोस्विदनियतमिति? उच्यते—अनियतम्। यस्मादाह—

अवासा वा॥११॥

अत्र अकारो वासःप्रतिषेधे वर्तते। अवाससा नग्नेन यथाजातेन निष्परिग्रहेण भवितव्यम्। आह—अवासस्त्वे किं ते प्रयोजनम्? तद् वाच्यम् एकवासस्त्ववत्। तदुच्यते—निष्परिग्रहार्थम् अलङ्गलख्यापनार्थं चेति, प्रयोजनद्वयं द्रष्टव्यम्। वाशब्दः शक्त्यशक्त्योर्विचारणे। यद्यशक्तस्तदा अनग्नेनैकवाससा भाव्यम्।

है तो एक हो या अनेक ग्रामादि से लेकर केवल लंगोटी के लिये उपयोग करना चाहिए। जिससे लज्जा की निवृत्ति हो जाय। इस सूत्र के अनुसार शिष्य को एक वस्त्रधारी ही होना चाहिए। प्रश्न है— लज्जा की निवृत्ति कब होती है? उत्तर देते हैं— जब ज्ञान हो जाता है और ज्ञान से मन स्वच्छ हो जाता है तो लज्जा की निवृत्ति हो जाती है॥१०॥

प्रश्न करते हैं—लज्जा की पूर्णतः निवृत्ति हो जाने पर नियत एक वस्त्र का परिधान अपेक्षित है या अनियत? उत्तर देते हैं— अनियत अर्थात् वस्त्र धारण करें या न करें इसमें अन्तर नहीं होगा।

सुत्रानुवाद— यदि व्रती नग्न रहने में समर्थ है तो बिना वस्त्र के भी रह सकता है।

भाष्यानुवाद— सूत्र के 'अवासा' पद में अकार वास यानी वस्त्र निषेध के लिये है। विषय का ज्ञान न रखने वाला शिशु के समान नग्न का प्रयोजन है। अवस्त्र से क्या प्रयोजन है जो आप कहते हैं कि एक वस्त्र ही होना चाहिए? उत्तर देते हैं— अवास से दो प्रयोजन परिलक्षित होते हैं। प्रथम निष्परिग्रह अर्थात् परिग्रह का सर्वथा अभाव दूसरा अलङ्गल अर्थात् रूप, रस, गन्धादि का लङ्घन न हो तथा भोगासक्ति का निषेध ज्ञान होना। वा शब्द

यदि शक्तस्तदा अवाससा नग्नेन यथाजातेन निष्परिग्रहेण भवितव्यमित्यर्थः। न तु वा विकल्पे। विकल्पार्थासम्भवादित्यर्थः।।११।।

आह—तस्मिन्नायतने प्रतिवसता किमादेहपातादनिर्गच्छतैव स्थेयं ध्यानैकनिष्ठेन शिलावत्, आहोस्विद् दृष्टोऽस्यायतनान्निर्गमः, भस्मभैक्ष्योदकार्जनादिनिमित्तं ग्रामादिप्रवेशो वा? उच्यते—दृष्टः।

यस्मात्—

मूत्रपुरीषं नावेक्षेत्।।१२।।

अत्र मूत्रं च पुरीषं च मूत्रपुरीषम्। चार्थे द्वन्द्वसमासः। अत्र मूत्रं नाम—यदेतदुदरपर्युषितं निस्सरति बहिः स्रवति, तन्मूत्रम्। मोचनान्मूत्रम्। मूत्रत्वाभिसम्बधाद्धि मूत्रं, लोकादिप्रसिद्धमित्यर्थः। पुरीषम् नाम्—यदेतत् पीतखादितावलीढानामाहारविशेषाणामाध्यात्मिकेन अग्निना परिपक्वमपानेन स्खलति तत् पुरीषम्।

का अर्थ यहाँ विकल्प नहीं है अपितु समर्थासमर्थ में है। यदि नग्न रहने में असमर्थ है तो एक वस्त्र कौपीन मात्र धारण करे। यदि समर्थ है तो नग्नावस्था में रहे। अर्थात् विषय वासनाओं से जो बहुत दूर हो चुका है वह नग्न रह सकता है।।११।।

प्रश्न है— दक्षिणामूर्ति के मंदिर में ध्याननिष्ठ होकर चट्टान के समान बिना आये गये शरीरान्त तक रहना चाहिए अथवा भिक्षा, भस्म, जल आदि के लिये मंदिर से ग्राम आदि में जाना भी चाहिए? उत्तर देते हैं— जाना भी देखा गया है। जिससे प्रमाणित होता है।

सूत्रानुवाद— मूत्र और मल को नहीं देखना चाहिए।

भाष्यानुवाद— मूत्र और पुरीष में द्वन्द्व समास है। जो उदर से वासी पानी बाहर निकलता है वह मूत्र कहा जता है। त्याग से मूत्र कहते हैं। या मूत्र में रहने वाला जाति सम्बन्ध से मूत्र है। ये क्रिया सभी जगह प्रसिद्ध है। जो भोजन, पान आदि विशेष, जठराग्नि के द्वारा पक्व, अपान के द्वारा निस्सृत होता है उसे पुरीष कहते हैं। शरीर से निर्गम होने के कारण वा इसमें रहने वाली जाति सम्बन्ध से भी पुरीष है। नकार का अर्थ नहीं देखने में है अर्थात् नहीं देखना चाहिए। अवेक्षेत् पद में जो अव शब्द है वह निषेधात्मक

पुरान्निर्गतत्वात् पुरीषत्वाभिसम्बन्धाद् वा पुरीषम्, लोकादिप्रसिद्धमित्यर्थः। नकारो दर्शनप्रतिषेधे। न द्रष्टव्यम् इत्यर्थः। अव इति अपवर्जनं नामप्रतिषेधे जातिग्रहणेन्द्रियान्तरप्रतिषेधे चेत्यर्थः। ईक्ष दर्शने। यदेतन्निजं बुद्धीन्द्रियं चक्षुरनेन चक्षुषा अनया बुद्ध्या मनुष्यादीनां मूत्रपुरीषं न द्रष्टव्यम्। न तु गवादीनामित्यर्थः।।१२।।

आह—किं मूत्रपुरीषसन्दर्शनमात्रमेवास्य प्रतिषिध्यते? उच्यते—न। यस्मादाह—

स्त्रीशूद्रं नाभिभाषेत्।।१३।।

अत्र स्त्री च शूद्रश्च स्त्रीशूद्रम्। चार्थे द्वन्द्वसमासः। अत्र स्त्री नाम सेयं लोकप्रसिद्धा स्तनजघनकेशवती हावभावविलासयुक्ता पुरुषभावस्वभाविका दिव्या मानुषा अतिरतिरसा विषयमूर्तिरिति कृत्वा प्रतिषिध्यते। अनुभाषणपूर्विका चास्याः प्राप्तिर्भविष्यतीत्यतः स्त्री नाभिभाषितव्येत्यर्थः। शूद्रो नामायं लोकादिप्रसिद्धस्त्रिवर्णपरिचारकः। शोचनाद् द्रोहणाच्च शूद्रः। स खल्वदयालुरिति कृत्वा

है। सभी ज्ञानेन्द्रियाँ स्व विषय को प्रत्यक्ष देखती हैं, अतः किसी भी इन्द्रिय से ज्ञान नहीं करना चाहिए। अपने निजी बुद्धीन्द्रिय चक्षु के द्वारा वा बोध गम्य दूसरी इन्द्रियों के द्वारा पुरीष को नहीं देखना चाहिए। न कि गौ के गोबर को। तात्पर्य— इस सूत्र से यह तात्पर्य निकलता है कि यदि व्रती बाहर नहीं जाता तो मूत्र और पुरीष के दर्शन का निषेध क्यों किया जाता। इससे सिद्ध होता है मंदिर से आवश्यकतानुसार बाहर भी जाते हैं।।१२।।

प्रश्न है कि केवल दो का ही निषेध किया जाता है अथवा अन्य पदार्थों का भी? उत्तर देते हैं— नहीं। जिससे कहा गया है—

सूत्रानुवाद— प्रथम प्रसङ्ग में कहा गया कि मात्र मूत्र पुरीष का निषेध है या और? सूत्र के द्वारा स्पष्ट करते हैं कि इसके साथ स्त्री और शूद्र से भी बात करने का निषेध है।

भाष्यानुवाद— स्त्री और शूद्र में द्वन्द्व समास है। स्त्री पद वाच्य जो लोक में प्रसिद्ध है, स्तन, जँघा और केश युक्त सुन्दरी, हाव भाव कटाक्ष से युक्त, प्रगल्भ स्वभाववाली दिव्य मूर्ति, अत्यन्त प्रेमरस से युक्त, मानों विषयरूप मूर्ति बनी हुई हो उससे सम्भाषण नहीं करना चाहिए, क्योंकि संवाद से ही

प्रतिषिध्यते। किमर्थम्? तेनाक्रुष्टश्चाभिहतश्च वा क्रुद्धस्तद्वधार्थं प्रवर्तते। अतो जाति-ज्ञानतपःश्रुतहानिर्भवति। सूचिते चावमानाद्यभावोऽवमानाद्यभावात् सूचि-वृद्ध्योरभावः(?)। अकलुषसूत्रे (अ.१, सू.१८) चास्य दोषनिर्देशं करिष्यामः। नकारो भाषणप्रतिषेधे। नाभिभाषितव्यमित्यर्थः। अभिशब्दः प्रसङ्ग इति। प्रतिषेधे जातिग्रहणे चेतरप्रतिषेधे चेत्यर्थः। भाष् व्यक्तायां वाचि। यदेतत् कर्मेन्द्रियं वाग् अनया वाण्या इति। अतः स्त्रीशूद्रं नाभिभाषितव्यमित्यर्थः॥१३॥

आह—नावेक्षेन्नाभिभाषेदित्युक्तेऽथ किमनेन साधकेनान्धमूकवदवस्था-तव्यमिति?। उच्यते—न। यस्मादाह—

यद्यवेक्षेद् यद्यभिभाषेत्॥१४॥

अत्र यदि यदि इत्याशङ्कायाम्। नाभिभाषेदिति वचनान्निषिद्धेऽप्यर्थे गुर्वर्थमात्मार्थं वा भस्मभैक्ष्योदकार्जनादिनिमित्तं ग्रामादीन् प्रविष्टस्य विण्मूत्रयोः

आसक्ति और प्राप्ति का अवसर प्राप्त हो जाता है। शूद्र पदवाच्य जो लोक प्रसिद्ध है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का सेवक होता है। शोक और द्रोह करने से भी शूद्र कहा जाता है। वह अभिमान से जब युक्त होता है तो निर्दयी भी बन जाता है अतः उससे से भी संवाद नहीं करना चाहिए। कैसे? अन्तः आक्रोश से युक्त और पराजित होने से क्रोध उत्पन्न होता है। इससे जाति, ज्ञान, तप और श्रुत की हानि होती है। पवित्रता में हानि से पवित्रता की वृद्धि का अभाव हो जाता है। १८वें सूत्र में स्वच्छ मति के उपदेश से इसके दोष का निर्देश करेंगे। न शब्द का अर्थ भाषण प्रतिषेध में है। अर्थात् अभिभाषण नहीं करना चाहिए। प्रतिषेध में शूद्र जाति के साथ इतर शूद्रवत् लोगों से संवाद नहीं करना चाहिए। कर्मेन्द्रिय वाणी भाष् धातु का अर्थ है। अतः स्त्री और शूद्र से संभाषण नहीं करना चाहिए॥१३॥

प्रश्न है— ईक्षण न करे, भाषण न करे तो क्या साधक मूक और अन्धा के समान रहे? उत्तर देते हैं—नहीं। जिससे कहा गया है—

सूत्रानुवाद— यदि दिख जाय, यदि संवाद हो जाय तो क्या करना चाहिए?

भाष्यानुवाद— यहाँ सूत्र में 'यदि' शब्द का दो बार प्रयोग आशङ्का अर्थ में किया गया है। अभिभाषण वचन का निषेध होने पर भी गुरु के लिए

स्त्रीशूद्रयोश्च दर्शनमभिभाषणं च भविष्यतीति कृत्वा। अत एतदुक्तं सर्वज्ञेन भगवता यद्यवेक्षेद् यद्यभिभाषेद् इति। अवश्यं भवेदित्यर्थ:।।१४।।

आह—दृष्टे चाभिभाषिते चोपहतेन निर्घातनं किं कर्तव्यम्? तदुच्यते—उपस्पर्शनम्। यस्मात्—

उपस्पृश्य।।१५।।

अत्र उप इत्यभ्युपगमे। अभ्युपगमनेन कलुषमतिनेत्यर्थ:। स्पृश्य इति भस्मद्रव्यगात्रसंयोजनमेव। उपस्पृश्येति स्नानपर्याय:। सचैलोदकस्पर्शनवत्। स च भस्मना कर्तव्य:, नाद्भि:। कस्मात्? पूर्वोत्तरव्याघातात्। स्नानस्याप्रसङ्गाच्च। उपस्पृश्येति निष्ठा।।१५।।

आह—उपस्पृश्य यदि कलुषं न क्षीणं स्यात्, ततो निर्घातनं किं कर्तव्यम्? तदुच्यते—साकाङ्क्षत्वान्निष्ठाशब्दस्य प्राणायाम: कर्तव्य:। यस्मादाह—

प्राणायामं कृत्वा।।१६।।

या अपने लिये भस्म, भैक्ष्य, उदक आदि के प्रयोजन से ग्रामादियों में प्रवेश होने पर मलमूत्र और स्त्रीशूद्र का दर्शन और भाषण होना संभव है ऐसा होने पर ही भगवान् सर्वज्ञ के द्वारा विधान किया गया और स्वीकार किया कि अवश्य दर्शन भाषण होने की आशङ्का है।।१४।।

ऐसी स्थिति में अर्थात् दर्शन और भाषण हो जाने से लगे पाप का प्रायश्चित कैसे करना चाहिए? उत्तर देते हैं—भस्म स्पर्श करना चाहिए। जिससे—

सूत्रानुवाद— भस्मद्रव्य को शरीर में लगाने से यानी स्नान से प्रायश्चित हो जाता है।

भाष्यानुवाद— उपस्पृश्य शब्द स्नान शब्द का पर्याय है। जल से स्नान नहीं। क्यों? पूर्व कथन से उत्तर कथन में हानि दृष्ट है। जल स्नान का प्रसङ्ग कहीं नहीं है। उपस्पृश्य में ही ल्यब् है वह निष्ठा में है।।१५।।

प्रश्न है? यदि उक्त क्रिया से भी पाप क्षीण नहीं होता है तो क्या करना चाहिए? इस आकाङ्क्षा में प्राणायाम करना चाहिए। जैसा कहते हैं—

सूत्रानुवाद— प्राणायाम कर कलुष का नाश करो।

अत्र प्राणो नाम—य एष मुखनासिकाभ्यां निस्सरति वायुरेष प्राणः। तस्य आयामो निग्रहो निरोधः, सो प्राणायामः। स च पुरुषवृत्तिर्द्रष्टव्यः। कस्मात्? ज्ञानेच्छा-प्रयत्नपूर्वकत्वात् प्राणायामस्य च। एकोद्घातो द्विरुद्घातो वा। तथा यथाशक्ति यथाबलं कर्तव्यः। तस्मादुपस्पृश्य पद्मकस्वस्तिकोपस्थाञ्जलिकार्धचन्द्रपीठक-दण्डायत-सर्वतोभद्रादीनामन्यतमेनासनबन्धेन प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा उपविश्यैतान्य-ङ्गानि कृत्वा ग्रीवामुन्नाम्य पूरणपूर्वको वा रेचकपूर्वको वा तावत् कर्तव्यो यावन्नि-गृहीता वायवो ध्यानीभूतश्च भवति। तत्र ध्यानीभूतो नाम यदा दन्तिवदन्तःशरीरं पूर्णं भवति। निगृहीतानां तु लक्षणं—यदा कूर्मवदन्तःशरीरे उच्छ्वासप्रत्युच्छ्वासा वर्तन्ते स्वच्छेन्द्रियश्च भवति, तदा मन्तव्या निगृहीता वायव इति। ततः शनैः शनैर्मोक्तव्या नासिकया, यथोत्पलपत्रमपि नासापुटस्थं न कम्पयति। तदत्र प्रश्नाक्रान्तौ क्रमेणाक्रमितव्यः, अन्तर्भावेऽन्तरे वायवो भावयितव्याः। अन प्राणने। आङिति आसनबन्धनिभृतनिगृहीतकलुषक्षपणविसर्गादिमर्यादामधिकुरुते। यमु बन्धने। बन्धयितव्याः। डुकृञ् करणे द्रष्टव्यः। त्वा इति कर्मनिष्ठायाम्। विच्छेदवदित्यर्थः॥१६॥

भाष्यानुवाद— प्राण का अर्थ है— मुख और नासिका के द्वारा निकली हुई वायु प्राण है। उस प्राण के विस्तार को वश में कर लेना ही प्राणायाम है। वह पुरुष की क्रिया से देखनी चाहिए। कैसे? ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के द्वारा प्राणायाम होता है। वह प्राणायाम का एक उद्घात हो अथवा दो उद्घात हो, अथवा यथाशक्ति यथाबल के अनुसार उद्घात हो। इसलिये उपस्पर्शन कर पद्यक, स्वस्तिक, उपस्थाञ्जलिक, अर्धचन्द्रपीठक, दण्डायत, सर्वतोभद्र आदि अथवा अन्य आसनबन्ध से पूरब मुख या उत्तरमुख बैठकर ग्रीवा को ऊपर उठाकर पूरण, रेचक तब तक करना चाहिए जब तक वायु निगृहीत न हो जाय। समाधि अवस्था तक प्राणायाम करना चाहिए। ध्यानीभूत से तात्पर्य है कि हाथी के समान अन्तः शरीर पूर्ण हो जाय। निगृहीत का लक्षण है— जब श्वास प्रश्वास से अन्तकरण शुद्ध हो जाता है तो कछुए के समान इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाती हैं तब मानना चाहिए कि प्राण का निरोध हो गया। उसके बाद उस प्राण वायु को इतना धीरे-धीरे छोड़ना चाहिए ताकि कमल पत्र भी नासिका के सामने होने पर कम्पित न हो। दर्शन रूप दोष या भाषण रूप दोष क्रम से समाप्त करना चाहिए। अपने अन्दर केवल शुद्ध प्राण को जाने। अन शब्द प्राण में प्र उपसर्ग अन है वह प्राण अर्थ में है। आङ् शब्द आसन इत्यादि का मर्यादा क्षेत्र है। यम शब्द बन्धन अर्थ में है। बन्धन करना चाहिए। करना अर्थ डुकृञ् धातु से है। त्वा शब्द पूर्वकालिक क्रिया का द्योतक है॥१६॥

आह—अथ कृते प्राणायामे यदि कलुषं न क्षीणं स्यात्, ततोऽनेन किं कर्तव्यम्? तदुच्यते—जप्यम्। यस्मादाह—

रौद्रीं गायत्रीं बहुरूपीं वा जपेत्।।१७।।

अत्र त्वाशब्दसामर्थ्याद् गम्यते प्राणसंयमेन समं जप्यं कर्तव्यम्। उपस्पर्शनवत्। तस्मादत्र रौद्री नाम तत्पुरुषा। रौद्री च कस्मात्? रुद्रप्रापकत्वाद् वा रौद्री। आह—सद्योजातादिबहुप्रकारा, तत्र का सा रौद्री? तदुच्यते—गायत्री। अत्र या रौद्री सा गायत्री। गायत्री च कस्मात्? गीता गातारं त्रायत इति। गायत्रे वा छन्दसि वर्तत इति गायत्री। अत्र रौद्रीग्रहणाद् वैदिक्यादिगायत्रीप्रतिषेधः। इह तु गायत्रीग्रहणात् सद्योजातादीनां प्रतिषेधः। गायत्रीमिति कर्म। बहुरूपी नामाघोरा। बहुरूपी च कस्मात्? बहुरूपस्योक्तपरिग्रहेष्वाकारेषु वर्तत इति बहुरूपी। बहुरूपो वा अस्यां चिन्त्यत इति, बहुरूपप्रापकत्वाद् बहुरूपी। बहुरूपीमिति कर्म। वा

पुनः कहते हैं यदि प्राणायाम से भी पाप नष्ट न हो तो क्या करना चाहिए? उत्तर में— जप करना चाहिए। प्रमाण में आगे सूत्र कहते हैं—

सूत्रानुवाद— तत्पुरुषा रौद्री गायत्री अथवा सद्योजातादि रौद्री गायत्री का जप करना चाहिए।

भाष्यानुवाद— "प्राणायामं कृत्वा" में जो त्वा शब्द है उससे तात्पर्य है कि प्राणायाम के साथ ही जप होना चाहिए। भस्म स्पर्श के समान। अतः यहाँ रौद्री तत्पुरुषा शब्द से तात्पर्य है। प्रश्न है कि रौद्री शब्द कहाँ से आया है? उत्तर है कि रुद्र को प्राप्त करानेवाली ही रौद्री है। कहते हैं— रौद्री का भेद अनेक हैं। उन भेदों में कौन सी रौद्री है तो कहते हैं— गायत्री हैं। इस शास्त्र में जो रौद्री है वह गायत्री रौद्री है। गायत्री शब्द का क्या तात्पर्य है? जो गाने वाले को रक्षा करती है वह गायत्री है अथवा गायत्री छन्द भी है। यहाँ रौद्री ग्रहण से वैदिकादि गायत्री का निषेध है। यहाँ गायत्री कर्म में प्रयुक्त है। तथा गायत्री शब्द सद्योजातादि जो भेद हैं उसका भी प्रतिषेध है। बहुरूपी शब्द का तात्पर्य है अघोरा शब्द से है। बहुरूप में कहे गये आकृति से बहुरूपी रौद्री कही जाती है। यह बहुरूप वाले रुद्र को प्राप्त कराने के लक्ष्य से यह शब्द कथित है। अथवा रौद्री में ही बहुत रूपों का चिन्तन हो। बहुरूपी भी कर्म है। वा का अर्थ विकल्प है। दोनों कर्म में ब्रह्म की सत्ता है, दोनों में

इति विकल्पे। उभयोरपि ब्रह्मत्वम् उभयोरपि तुल्यार्थसाधकत्वम्। उभे अपि महेश्वरपरिगृहीते इत्यत एकामनेकां वा उपस्पृश्य जपेदिति मानसी क्रियेत्यर्थः।।१७।।

आह—उपस्पर्शनप्राणायामजप्याधिकृतस्य का कार्यनिष्पत्तिः? तदुच्यते—अकलुषत्वम्। यस्मादाह—

अकलुषमते।।१८।।

आह–अकलुषमतिना साधकेन किं कर्तव्यम्? तदुच्यते—चरितव्यम्। यस्मादाह—

चरतः।।१९।।

अत्र चरतः इति धर्मार्जनमधिकुरुते। भैक्ष्यचरणवत् तपश्चरितव्यम्, विहर्तव्यं तपसोऽर्जनं कर्तव्यम्, न स्थेयमित्यर्थः। चरत इति वर्तमानकालः।।१९।।

अकलुषमतेश्चरतो वा अस्य का कार्यनिष्पत्तिः? तदुच्यते—

समान रूप से साधकता है। दोनों शब्दों के द्वारा महेश्वर की प्राप्ति का कारण है। एक या अनेक रौद्री का जप मानसी क्रिया से अभिलक्षित है।।१७।।

प्रश्न है — उपस्पर्शन अर्थात् भस्मस्नान के तरह प्राणों का निरोध करके मनोयोग से जप करने का क्या फल होगा? उत्तर में निर्कलुष बुद्धि होगी। प्रमाण में कहा गया है—

सूत्रानुवाद— निर्मल, निष्कलंक, स्वच्छ बुद्धि वाला ही धर्माचरण कर सकता है।।१८।।

प्रश्न है— अकलुष मतिवाले साधक को क्या करना चाहिए? उत्तर में विचरण यानी धर्मार्जन करना चाहिए। कहा गया है—

सूत्रानुनवाद— यति को एक स्थान पर नहीं ठहरना चाहिए। उसे भ्रमणशील होना चाहिए।

भाष्यानुवाद— यहाँ चरतः शब्द से धर्मार्जन को ग्रहण करना चाहिए। भिक्षाचरण से तप करना चाहिये। भ्रमण और तपस्या से धर्मार्जन करना चाहिए। चरतः शब्द सातत्यबोधक शब्द है।।१९।।

प्रश्न है— अकलुषमति से भ्रमण करने पर क्या फल प्राप्त होगा? उत्तर देते हैं—

ततोऽस्य योगः प्रवर्तते।।२०।।

अत्र तत इति चर्यापदेशो। ततः चर्याभिनिवेशादनन्तरं तज्जन्यधर्मादित्यर्थः। अस्य इति साधकोपदेशो। योऽयमकलुषमतिश्चरति तस्येत्यर्थः। आह—किं भवतीति? तदुच्यते—योगः प्रवर्तत। अध्ययनध्यानदिलक्षणः क्रियायोगश्चरतः प्रवर्तत इत्यर्थः। अत्रात्मेश्वरसंयोगो योगः प्रत्येतव्यः। प्र इति आदिकर्मणि, आरम्भे भवति। यदा अकलुषमतिश्चरति तदा प्रवर्तत इत्यर्थात्। तत्र कस्मात् प्रवर्तते? विषयेभ्यः। प्रत्याहृतचित्तस्य यत् प्रवर्तते तद्योगः(?) यथा प्रवर्तते? क्रमशः। येन प्रवर्तते? तपसा प्रवर्तते। (यस्य प्रवर्तते)? आत्मनः साधकस्य। यस्मिन् प्रवर्तते। योऽयमात्मन्यात्मभावः, स महेश्वरे प्रवर्तत इत्यर्थः।।२०।।

एवं यस्माद् द्रव्यावस्थानकालदेशक्रियाप्रयोगोच्चावचप्रयोजनयमनियम-वृत्तिसत्यर्थप्राणायामप्रत्याहारनिमित्तप्रतिषेधसंशयनिर्घातनशौचनियोगफलोपायाश्च व्याख्याताः, अतोऽत्रायतनप्रकरणं समाप्तम्।।

सूत्रानुवाद— सूत्र में तत् शब्द का अभिप्राय विचरण से है। विचरण से उत्पन्न धर्म से है।

भाष्यानुवाद— अस्य शब्द साधक के लिये है। ऐसा साधक जो निर्कलुष मति होकर धर्माचरण करता है। प्रश्न है— इससे क्या होता है? उत्तर देते हैं- योग होता है अर्थात् परमशिव से सायुज्य संबन्ध होता है। आत्म निरीक्षण, ध्यान आदि क्रियायोग में प्रवृत्ति होती है। यहाँ आत्मा और ईश्वर का संयोग ही योग शब्द से प्रयुक्त है। प्रवर्तते शब्द में प्र शब्द प्रथम कर्म अर्थात् आरम्भ के लिये है। जब साधक अकलुषमति होकर ही धर्माचरण में प्रवृत्त होता है, अर्थात् विषयरूप पदार्थों को समझकर चित्त को विषयों से हटाता है यही योग है। जैसा प्रवृत्त होता है। क्रमशः अर्थात् अकलुषमति, यम, नियमादि के द्वारा जिससे प्रवृत्त होता है। अर्थात् तप के द्वारा धर्माचरण में प्रवृत्त होता है। आत्मा का साधक जिसमें प्रवृत्त होता है वह परमात्मा में आत्मभाव का योग कर अन्त में परमेश्वर में प्रवृत्त हो जाता है।।२०।।

इस प्रकार पदार्थ, जाति, काल, देश, क्रिया, प्रयोग, क्रमाक्रम, उद्देश्य, यम, नियम, चित्तवृत्तियाँ, प्राणायाम, प्रत्याहार, कारण, निषेध, संशय नाश, शौच, नियोगफल और साधन के सम्बन्ध में व्याख्या पूर्ण हुई। इसलिये यहाँ आयतन प्रकरण समाप्त हुआ।

अत्राह—किं प्रयोजननिष्ठं तन्त्रम्? उच्यते—न। योगनिष्ठम्। यस्मादाह—युक्तोत्तरे सत्यपि पदार्थवैलक्षण्ये रङ्गपताकादिवच्छिष्यप्रलोभनार्थमिदमारभ्यते—

दूरदर्शनश्रवणमननविज्ञानानि चास्य प्रवर्तन्ते।।२१।।

अत्र दूरं नाम यदेतद् दर्शनाद्यं विकरणान्तं माहेश्वरमैश्वरमैश्वर्यम्, अनेन कदाचित्प्राप्तिपूर्वकम्, तस्मिंस्तत्प्राप्तौ च। दर्शनादिष्वाधिकारिकोऽत्र दूरशब्दो द्रष्टव्यः। तत्प्राप्तिश्च योगवृत्तिश्च(व?)तः। आह—यद्येवं सूत्रतोऽभिधीयन्तां दर्शनादयः। तदुच्यन्ते। (दर्शनम्?) दर्शनम् इत्यत्रापि च नस्त्रिकं चिन्त्यते। द्रष्टा दर्शनं दृश्यमिति। अत्र द्रष्टा सिद्धिः ज्ञानम्। द्रष्टव्यानि रूपाणि। तत् कृत्स्नेषु विषयेषु समासविस्तरविभागविशेषतश्च दर्शनं प्रवर्तत इत्यर्थः। तथा श्रवणम् इत्यत्रापि नस्त्रिकं चिन्त्यते। श्रोता श्रवणं श्रव्यमिति। तत्र श्रोता

यहाँ कहते हैं कि क्या यह शास्त्र प्रयोजन सिद्ध है? अर्थात् पुरुषार्थ प्राप्ति का साधन है? उत्तर देते हैं कि नहीं, योग निष्ठ है अर्थात् आत्मेश्वर संयोग ही लक्ष्य है। जिससे कहते हैं— साधक के युक्त होने पर भी पदार्थों की विभिन्नता, रङ्गविरङ्ग पताका के समान दिखाकर शिष्यों को प्रलोभित कर यह शास्त्र का उपदेश दिया जा रहा है।

सूत्रानुवाद— शिव सायुज्याधिकारी शिष्य को सद्गुरु के द्वारा दर्शन, श्रवण, मनन विशिष्ट ज्ञान के द्वारा योग में सहज प्रवृत्ति हो जाती है।।२१।।

भाष्यानुवाद— सूत्र में दूर शब्द का अभिप्राय यह है कि दर्शन आदि से विकरणान्त तक माहेश्वरेश्वर के ऐश्वर्य की प्राप्ति में दूर शब्द का अन्वय है। दर्शन श्रवण आदि में अधिकारी शिष्य का ही संकेत है। उसकी प्राप्ति चित्तवृत्तियों के निरोध से ही योग वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। कहते हैं– सूत्र में पठित दर्शनादि को स्पष्ट करते हैं— कहते हैं– दर्शन से यहाँ त्रिक का ग्रहण नहीं होता है। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य ही त्रिक है। द्रष्टा अर्थात् ज्ञानवान् सिद्ध। द्रष्टुं योग्य जो रूपात्मक है वह दृश्य है। अतः सम्पूर्ण विषयों में समास, विस्तर, विभाग और विशेष से ही दर्शन शब्द का ग्रहण होता है अतः त्रिक का चिन्तन नहीं करते। अर्थात् किसी भी प्रयोजन की सिद्धि में पहले लघु रूप तत्पश्चात् भेद प्रभेद अन्त में विशिष्ट रूप की निष्पत्ति होती है अतः त्रिक का दर्शन शब्द में समावेश नहीं है। उसी प्रकार श्रवण शब्द में भी त्रिक का

सिद्धः। श्रवणमस्य सिद्धिर्ज्ञानम्। श्रव्याः शब्दाः। तदस्य सिद्धस्य श्राव्येष्वर्थेषु समासविस्तरविभागविशेषतश्च श्रवणं प्रवर्तत इत्यर्थः। तथा मननम् इत्यत्रापि च नस्त्रिकं चिन्त्यते। मन्ता मननं मन्तव्यमिति। अत्र मन्ता सिद्धः। मननमस्य सिद्धिर्ज्ञानम्। मन्तव्यानि परचितानि। देवमनुष्यतिर्यग्योनीनां धर्मार्थकाममोक्षचित्तानां मन्ता भवतीत्यर्थः। तथा विज्ञानम् इत्यत्रापि नस्त्रिकं चिन्त्यते। विज्ञाता विज्ञानं विज्ञेयमिति। तत्र विज्ञाता सिद्धः। विज्ञानमस्य सिद्धिर्ज्ञानम्। विज्ञेया वृत्तयः। अस्य सिद्धस्य प्रवर्तन्ते स्वतः प्रादुर्भवन्तीत्यर्थः।।२१।।

अस्य ज्ञानमस्ति नेति? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

सर्वज्ञाता।।२२।।

अत्रोक्तेषु दृश्यश्रव्यादिषु च अशेषेषु सिद्धेश्वरपश्वादिषु निर्विशेषवाची सर्वशब्दो द्रष्टव्यः। ज्ञाता इत्यत्रापि च नस्त्रिकं चिन्त्यते। ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयमिति। तत्र ज्ञाता सिद्धः। ज्ञानमस्य सिद्धिर्ज्ञानम्। ज्ञेयं कार्यं कारणं सिद्धाश्चेति।

समावेश नहीं है क्योंकि समास, विस्तर, विभाग और विशेष प्रक्रिया के अनुसार श्रोता सिद्ध है, श्रवण सिद्धि और ज्ञान है, श्रव्य शब्द है अतः सिद्ध श्रोता के लिये समासादि के द्वारा श्रवण में ही अन्तर्भूत हो जाता है। उसी प्रकार 'मनन' में भी समासादि के द्वारा त्रिक का अन्तर्भाव हो जाता है। मन्ता पद से देव, मनुष्य और तिर्यग् योनि वाले ग्रहण किये जाते हैं किन्तु धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को चाहने वाले ही मन्ता होते हैं। उसी प्रकार विज्ञाता, विज्ञान और विज्ञेय को भी जानना चाहिए। वहाँ विज्ञाता सिद्ध है, विज्ञान सिद्धि ज्ञान है एवं विज्ञेय तदाकारिति वृत्ति है अतः त्रिक् का अन्तर्भाव समझना चाहिए। इस सिद्ध साधक में योग की वृत्तियाँ स्वतः उत्पन्न होती हैं।।२१।।

साधक ज्ञानी है या नहीं? कहते हैं— जिससे कहते हैं—

सर्व अर्थात् शिव का ज्ञानी है। यहाँ सर्व शब्द सभी पदार्थों का बोधक विशेषण न होकर परमशिव वाचक है। यहाँ भी ज्ञाता से त्रिक् का ग्रहण नहीं है अपितु ज्ञाता शब्द से परमशिव के ज्ञान में तात्पर्य है। त्रिक् को बताते हैं— ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय। ज्ञाता है अर्थात् ज्ञानवान् सिद्ध है, ज्ञाता है तो ज्ञान और ज्ञेय शब्द अपने आप सिद्ध हो जाते हैं। ज्ञेय क्या है? कहते हैं कार्य,

तस्मादेका ज्ञानशक्तिपरिमितेन ज्ञेयेनानेकेनानेकधोपचर्यते। स्फटिकादित्यवच्चास्य सर्वतः प्रवर्तत इत्यर्थः॥२२॥

आह–किमयं सिद्धो ज्ञानमात्रसन्तुष्टः पङ्गुवद्, उत क्रियाशक्तिरप्यस्ति नेति? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

मनोजवित्वम्॥२३॥

अत्रागन्तुकत्वात् सर्वज्ञानशक्तिरुक्ता। न तु ऋषित्वविप्रत्व-(अ.५, सू.२७)वदित्यर्थः। (यस्मात्?) अत्र मनोजववदित्येवं प्राप्ते समानोपमानत्वाद् मनोजवित्वम् इत्युक्तम्। मनोजवत्। आह—कोऽर्थः सूत्रस्य? उच्यते—यादृङ्मनसो जवित्वमाशुकारित्वम्, ईदृशमस्य सिद्धस्य कर्तृत्वे शीघ्रत्वम्। न चास्य प्रजापतिवत् तपोनिमित्तत्वाद् भावोत्तरा प्रवृत्तिः, किन्तु भावस्य बलीयस्त्वात् प्रवृत्तेरुत्पन्नस्वभावः,

---

कारण और सिद्ध है। उसी से एक ही ज्ञानशक्ति अपरमित होने से, ज्ञेय पदार्थ भेद भिन्न-भिन्नरूप होने पर भी सबका बोध होता है। जैसे स्फटिक मणि से बने स्तम्भ में रक्त पुष्प प्रतिबिम्बित होकर तदाकार भासित होता है॥२२॥

प्रश्न करते हैं— क्या सिद्ध साधक ज्ञान मात्र से सन्तुष्ट होकर क्रिया शून्य होता है या नहीं? क्रियावान् होता है? उत्तर देते हैं— क्रियावान् होता है— जैसा कि कहा गया है—

सूत्रार्थ— मन के समान सिद्ध साधक में आशुकारिता होती है॥२३॥

भाष्यार्थ— आगन्तुक शक्ति से तात्पर्य है कि साधक में सुप्त शक्ति, सद्गुरु के द्वारा जागृत होकर क्रियायोग में परिणत हो जाता है। न तु क्रमिक ज्ञान से ज्ञानवान् होता है, जैसा कि पंचम अध्याय के २७वें सूत्र में आया है कि तप के द्वारा ऋषित्व एवं विप्रत्व की प्राप्ति होती है। मन के वेग के समान तीव्रता होने से तत्कारण बुद्धि जागृत हो जाती है अतः मनोजवित्वम् कहा। कहते हैं— सूत्र का क्या अर्थ है? उत्तर देते हैं— जैसा मन वेगवान् होता है वैसा ही सिद्ध के कर्तृत्व में भी शीघ्रता होती है। न कि ब्रह्मा की शृष्टि के समान तप के पश्चात् क्रिया होती है। सिद्ध की प्रवृत्ति क्रिया में स्वाभाविक होती है। भाव की वरीयता पहले से ही उसमें विद्यमान है, उसी भाव को उपस्थापित कर देता है। विनष्ट ही विनाश को

करोमीति कृतमेव भवति। विनाशयामीति विनष्टं वा। कस्मात्? दृक्क्रिययोरप्रतीघातत्वात्। त्वमिति भावनिर्देशाद् गम्यते— वित्तमस्य शक्तिः सामर्थ्यम्। ऐश्वर्यमीदृशमित्यर्थः।।२३।।

आह—किमस्य सिद्धस्य कर्तव्यं करणं कुतो वा करोति? तदुच्यते—

कामरूपित्वम्।।२४।।

कामरूपी इत्यत्रापि च नस्त्रिकं चिन्त्यते। कामी कामः काम्यमिति। तत्र कामी सिद्धः। कामोऽस्येच्छा। काम्यानि रूपाणि। कथम्? कमु इच्छायां भवति। रूपाणि यावन्ति यादृशानि चेच्छति तावन्ति तादृशानि च करोति। आत्मायत्तानि चास्य रूपकरणानि पृथिव्यादीनि। विभुत्वाच्च करणानां यत्र यत्र रूपाण्यभिनिर्वर्तयति, तत्र तत्र चास्य बुद्ध्यादीनां करणानां वृत्तिलाभो भवति। चक्षुरादिवद् दृष्टान्तात्। नाधिष्ठाता इति चेत्? तच्च न। कस्मात्? यस्मादाह— रूपीति। अत्र रूपाण्यधितिष्ठतीति रूपी। दण्डिवत्। रूपीवचनाच्च सर्वेषामेव

प्राप्त होता है। कैसे? जगत् और क्रिया का कभी भी अभाव नहीं होता। तुम ऐसा कहने से क्रिया, शक्ति और ऐश्वर्य का स्वयमेव भान हो जाता है।।२३।।

प्रश्न करते हैं— सिद्ध का क्या कर्त्तव्य है और उसका साधन क्या है? उत्तर देते हैं सूत्र में—

सूत्रार्थ— सिद्ध की कामना ही योग में एकमात्र साधन है।।२४।।

भाष्यार्थ— कामना में ही त्रिक् का अन्तर्भाव है त्रिक् सिद्ध साधक से है, काम का अर्थ इच्छा है। काम का अर्थ विषय है। कैसे? उत्तर देते हैं। पाणिनि व्याकरण के अनुसार कमु धातु इच्छा के अर्थ में प्रवृत्त होता है। वह जैसा विषयाकारित होता है वैसा ही करता है। पृथिव्यादि करण के द्वारा अपने को तदाकारित किया जाता है तो वैसी ही क्रिया होती है। सिद्धयोगी के आत्मा के आधीन ही पृथिवी, अप, तेज, रूप करण यानी साधन होते हैं। करण अव्यापक होने के कारण अधिष्ठान में ही स्थित रहता है। जहाँ जहाँ करणों के द्वारा विषय का सम्पादन होता है वहाँ वहाँ बुद्ध्यादि अर्थात् मन और चित्त की वृत्तियों को लाभ होता है। जैसे ज्ञानेन्द्रिय चक्षु आदि विषय सन्निकर्ष से तदाकारित होती है। प्रश्न है कि जब इन्द्रियजन्य अन्तःकरण की

रूपाणां युगपदेवाधिष्ठाता भवति। विभुत्वादभिन्नो महेश्वरात्। इदं च रुद्रसायुज्य(अ.५, सू.३३)निर्देशाद् गम्यते। (त्वमिति भावनिर्देशाद् गम्यते) वित्तमस्य शक्तिः सामर्थ्यम्। ऐश्वर्यमीदृशमित्यर्थः।।२४।।

आह—परिमितेषु कृत्येष्वशक्तिदर्शनात् सन्देहः। अथ किमयं सिद्धस्तेषां स्वकृतानां रूपाणां संहारे शक्तः, उत विश्वामित्रवदशक्त इति? उच्यते। यस्मादाह—

विकरणः।।२५।।

अत्र वि विनाशे विनाकरणे। विकरणो भवति। विशिख विरथवत्। करणप्रतिषेधात् कार्यप्रतिषेधः कृतो भवति। कस्मात्? विशिष्टत्वाद् ग्राहकत्वाद् सूक्ष्मत्वाच्च करणानाम्। तस्माद् विकरण इति कैवल्यम्।।२५।।

वृत्तियाँ ही विषय सम्पादन में समर्थ है तो अधिष्ठाता कुछ नहीं? उत्तर देते हैं— ऐसा नहीं। कैसे? कहते हैं— रूपीति यहाँ अधिष्ठान में ही रूप रहता है अतः रूपी कहलाता है। जैसे दण्डधारी व्यक्ति ही दण्डी कहलाता है। सूत्र में रूपी वचन से तात्पर्य है कि सभी रूपों का एक साथ समावेश होने से ही अधिष्ठाता होता है। वह व्यापक माहेश्वर से सिद्ध अभिन्न है। जिस प्रकार सिद्ध रुद्र सायुज्य को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार रूप भी रूपी में विद्यमान हो जाता है। त्वम् शब्द जिस प्रकार क्रिया से सम्बन्धित है। साधक का ज्ञान ही शक्ति, सामर्थ्य और ऐश्वर्य है।।२४।।

प्रश्न करते हैं? दिग्, देश और काल से परिच्छिन्न अर्थात् परिसिमित, करने योग्य कार्यों में न्यून शक्ति का प्रदर्शन संदेह उत्पन्न करता है, उसी प्रकार क्या यह सिद्ध अपने से किये हुए कार्यों का विनाश कर सकता है? या विश्वामित्र क़े समान असमर्थ है? उत्तर देते हैं—

सूत्रार्थ— करण का अभाव होना ही विनाश है।।२५।।

भाष्यानुवाद— वि उपसर्ग का अर्थ विनाश है। करण का अभाव ही विनाश है जैसे रथरथी के अभाव में बाणों की उपयोगिता नहीं होती वैसे ही योगी विनाश करने में समर्थ है। कैसे? उत्तर देते हैं— सिद्ध सम्पन्न होने के कारण ज्ञान का जनक सूक्ष्म होने के कारण। अतः साधनों की परिसमाप्ति ही कैवल्य है।।२५।।

आह—अविशेषाद् इह सांख्ययोगादीनामपि सहैश्वर्येण कार्यकरणत्यागं कृत्वा कैवल्यनिष्ठा। इहापि च शास्त्रे। कथं तस्मादविशेषः? अथ मतिः, निरतिशये मोक्षे नास्ति वैषम्यम्, तथाप्यतिदानादिभिः साध्यसाधननिष्ठातोऽथ विशेष उच्यते, नाविशेषः। यस्मादाह—

धर्मित्वं च।।२६।।

अत्र गुणधर्मेणायं धर्मी भवति। यदेतद् दर्शनाद्यं विरकणान्तं माहेश्वरमैश्वर्यमस्येशप्रसादात् स्वगुणं संवृत्तं तेनायं गुणधर्मेण धर्मी भवति। कुतः? त्वमिति भावनिर्देशाद् गम्यते। ऋतेऽपि कार्यकरणे ज्ञाता कर्ता च भवति। ततश्च कैवल्याद्याः सर्वनिष्ठा विशेषिता भवन्ति। चशब्दोऽपि ज्ञानक्रियाशक्तिसमारोपणार्थः। एवमत्रास्य सिद्धस्य कामरूपिविकरणवचनात् स्वकृतेषु प्रभु(त्वं) गुणधर्मित्वं च व्याख्यातम्। एतद्युक्तोत्तरे प्रसादाद् गुणाः प्रवर्तन्त इत्यर्थः।।२६।।

अत्रेदमाधिकारिकमैश्वर्यप्रकरणं परिसमाप्तमिति।।

प्रश्न करते हैं? सांख्ययोगादि शास्त्रों में भी कार्यकरण के त्याग को ही कैवल्य निष्ठा कहते हैं तो क्या उनसे विशिष्ट है? उत्तर देते हैं— निरतिशय मोक्ष में तो कोई विशेषता नहीं है किन्तु अति, तप, यज्ञ स्वाध्याय और उपवास के द्वारा साध्य निष्ठा होने के कारण उन शास्त्रों से विशेष है। विशेष है? कैसे कहते हैं—

सूत्रार्थ— धर्मी होने से यह विशेष है।।२६।।

भाष्यार्थ— यहाँ माहेश्वर के गुण धर्मों को जो धारण करता है वह धर्मी कहलाता है। जो दूरदर्शन श्रवण से लेकर विकरण सूत्र तक जो माहेश्वर ऐश्वर्य का वर्णन है उन गुणों से युक्त होता है। वह धर्मीपद से ग्रहण होता है। कैसे? उत्तर देते हैं— त्वम् पद के निर्देश से परमशिव का अवगमन होता है। बिना कार्यकरण के भी वह ज्ञाता कर्ता होता है। ऐसा कहा गया है— "विनु पग चलै, सुनै विनु काना" इत्यादि। तत्पश्चात् ही निर्विकल्पक कैवल्य आदि से विशिष्ट होता है। सूत्र में च शब्द से ज्ञान, शक्ति, क्रिया का समावेश है। इस प्रकार यहाँ सिद्ध का कामरूपी से लेकर विकरण सूत्र तक प्रवृत्त प्रभुता, गुणधर्मिता की व्याख्या की गयी। इसके पश्चात् ही भगवान् के अनुग्रह से गुण स्वयमेव प्रविष्ट हो जाते हैं।

यहाँ आधिकारिक ऐश्वर्य प्रकरण समाप्त हुआ।

आह—किं परकृतेष्वपि देवमनुष्यतिर्यग्योनिरूपेष्वस्य सिद्धस्य प्रभुत्वं चास्ति नेति? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

सर्वे चास्य वश्या भवन्ति।।२७।।

अत्र सर्वे निरवशेषा: पशुधर्माण इत्यर्थ:। चशब्द: स्वकृतपरकृतरूपसमुच्चयार्थ:। परकृतेष्वपि देवादिरूपेषु प्रभुत्वं विभुत्वं चास्तीति। अस्य इति सिद्धस्येत्येत्यर्थ:। वश्या: विधेया:। वशवर्तिनश्च भवन्तीत्यर्थ:। भवन्ति इति भूतार्थवादो निस्संशयम्।।२७।।

आह– किमयं सिद्धस्तेषां कदाचिद् वश्यो भवति नेति? उच्यते– न। यस्मादाह—

सर्वेषां चावश्यो भवति।।२८।।

अत्रापि सर्वशब्द: पशुष्वेव। सर्वेषाम् इति न्यूनपरिग्रहे। चशब्दोऽभ्यधिकत्वे। अभ्यधिक उत्कृष्टो व्यतिरिक्तश्च भवतीत्यर्थ:। अवश्य इति। अकारो भूतपूर्वं

प्रश्न है— क्या दूसरे से जन्य देव, मनुष्य और पशु योनियों में भी इस सिद्ध का प्रभुत्व रहता है, या नहीं? कहते हैं— रहता है— जिससे कहा गया है—

सूत्रार्थ— सभी देव, मनुष्य और पशु पक्षी इसके अधीन हो जाते हैं।

भाष्यानुवाद— यह सर्व शब्द सभी बद्ध जीव से तात्पर्य है। च शब्द समुच्चय अर्थ में अर्थात् स्वकृत या परकृत कार्य हो वह सब के सब सिद्ध के आधीन हो जाते हैं। उन सब में सिद्ध का प्रभुत्व, विभुत्व विद्यमान है। अस्य शब्द सिद्ध के लिये प्रयुक्त है। वश्या: से तात्पर्य है सिद्ध के क्रिया क्षेत्र में हैं। अर्थात् आधीन हो जाते हैं। भवन्ति क्रिया भूतकालिक क्रिया का द्योतक है। अर्थात् निस्संदेह अपने आप वशीभूत हो जाते हैं।।२७।।

प्रश्न है? क्या सिद्ध किसी के आधीन होता है या नहीं? उत्तर देते हैं— नहीं। कहा गया है—

सूत्रार्थ— सभी पशुधर्मियों अर्थात् संसारी से अवश्य होता है, अर्थात् पृथग्धर्मी होता है।

भाष्यानुवाद— इस सूत्र में भी सर्व शब्द जीव मात्र के लिये है। यहाँ सर्वेषां से तात्पर्य किञ्चित् कर्तृत्व किञ्चित् ज्ञातृत्व, किञ्चित् तृप्तित्व जीव से है। च शब्द अतिशय बोधार्थक है। वह जीव से उत्कृष्ट और पृथग् होता है।

वश्यत्वं प्रतिषेधयति। भवति इति भूतार्थवादो निस्संशयम्। यदा गुणैर्युक्तः प्राप्तैश्वर्यः सिद्धस्तदा सर्वेषां शक्तेरवश्यो भवतीत्यर्थः॥२८॥

आह—किं स्वशक्त्याध्याक्रान्ता वश्या भवन्ति? आहोस्विद् धर्ममर्यादां रक्षन्ति गुरुशिष्यवत्? गुरोः शक्तः शिष्यो नाध्याक्रान्तः। यस्मादाह—

सर्वांश्चाविशति॥२९॥

अत्रापि सर्वशब्दः पशुष्वेव निरवशेषवाची द्रष्टव्यः। चशब्दः पूर्वोक्तसमुच्चये। न केवलमस्य ते वश्याः, किं त्वावेश्याश्चेति। अत्र आङ् इत्यावेशनमर्यादामधिकुरुते। विश प्रवेशने। स तस्य ज्ञानक्रिययोर्विभुत्वेऽपि शक्तिसंयोगादाविश्य प्रत्ययलोपं कर्तुं समर्थो भवतीत्यर्थः॥२९॥

आह—किमयं सिद्धस्तेषां कदाचिदावेश्यो भवति नेति? उच्यते—न। यस्मादाह—

अतः अवश्य कहा। अवश्य में जो अकार है वह भूतकालिक वश्यत्व का भी निषेध करता है। अर्थात् पहले भी किसी के वश में नहीं था, न है, न होगा। भवति पद अनादि पद वाचक है। प्राप्तैश्वर्य एवं गुणों से युक्त सिद्ध सभी पशुधर्मी शक्तियों से अवश्य है॥२८॥

प्रश्न करते हैं? क्या सिद्ध स्वशक्ति से अधिक्रान्त धर्म मर्यादा की रक्षा करता है? उत्तर देते हैं— गुरु की शक्ति से शिष्य युक्त होता है न कि स्वशक्ति से। जिससे कहा गया है—

सूत्रानुवाद— सभी पशुधर्मावलम्बी अपने आप सिद्ध में प्रविष्ट हो जाते हैं॥२९॥

भाष्यानुवाद— यहाँ भी सर्व शब्द सभी पशुधर्मावलम्बी के बोधक हैं। च शब्द समुच्चय अर्थ में है। केवल सिद्ध के वश में ही नहीं होते बल्कि अपने आप सिद्ध के ही होते हैं। यहाँ आङ् उपसर्ग मर्यादा अर्थ में है। विश् धातु प्रवेश अर्थ में है। वह ज्ञान, क्रिया से व्यापक होने पर भी गुरु शक्ति से युक्त होकर कर्तुमकर्तुं समर्थ हो जाता है। प्रश्न है— क्या यह सिद्ध उन पशुधर्मियों में कभी आविष्ट होता है या नहीं? उत्तर देते हैं— नहीं। कहा गया है॥२९॥

सर्वेषां चानावेश्या भवति।।३०।।

अत्रापि सर्वशब्दः पशुष्वेव। सर्वेषाम् इति न्यूनपरिग्रहे। चशब्दोऽभ्यधिकत्वे। अभ्यधिक उत्कृष्टो व्यतिरिक्तश्च भवतीत्यर्थः। अनावेश्य इति। अकारो भूतपूर्वमावेश्यत्वं प्रतिषेधयति। अनावेश्यधर्मा भवति। न व्याधिशेषवदवस्थानम्। भवति इति भूतार्थवादो निस्संशयम्। यदा गुणैर्युक्तः प्राप्तैश्वर्यः सिद्धस्तदा सर्वेषां चानावेश्यो भवतीत्यर्थः।।३०।।

आह—किमावेशनमात्र एव शक्तो यक्षरक्षःपिशाचादिवत्, उत प्राणैरपि विप्रयोगं यातनाभिश्च संयोगं कर्तुं शक्तो भवतीति? उच्यते—शक्तः। यस्मादाह—

सर्वे चास्य वध्या भवन्ति।।३१।।

अत्रापि सर्वशब्दः पशुष्वेव निरवशेषवाची द्रष्टव्यः। चशब्दः समुच्चये। न केवलमस्य ते वश्या आवेश्याश्च, किन्तु वध्याश्चेति। अस्य इति सिद्धापदेशे। वध्या इति। वधः प्राणविप्रयोगे यातनायां च। प्राणैरपि विप्रयोगं यातनाभिश्च संयोगं कर्तृं समर्थो भवतीत्यर्थः। भवन्ति इति भूतार्थवादो निस्संशये। यदा गुणैर्युक्तः प्राप्तैश्वर्यः सिद्धस्तदा सर्वे चास्य वध्या भवन्तीत्यर्थः।।३१।।

आह— किमयं सिद्धस्तेषां कदाचिद् वध्यो भवंति नेति? उच्यते— न! यस्मादाह—

सूत्रार्थ— सभी पशुधर्मियों में वह अनावेश्य होता है, अर्थात् उनमें वह कभी प्रविष्ट नहीं होता।

भाष्यानुवाद— पूर्वोक्त व्याख्या के अनुसार प्राप्तैश्वर्य गुणों से युक्त सिद्ध अनावेश्य होता है। अर्थात् पुनः इन योनियों को प्राप्त नहीं करता है।

प्रश्न है— क्या सिद्ध में यक्ष, राक्षस, पिशाचादि के समान पशुधर्मा आविष्ट होते हैं या प्राणों का हरण, व्याधि आदि के देने में भी समर्थ होते हैं? उत्तर देते हैं— सभी में समर्थ हैं किन्तु ऐसा करता नहीं। कहा गया है—

सूत्रार्थ एवं भाष्यार्थ— प्राप्तैश्वर्य गुणों से युक्त सिद्ध सब कुछ करने में समर्थ होता है। यही भाष्यानुवाद भी है।।३१।।

प्रश्न है?— क्या सिद्ध कभी किसी के द्वारा वध्य है या नहीं? उत्तर देते हैं—

सर्वेषां चावध्यो भवति।।३२।।

अत्रापि सर्वशब्द: पशुष्वेव। सर्वेषाम् इति न्यूनपरिग्रहे। च शब्दोऽभ्यधिकत्वे। अभ्यधिक उत्कृष्टो व्यतिरिक्तश्च भवतीत्यर्थ:। अवध्य इति। अकारो भूतपूर्वं वध्यत्वं प्रतिषेधयति। यदा गुणैर्युक्त: प्राप्तैश्वर्य: सिद्धस्तदा सर्वेषां चावध्यो भवतीत्यर्थ:। एवं परकृतेष्वपि देवादिशरीरेशु रूपेषु प्रभुत्वं च विभुत्वं च व्याख्याताम्।।३२।।

अत्रेदं षट्सूत्रीप्रकरणं परिसमाप्तम्।

आह—किमस्य सिद्धस्यैतदैश्वर्यं नित्यम्, आहोस्वित् पार्थिवाप्यतैजस-वायव्यव्योममानसाहङ्कारिकमहदात्मकादिवदनित्यमिति? उच्यते—नित्यम्। यस्मादाह—

अभीत:।।३३।।

अत्र अक्षयादि (अ.१, सू.३४) वचनविरोधाद् अभीतश्चरतीति पाठानुपपत्ति:। तस्मादतीतानागतवर्तमानकालभयं न विद्यत इत्यतोऽभीत:।।३३।।

आह—अभीतानामपि ब्रह्मादीनां संहारे क्षय: श्रूयते। तस्माद् नाभीतत्वात् नित्यम्। अभीतस्य वा किं लक्षणम्? तदुच्यते—

सूत्रार्थ एवं भाष्यार्थ— परकृत या स्वकृत के द्वारा सिद्ध सदा अवध्य होता है। शेषार्थ पहले अर्थ के अनुसार जानना। इस प्रकार परकृत देवादियों में विभुत्व, प्रभुत्व की व्याख्या सम्पन्न हुई।।३२।।

यहाँ षट्सूत्री प्रकरण समाप्त हुआ।

प्रश्न है?— क्या सिद्ध का ऐश्वर्य नित्य है या प्रकृति जन्य महाभूताहंकार बुद्ध्यादि के समान अनित्य है? कहते हैं— नित्य है। कहा गया है—

सूत्रार्थ एवं भाष्यानुवाद— सभी जगह विचरण करने में भय का अभाव हो यह अभीत पद का अर्थ है। इसलिये भूत, भविष्य और वर्तमान का जहाँ भय न हो वह अभीत है।।३३।।

प्रश्न है?— अभीत जो ब्रह्मादि देवता है वे भी अपने काल के अनुसार क्षय को प्राप्त हो जाते हैं ऐसा शास्त्र में सुना जाता है। अत: नित्य वही है जो क्षय को प्राप्त न हो तो इसलिये 'अभीत' का लक्षण क्या है? कहते हैं—

अक्षयः।।३४।।

अत्र अकारः क्षयप्रतिषेधे। अत्र क्षयो नाम सति पुरुषनित्यत्वे पूर्वमस्य ब्राह्मणस्य तैस्तैरैश्वर्यैरपकर्षः। आहङ्कारिकमहदात्मकादिभिरनित्ययोगः। अयं त्वनेन नित्येन माहेश्वरेणैश्वर्येण योगात् पुरुषः 'अक्षयः' इत्युपचर्यते। राजकोशवत् कुटुम्बिद्रव्यवत्।।३४।।

आह—ईश्वराणामपि ययातिप्रभृतीनां जराभिभवनादथ किमयं जीर्यते नेति? अक्षयस्य वा किं लक्षणम्? तदुच्यते—

अजरः।।३५।।

अत्र अकारो जरां प्रतिषेधति। अत्र जरा नाम पलितस्खालित्यादिलक्षणा कार्यस्य, दृक्क्रियाशक्तिहानिश्च करणानाम्। कस्मात्? तत्फलभोक्तृत्वादयं जीर्यत इत्युपचर्यते। इदानीं तु कामित्वाद् विकरणधर्मित्वाच्च (अ.१, सू.२४-२६) नास्तीत्यतः 'अजरः' इत्युच्यते।।३५।।

सूत्रार्थ— जिसका क्षय न होता हो वही नित्य कहलाता है।।३४।।

भाष्यानुवाद— अकार क्षय का निषेध बोधक है। क्षय से तात्पर्य है कि पुरुष नित्य होने पर भी पहले ब्राह्मणशरीर पश्चात् क्षत्रिय, वैश्य और शुद्रादि में प्राप्त ऐश्वर्य का नष्ट होना ही क्षय है। जैसे प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार आदि का योग है वह अनित्य कहलाता है। यह सिद्ध तो माहेश्वर ऐश्वर्य के योग पुरुष अक्षय ऐसा व्यवहृत होता है। यथा राजकोष। राजकोष का अधिकारी परिवार के समान अक्षय है।।३४।।

प्रश्न है?— समर्थवान् ययाति आदि राजाओं में भी जरा, मृत्यु आदि देखी जाती है तो क्या सिद्ध अपक्षय को प्राप्त होता है या नहीं? अक्षय का क्या लक्षण हैं बतावें? उत्तर देते हैं—

सूत्रार्थ— वह जीर्ण नहीं होता।।३५।।

भाष्यानुवाद— अकार जरा का प्रतिषेधक है। यहाँ जरा से तात्पर्य है, शरीर का बाल पक जाना, शरीर में विकृति हो जाना, दृष्टि और क्रिया में असमर्थता आना, ये सभी कार्य और करण हैं, कार्य और करण की जीर्णता देखी जाती है। कैसे? उत्तर देते हैं— प्रकृति के फल को भोक्ता होने से जीर्णता का व्यवहार होता है। सिद्ध तो बिना साधन के इच्छावान् और क्रियावान् है। अतः उसे अजर ऐसा कहा जाता है।।३५।।

आह—अजराणामपि देवादीनां संहारादर्वाङ् मृत्युर्दृश्यते। अथ किमस्य मृत्युर्विद्यते नेति? अजरस्य वा किं लक्षणम्? तदुच्यते—

अमरः।।३६।।

अत्र अकारो मृत्युप्रतिषेधे। मृङ् प्राणत्यागे। अत्र प्राणादिवृत्तिनिरोधो मृत्युरित्युच्यते। कस्मात्? तत्फलभोक्तृत्वात्। सोऽस्य कामित्वाद् विकरणधर्मित्वाच्च (अ.१, सू.२४-२६) नास्तीत्यतः 'अमरः' इत्युच्यते। तस्मादभीताक्षयादि-वचनान्नित्यमैश्वर्यमिति सिद्धम्।।३६।।

आह—

सर्वत्र चाप्रतिहतगतिर्भवति।।३७।।

सर्वत्र अभिप्रेतार्थेषु प्रवर्तमानस्य महेश्वरेणापि अप्रतिबन्धधर्मित्वं अप्रतीघातः।।३७।।

इत्येतैर्गुणयुक्तो भगवतो महादेवस्य महागणपतिर्भवति।।३८।।

प्रश्न है?— देवादि अजर होते हुए भी "क्षीणे पुण्ये मृत्युलोकं विशन्ति के अनुसार क्षय को प्राप्त होते हैं? तो क्या सिद्ध की मृत्यु होती है या नहीं? अजर का क्या लक्षण है? उत्तर देते हैं—

सूत्रार्थ— उनकी मृत्यु नहीं होती।।३६।।

भाष्यानुवाद— सूत्र में अकार मृत्यु का प्रतिषेधक है। मृङ् धातु प्राणत्याग अर्थ में है। यहाँ प्राणादि जो वृत्तियाँ अर्थात् पञ्च प्राणों का जो व्यापार है उसका निरोध हो जाता है उसी निरोध को ही मृत्यु शब्द से ग्रहण किया जाता है। कैसे? प्राणादि वृत्तियों के फल भोक्ता होने से। वह मृत्यु आदि, विकरण धर्मी सिद्ध होने के चलते इनके पास नहीं आती। अतः अमर कहे जाते हैं। इसलिये ये अभीत, अक्षय, अजर और अमर शब्द से जाने जाते हैं, क्योंकि इनका ऐश्वर्य नित्य है।

कहते हैं—

सूत्रार्थ— सभी कालों में इनकी गति निर्बाध होती है।।३७।।

भाष्यानुवाद— सभी जगह अभीष्ट अर्थों में व्यवहार करने वाले माहेश्वर की शक्ति जिस प्रकार निर्बाधित है वैसे ही सिद्ध की भी है।

सूत्रार्थ— पूर्वोक्त गुणों से युक्त महादेव भगवान् महागणपति कहलाता है। वे पूर्वोक्त गुण क्या-क्या हैं, भाष्य से स्पष्ट है।।३८।।

इत्येतैः पूर्वोक्तैर् अवश्यत्वानावेश्यत्वावध्यत्वाभीतत्वाक्षयत्वाजरत्वामरत्वाप्रतीघाततत्वाख्यैर् अष्टभिर्गुणैः सिद्धिलक्षणैर्युक्तो भगवतो महादेवस्य महागणपतिर्भवति। सर्वपशुभ्योऽभ्यधिकत्वमैश्वर्यातिशयाद् महत्त्वम्। गणा नन्दिमहाकालादयः। सर्वपश्वादिकार्यस्वामित्वं पतित्वम्।।३८।।

एवमध्यायपरिसमाप्तिं कृत्वा युक्तं वक्तुम्—

अत्रेदं ब्रह्म जपेत्।।३९।।

....]

बृहच्च तेभ्यः सर्वब्रह्मभ्यः स्वयं भवति। जपेद् इति च मानसक्रिया। जप्यं प्रत्यवगन्तव्यम्। उक्तं हि—

जपयज्ञस्तु यज्ञानां विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशु स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः।।

भाष्यार्थ— अवश्यत्व, किसी के अधिकार में न होना, अनावेश्यत्व, किसी व्याधि आदि दोषों का प्रवेश न होना, अवध्यत्व, किसी के द्वारा वध्य न होना, अभीतत्व-अबाधित गति होना, अक्षयत्व-क्षय न होना, अजरत्व-जीर्णता का न होना, अमरत्व-मृत्यु का न होना ये सभी अष्ट सिद्धि के लक्षणों युक्त भगवान् महादेव ही महागणपति होता है। सभी जीवों से ऐश्वर्यातिशय होने से ही पतित्व सिद्ध है। गण से तात्पर्य है नन्दि, महाकाल आदि भी सिद्ध हैं किन्तु इनसे भी वह विशिष्ट हैं। सभी जड़ चेतन के अधिष्ठान स्वरूप होने से उनमें स्वामित्त्व सिद्ध है।

इस प्रकार अध्याय समाप्ति कर जो युक्त है उनके लिये कहते हैं।

सूत्रार्थ— पूर्वोक्त गुण विशेषण विशिष्ट ब्रह्म का जप करना चाहिए।।३९।।

भाष्यार्थ— सबसे ज्येष्ठ श्रेष्ठ जो होता है वह ब्रह्म कहलाता है। जपेत् से तात्पर्य है अनवरत चिन्तन करना। ब्रह्म ही जप्य है जो मानसी क्रिया है।

सभी यज्ञों में जप यज्ञ दस गुणित श्रेष्ठ है। उससे उपांशु जप शतगुणित श्रेष्ठ है, मानसी जप तो हजार गुणित श्रेष्ठ कहा गया है। इसलिये मानसी जप करना चाहिए। प्रश्न है— किसलिये ऐसा करना चाहिए? उत्तर देते हैं—

अतो मनसैव जप्तव्यम्। किमर्थमिति चेत्? तदुच्यते—अधर्मव्युच्छित्त्यर्थं धर्मस्य चाभिवृद्ध्यर्थं तस्य चाकुशलेभ्यो व्यावर्तनार्थं ब्रह्मण्यनवरतपङ्क्त्यामुपनिबन्धनार्थं चेत्यर्थः।।३९।।

आह—किं पुनस्तद् ब्रह्मेति? अत्रोच्यते—सद्योजाताद्यम्। अथवात्र ब्रह्माध्याययोर्दूरस्थः सम्बन्धः। कथम्? पशुपतेरित्युक्ते सन्देहः। किं नरपतिसुरपतिप्रजापतिप्रभृतिवदस्यैश्वर्यं कृतमनित्यमागन्तुकं वा? किं चास्य जन्म मृत्युर्वा विद्यते नेति? उच्यते—न। यस्मादाह—

सद्योऽजातं प्रपद्यामि।।४०।।

अत्र सद्यः (इत्य)स्मिन् पदेऽर्थद्वयं चिन्त्यते। संश्च आद्यश्च। आप्तिपालनवत्। अत्र सदिति नित्यत्वे। कस्मात्? विनाशहेत्वभावात्। नित्यं ध्रुवमविनाशि पत्युः पतित्वं नान्येषाम्, इत्यतोऽभिधीयते सदिति। आह—(किम्) अयमादिमत्त्वे

अधर्म का नाश धर्म की वृद्धि के लिये मानसी जप करें तथा अकुशलता अर्थात् अदक्षता को दूर करने के लिये एवं ब्रह्म में निरन्तर चित्तवृत्ति की स्थापना के लिये मानसी जप करना चाहिए।।३९।।

प्रश्न है? — इदं ब्रह्म का जप करना चाहिए तो यह ब्रह्म क्या है? उत्तर देते हैं— इदं ब्रह्म निर्गुण निराकार है। यथा— सद्योजाताद्यम्। अथवा साधक साध्य का जो दूरस्थ सम्बन्ध भाषित हो रहा है, वह ब्रह्म है। कैसे? पशुपति कहने से स्वामी सेवक सुतरां आ जाता है। प्रश्न है? क्या जिस प्रकार नरपति, सुरपति, प्रजापति आदि के समान ही पशुपति कार्य, अनित्य और आगन्तुक हैं? अथवा जन्म, मृत्यु से युक्त है? या नहीं। उत्तर देते हैं— नहीं। प्रमाण देते हैं—

सूत्रानुवाद— जो सद् है सबका आदि है, अजात है उसके शरण में मैं हूँ।।४०।।

भाष्यानुवाद— इस सूत्र में सद्य पद का दो अर्थ करते हैं— (१) सत् (२) आद्य। यथा— पहले प्राप्ति तो दूसरा पालन अर्थात् किसी वस्तु की प्राप्ति के पश्चात् ही रक्षा का भार होता है। कैसे? विनाश के कारण का अभाव होने से सद् है। नित्य, ध्रुव, अविनाशी पति का ही पतित्व अर्थात् स्वामित्व होता है न कि मरणधर्मा शरीर का। अतः सद् पद व्यवहृत है। प्रश्न

सदनित्यो मोक्षवत्? उच्यते—न। यस्मादाह—आद्यः। तद्व्यतिरिक्तस्य हेतोरसम्भ-वादाद्यमनागन्तुकं पत्युः पतित्वं नान्येषामित्यर्थः। आह—किं नित्यानादित्वे सति पुरुषवज्जायते? उच्यते—न। यस्मादाह—अजातः। अत्र अकारो जन्ममृत्युप्रतिषेधे। जन्ममृत्युरहितो भगवान् निरञ्जनः। कस्मात्? साञ्जनवृत्त्यलाभात्। निरभिमानित्वं नान्येषामित्यतः। अजातमिति कर्म। आह—अथैतत् सत्त्वमाद्यत्व-मजातत्वं च गुणं कारणे ज्ञात्वा साधकेन किं कर्तव्यम्? तदुच्यते—प्रपत्तव्यम्। यस्मादाह— प्रपद्यामि। (मि इ)ति साधकापदेशः। यथा—"अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि" इति। अत्र प्रशब्दः कारणान्तरेषु सत्त्वाद्यत्वाजातत्वप्रतिषेधार्थो भृशार्थश्च। तस्मात् सर्वभावानभिष्वङ्गेण तदेव कारणं प्रपत्तव्यम्। शरणमभ्युप-गन्तव्यमित्यर्थः॥४०॥

आह—अत्र प्रपन्नः किं करिष्यति? किं वा दास्यति? तदुच्यते—पूजां करिष्यत्यात्मानं च दास्यति। यथाह—

है— जब कोई वस्तु आदि है तो सद् और नित्य मोक्ष के समान कैसे होगा? उत्तर देते हैं— ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वह सबका आदि है। इसके अतिरिक्त कोई वस्तु आदि अनागन्तुक, पतित्व को धारण करने वाला नहीं है। प्रश्न है— क्या वह ब्रह्म पुरुष के समान अनादि और नित्य है? उत्तर देते हैं — नहीं। क्योंकि वह ब्रह्म अजात है। अकार से तात्पर्य है— जन्म और मृत्यु का कभी न होना। भगवान् जन्म मृत्यु से रहित तथा सुखदुःखादि धर्मों से रहित है, निरञ्जन हैं। कैसे? क्लेश, कर्म विपाकादि से अपरामृष्ट होने एवं निरभिमानी होने के कारण। अजात पद कर्म है। कहते हैं— कारण में सत्त्व, आद्यत्व, अजातत्व आदि गुणों को जानने के बाद साधक को क्या करना चाहिए? तो उत्तर देते हैं— शरणागत होना चाहिए। अतः सूत्र में प्रपद्यामि पद प्रयुक्त है। ये साधक के लिये कहा गया है। यथा— हे अग्नि हे व्रतपति मैं आपका व्रत अर्थात् अनुष्ठान करूँगा। प्रपद्यामि में प्र उपसर्ग का अर्थ कारणान्तर का प्रतिषेध है और बाहुल्य अर्थ अर्थात् निरतिशयिता का बोधक है। अतः सभी लोक धर्म आदि से रहित होकर कारणब्रह्म की शरणागति में जाना चाहिए॥४०॥

कहते हैं जो शरणागत है वह क्या करता है? क्या देता है? उत्तर देते हैं— वह पूजा तथा आत्म समर्पण करता है। जैसा कहा गया है—

सद्योऽजाताय वै नमः।।४१।।

आह—सत्त्वमाद्यमजातत्वं च पूर्वोक्तम्। सद्योऽजाताय इति चतुर्थी। वैशब्दः सम्भावने। सत्त्वमाद्यत्वमजातत्वं च धर्मान् सम्भाव्य ब्रवीति—सद्योऽजाताय वै नमः। नम इत्यात्मप्रदाने पूजायां च। नमस्कारेणात्मानं प्रयच्छति, पूजां च प्रयुङ्क्ते इत्यर्थः।।४१।।

आह—किंप्रयोजनमात्मानं महेश्वराय प्रयच्छति? किमस्य दुःखं वा? किं वा महेश्वरान्मृगयते? किं वा स्वयमुत्पादितानुगृहीततिरोभावितानां पशूनां पतिः, उत परैरिति? उच्यते—स्वयम्। यस्मादाह—

भवे भवे नातिभवे।।४२।।

अत्र भवे भवे इति वीप्सा। भव इति विद्याकलापशूनां समस्तानां ग्रहणम्। भवः कस्मात्? भवनभावनकृतत्वात्। यस्माद् देवमनुष्यतिर्यक्त्वेन (भवति) भावयति च तानीश्वरः। धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याणां

सूत्रार्थ— सद्योऽजात ब्रह्म को वन्दन, नमन, प्रार्थना करनी चाहिए।।४१।।

भाष्यानुवाद— ब्रह्म की विशेषता में सत्त्व, आद्यत्व, अजातत्व पहले कहा जा चुका है। इस सूत्र में नमः के योग में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग है। वै शब्द निश्चय और सम्भावना में प्रयुक्त है। प्रयुक्त धर्मों की सम्भावना से ही कहते हैं— सद्योऽजाताय वै नमः। नमस्कार से पूजा और आत्मसपर्मण करता है।।४१।।

प्रश्न है— किस उद्देश्य से अपने को माहेश्वर के लिये समर्पित करता है? क्या दुःख नाश के लिये अथवा माहेश्वर की प्राप्ति के लिये? अथवा जो स्वयं सृष्टि, स्थिति और संहार करते हैं वही पशुपति है अथवा कोई दूसरे हैं? उत्तर देते हैं स्वयम् हैं। जिससे कहा गया है—

सूत्रार्थ— वही पशुपति है जो जगत् का निर्माण, पालन और संहार पुनः-पुनः करते हुए भी अनतिशय हैं।।४२।।

भाष्यानुवाद— पुनः पुनः के अर्थ में भवे भवे का प्रयोग है। भव से विद्या, कला और समस्त जीवों से तात्पर्य है। भवः कैसे हैं? उत्तर देते हैं— समस्त कार्यों के अधिष्ठानभूत होने के कारण। जिससे देव, मनुष्य, पशु,

भवनभावनत्वाद् भवः। तस्य भूयोभूय उत्पत्त्यनुग्रहतिरोभावं च दृष्ट्वा। वीप्साया उत्पत्तावुत्पत्तावनुग्रहेऽननुग्रहे तिरोभावेऽतिरोभावे चेत्यर्थः। नातिभवे इति। नकारः कार्यत्वं प्रतिषेधयति। अतिशयितभवेषु मा भवामीत्यर्थः।।४२।।

आह—किं भवाद् वियोगमात्रमेवैकं मृगयते? तदुच्यते—न। यस्मादाह—

भजस्व माम्।।४३।।

अत्र भज इत्यनुग्रहे। स्व इति कारणापदेशे। माम् इत्यात्मापदेशे। भजस्व मां त्रायस्व मां अनुगृह्णीष्व मामित्यर्थः।।४३।।

आह—कम् आमन्त्रयते? कं प्रपद्यते? कस्मै नमस्कारं करोति? कस्तं पुरुषं भवाद् मोक्षयति? कं वा ब्रवीति भजस्व मामिति? यस्मादाह—

पक्षी उत्पन्न होते हैं अर्थात् अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं वही ईश्वर पद वाच्य है। आठ प्रकार के भावों के रहने से भव ही उत्पादक और उत्पत्तिकर्ता कहे जाते हैं। वे धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य हैं। उसका पुनःपुनः उत्पत्ति, अनुग्रह, तिरोभाव देखा जाता है। बारबार का तात्पर्य है उत्पत्ति, अनुत्पत्ति अनुग्रह, अननुग्रह, तिरोभाव और अतिरोभाव। अतिभव में जो नकार है उसका कार्यत्व का निषेध है अर्थात् दृश्य को दोषों से अपरामृष्ट है। अत्यधिक का अर्थ ग्रहण न किया जाय अतः नातिभवे कहा गया।

प्रश्न है— भव पद से अर्थात् धर्मों से धर्म का पृथग् होना ही ग्रहण होता है? उत्तर देते हैं— नहीं। क्योंकि कहा गया है—

सूत्रार्थ— मुझे भजो अर्थात् आत्मसात् करो।।४३।।

भाष्यानुवाद— यहाँ भज पद अनुग्रह, कृपा अर्थ में है। स्व पद से कारण का कथन है। माम पद से आत्मा का ग्रहण है। भजस्व अर्थात् स्व की रक्षा करो, अपनाओं से तात्पर्य है अतः ईश्वर से पृथग् होना नहीं अपितु युक्त रहना है।।४३।।

प्रश्न है— ईश्वर किसको बुलाते हैं? किसका शरण्य होते हैं? किसका नमस्कार ग्रहण करते है।? किस पुरुष को मोक्ष देते हैं? अथवा किससे कहते हैं कि मुझे भजो? उत्तर देते हैं—

भवोद्भवः।।४४।।

अत्र भव इति विद्याकलापशूनामेव ग्रहणम्। तस्योत्पत्तिकर्ता भगवानित्यतो भवोद्भव इति। अत्रोत्पादकानुग्राहकतिरोभावधर्मि कारणम्, उत्पाद्यानुग्राह्यतिरोभावधर्मि कार्यमित्येतत् कार्यकारणयोर्लक्षणम्। एतस्मिन् कारणे प्रपत्त्यादि क्रमोपयोगि द्रष्टव्यम्।।४४।।

एवमत्र भगवत्कौण्डिन्यकृते पञ्चार्थभाष्ये प्रथमोऽध्यायः सह ब्रह्मणा ग्रन्थतोऽर्थतश्च परिसमाप्त इति।।

सूत्रानुवाद— भगवान् नित्य है, भव अर्थात् जगत् भी है, उसकी उत्पत्ति कर्ता नित्य भगवान् हैं अतः भवोद्भवः हैं।।४४।।

भाष्यानुवाद यहाँ उत्पादकता, अनुग्राहकता और तिरोभाविता धर्मी कारण हैं। उत्पन्न करने योग्य, कृपा करने योग्य, तिरोहित करने योग्य हैं वही कार्य है। यही कार्य कारण का लक्षण है। इसी कारण में प्रपत्ति नमस्कार आदि का क्रम से सम्बन्ध जानना चाहिए।

इस प्रकार भगवान् कौण्डिन्यकृत पञ्चार्थ भाष्य में पहला अध्याय शब्द ब्रह्म अर्थ ब्रह्मरूप में समाप्त हुआ।

◆·◆·◆

द्वितीयोऽध्यायः

इदानीं द्वितीयमध्यायमवसरप्राप्तं कार्यकारणविशेषेण सम्बन्धं कृत्वा वक्ष्यामि (वक्ष्यामः)।

आह—यद्येवं तस्माद् उच्यतां कः सम्बन्धः? तदुच्यते। यदुक्तं पुरस्ताद् भवोद्भव इति।

वामः।।१।।

नामभिः श्रेष्ठ इत्यर्थः। उक्तं हि—

पुरुषध्वजशृङ्गेषु हविर्भूषणलक्ष्मसु।
वामः श्रेष्ठेष्ववक्रेषु नवस्वर्थेषु कीर्तितः।।

इति।।१।।

आह—किंनिमित्तास्योत्पादकादिप्रवृत्तिः, किंप्रयोजना वा? तदुच्यते—

देवस्य।।२।।

प्रसङ्गानुसार इस दूसरे अध्याय में कार्यकारण का सम्बन्ध क्या है इसके सम्बन्ध में कहेंगे।

कहते हैं— कार्यकारण में क्या सम्बन्ध हैं बतावें? उत्तर देते हैं— पहले कहा जा चुका है भवोद्भव अर्थात् उत्पाद्य-उत्पादक भाव अर्थात् कार्यकारण भाव सम्बन्ध है।

सूत्रानुवाद— वामदेव नाम भी शिव पद वाच्य है।।१।।

एक धर्मी में अनेक नाम, रूप, शक्ति रूप से विद्यमान रहते हैं। अतः नामों से भी श्रेष्ठ होने के कारण नामनामी का सम्बन्ध है।

कहा गया है— पुरुष, ध्वज, शृङ्ग, हवि, भूषा, लक्ष्म, वाम, श्रेष्ठ, अववक्र नामों में नव अर्थों का समावेश है। धर्मी में धर्म का सम्बन्ध माना जाता है।।१।।

प्रश्न है— किस कारण से सृष्ट्यादि में ईश्वर की प्रवृत्ति होती है, अथवा उसका उद्देश्य क्या है? उत्तर देते हैं— देवस्य।।२।।

इति। अत्र देव इति दिवु क्रीडायाम्। क्रीडाधर्मित्वात् क्रीडानिमित्ता। क्रीडावानेव स भगवान् विद्याकलापशुसंज्ञकं त्रिविधमपि कार्यमुत्पादयन् अनुगृह्णाति तिरोभावयति चेत्यतो देवः। प्रवृत्तिश्चोत्पत्त्यादिफला द्रष्टव्या। देवस्य इति तद्धर्मित्वे षष्ठी॥२॥

आह—किं नामद्वयमेवात्र कारणे वितन्यते? अर्थद्वयमेव वा? आहोस्विद् अन्यदप्यस्ति नेति? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

ज्येष्ठस्य॥३॥

इति। अत्र परत्वाज्ज्येष्ठः। केषां केन वा परः? तदुच्यते—सिद्धसाधकपशूनाम्। तदायत्तत्वात् सिद्धसाधकभावस्य, सर्वपशूनां च प्रवृत्तिनिवृत्तिस्थित्यादिफलानाम् इत्यतो ज्येष्ठः परतरः परतमश्चेति। अकृतकं चास्यैश्वर्यम्। उक्तं हि—

दृक्क्रियालक्षणा शक्तिस्तत्त्वधर्मोऽस्य नित्यता।
श्रेष्ठोऽतः सर्वभूतेषु तस्मादेष परः स्मृतः॥

इत्येवं परत्वाज्ज्येष्ठः। अत्रापि ज्येष्ठस्येति तद्धर्मित्वे षष्ठी॥३॥

भाष्यानुवाद— यहाँ देव शब्द क्रीड़ा अर्थात् खेल अर्थ में है। पशुपति या ब्रह्म या देव खेल धर्मी होने के कारण क्रीड़ा ही निमित्त है। क्रीड़ा धर्मी भगवान् ज्ञान, इच्छा और क्रिया रूप कार्य को उत्पन्न कर सृष्टि, स्थिति, संहार करता रहता है, अतः उसे देव कहते हैं। उत्पत्ति आदि की प्रवृत्ति जो भगवन्निष्ठ है वह उत्पत्त्यादि कला हुई। देवस्य में जो षष्ठी है वह धर्मी में विद्यमान जो धर्म है उस सम्बन्ध में षष्ठी है॥२॥

प्रश्न है?— क्या वाम और देव नाम ही कारण का विस्तार एवं अर्थों का विस्तार करते हैं या दूसरे भी नाम हैं? कहते हैं दूसरे भी हैं— ज्येष्ठस्य॥३॥

यहाँ कारण पशुपति कार्य से ज्येष्ठ है। प्रश्न है किससे कौन ज्येष्ठ है? उत्तर देते हैं— साधक से सिद्ध ज्येष्ठ है। पशु से साधक ज्येष्ठ है। उसकी सीमा में रहने के कारण सिद्ध, साधक और सर्व पशु प्रवृत्ति, निवृत्ति और स्थिति इत्यादि फलों से युक्त होने के कारण ईश्वर ज्येष्ठतर और ज्येष्ठतम है। इसका ऐश्वर्य अकृत्रिम है अर्थात् स्वाभाविक है। कहा गया है— इसका देखना, सुनना, शक्ति, चिह्न, तत्त्व, धर्म ये सभी नित्य होते हैं। अतः सभी भूतों से यह ज्येष्ठ श्रेष्ठ होता है। यहाँ भी ज्येष्ठ में जो षष्ठी है धर्मित्व में हैं॥३॥

आह–किं (नाम) त्रयमेवात्र कारणे चिन्त्यते, अर्थत्रयमेव वा, आहोस्विद् अन्यदप्यस्ति नेति? उच्यते—अस्ति।

रुद्रस्य।।४।।

इति। अत्र रुत(स्य भयस्य) द्रावणात् संयोजनाद् रुद्रः। तत्र रुतं (संज्ञा?) अभिलाप इत्यनर्थान्तरम्। द्रावणं नाम (संयोजनम्) भयं विविधम्। उक्तं हि—

नानाविधैः कृतैर्यस्माद् भयैश्च विविधैस्तथा।
संयोजयति भूतानि तस्माद् रुद्र इति स्मृतः।।

अत्रापि तद्धर्मित्वे षष्ठी।।४।।

आह—किं तत्? कीदृशं वा तदस्येति? उच्यते—

कलितासनम्।।५।।

अत्र त्रिविधेन कार्येण विद्याकलापशुसंज्ञकेन तत्रैव स्थित्युत्पत्तिप्रलयान् प्राप्नुवता कलितं शोभितशब्दितं, नभस्ताराभिरिवेत्यर्थः। आह—यदेतत् पत्युः पतित्वं शक्तिः सामर्थ्यमैश्वर्यं स्वगुणः सद्भावः सतत्त्वं तत्त्वधर्मः, तद्

प्रश्न करते हैं? ये तीन ही, शब्द और अर्थ, विस्तार के कारण हैं, या अन्य भी? कहते हैं और भी है—

सूत्रानुवाद— रुद्र नाम से भी कार्य का सम्बन्ध है।।४।।

भाष्यानुवाद— यहाँ रुत का अर्थ भय है, भय का जो संयोजन करता है उसे रुद्र कहते हैं। भय अनेक प्रकार के होते हैं— कहा गया है— अनेक प्रकार के भयों का निर्माता होकर भूतों अर्थात् जीवों में जो प्रदान करता है वह रुद्र पद से सम्बोधित होता है। यहाँ भी धर्मित्व में ही षष्ठी है।।४।।

प्रश्न है? वह क्या है, कैसा है और क्या सम्बन्ध है? उत्तर देते हैं— दिव्याधिष्ठान है।।५।।

भाष्यानुवाद— जिस प्रकार आकाश, ताराओं से सुशोभित होता है उसी प्रकार यह पशुपति त्रिविध कार्यों की उत्पत्ति, स्थिति, तिरोभाव करने से सुशोभित है। सबका पतित्त्वरूप शक्ति, सामर्थ्य, ऐश्वर्य, गुण, सद्भाव और तत्त्वधर्म ही उसका आसन है। इसी पर स्थित होकर देदीप्यमान होता है। यहाँ आसन पद्मासन आदि से तात्पर्य नहीं है। प्रश्न है— आसन क्यों? इसमें ये

आसनम्। न तु पद्मासनवदुपवेशनलक्षणमित्यर्थः। आसनं कस्मात्? आस्तेऽस्मिन् आसनम्। कार्यमनेन वा अध्यास्त इत्यासनमित्यर्थः। अत आसनम्। अतोऽव्ययोऽमृतो भगवान् कामतः स्वशक्तिस्थं कार्यं स्वशक्त्या अध्यास्ते। तस्मादासनस्थं कार्यं कारणं चेति।

आह—कार्यकारणयोर्वृत्तिसङ्करदोषो गोजाविमहिषीक्षीरवत्। तदुच्यते—न। अङ्गुल्यग्ररूपादित्यसङ्करः। दीपादित्यप्रकाशनयनरश्मिवच्चासङ्करः। आह—सङ्करेऽपरिच्छेददोषः, ईश्वरपुरुषविद्याकलानां माक्षिककीटद्रव्यवत्। तदुच्यते। एकोत्तरोत्कर्षेण व्याप्यव्यापकभावेनावस्थितानां तत्त्वादीनां नापरिच्छेददोषः। सूत्रत्वाद् व्यापकं महेश्वरतत्त्वम्, व्याप्यं पुरुषादिपञ्चविंशकम्। तथा आत्मत्वाद् व्यापकं पुरुषतत्त्वम्, व्याप्यं प्रधानादिचतुर्विंशकम्। तथा व्यापकं प्रधानं व्याप्यं बुद्ध्यादित्रयोविंशकम्। व्यापिका भवति भवति बुद्धिः, व्याप्यमहङ्कारादिद्वाविंशकम्। तथा व्यापको भवत्यहङ्कारः, व्याप्यान्येकादशेन्द्रियाणि, दशविधं च कार्यम्। व्यापकान्येकादशेन्द्रियाणि, (व्याप्यानि पञ्चभूतसूक्ष्माणि शब्दादीनि)। तथा

पदार्थ विद्यमान हैं अतः आसन कहा गया। इसके द्वारा कार्य की उत्पत्ति है अतः आसन है। अतः भगवान् अव्यय और अमृत हैं, अपनी स्वातन्त्र्य इच्छा शक्ति से कार्य की उत्पत्ति और पालन का कारण है और लय का आधार होते हैं। अतः आसन में ही अर्थात् अधिष्ठान में ही कार्यकारण का सम्बन्ध है।

प्रश्न करते हैं? प्रमाणवृत्ति और प्रमातृवृत्ति का आधार एक होने से सङ्कर दोष को उत्पन्न करता है जैसे गो, अजा, महिष के दूध को मिलाने से एक सा हो जाता है? उत्तर देते हैं— नहीं, सङ्कर दोष नहीं होगा। समाधान है— जैसे अङ्गुलियों का अग्रभाग का रूप और सूर्य का रूप का साङ्कर्य नहीं होता अर्थात् सूर्य के प्रकाश से अङ्गुली का प्रकाशित होना एक नहीं हो सकता उसी प्रकार कार्यवृत्ति और कारणवृत्ति का साङ्कर्य नहीं हो सकता। हेतु देते हैं जैसे— दीप का प्रकाश, आदित्य का प्रकाश और नयनगत किरणों का प्रकाश में भिन्नता है वैसे ही दोनों की वृत्तियों में भिन्नता है। पुनः प्रश्न करते हैं? तब तो कार्य वृत्ति में भी अपरिच्छेद दोष होगा? जैसे, ईश्वर, पुरुष, विद्या, कला, पशु, कीट द्रव्य के समान। उत्तर देते हैं— एक के अपेक्षा दूसरे का अधिक उत्कर्ष होने के कारण या व्याप्य-व्यापकभाव होने के कारण अपरिच्छेद दोष नहीं होगा। उदाहरण है जैसे सूत्र रूप में एक महेश्वर तत्त्व के अपेक्षा पुरुष सहित

व्यापकानि पञ्चभूतसूक्ष्माणि शब्दादीनि, व्याप्यानि आकाशादीनि पञ्चमहाभूतानि। तथा व्यापकमाकाशं व्याप्यं वाय्वादिभूतचतुष्कम्। तथा व्यापको भवति वायुः, व्याप्यं तेजःप्रभृति भूतत्रयम्। तथा व्यापकं भवति तेजः, व्याप्यमबादिद्वयम्। तथा व्यापिका भवन्त्यापः, व्याप्या पृथिवी। व्यापिका पृथिवी, व्याप्यानि भूम्युदकरसलक्षणानि कार्याणि। तथा व्यापकानि भूम्युदक(रस) लक्षणानि कारणानि, व्याप्यं देवमनुष्यतिर्यग्योनितृणौषधिवृक्षगुल्मलतावनस्पत्यादिकार्यमनेकविधम्। अतो नापरिच्छेददोषः।

आह—वृत्त्यसङ्करग्रहणे दृष्टान्ताभावादयुक्तम्। तदुच्यते— हरिद्रोदकवद् व्याप्यं व्यापकं च। तद्यथा— हरिद्रोदके स्निग्धत्वेत्यादिधर्मैरपां ग्रहणम्, गन्धवर्णघनक्षारत्वादिभिर्हरिद्रायाः, तथार्णवदेवादिस्थानशरीरेन्द्रियविषयादि-सन्निवेशेन सुखदुःखसन्निपातेन चेश्वरस्य। एवं पुरुषस्यापि। अपरिणामिधर्मित्वात्

पञ्चविंशत्यात्मिका प्रकृति व्याप्य है। माहेश्वर तत्त्व व्यापक है। उसी प्रकार आत्मत्ववत् पुरुष के अपेक्षा चतुर्विंशत्यात्मिका प्रकृति व्याप्य है, पुरुष व्यापक है। वैसे ही प्रकृति व्यापक है, बुद्ध्यादि तेइस व्याप्य हैं। इन तेइस में भी बुद्धि व्यापक है, अहंकार आदि बाईस व्याप्य हैं। इन बाईस में भी अहंकार व्यापक है एकईस व्याप्य हैं। एकादश इन्द्रियों के अपेक्षा (सूक्ष्म पञ्चभूत व्याप्य हैं)। पञ्चतन्मात्राओं के अपेक्षा स्थूल पञ्चमहाभूत व्याप्य हैं। वैसे ही आकाश के अपेक्षा वायु, तेज, जल, पृथिवी व्याप्य हैं। वायु के अपेक्षा तेज जल आदि व्याप्य हैं। तेज के अपेक्षा जल, जल के अपेक्षा पृथिवी व्याप्य है। पृथिवी के अपेक्षा भूमि, उदक, रस व्याप्य हैं। तथा भूमि, इत्यादि के अपेक्षा देव मनुष्य, पशु, तृण, औषधि, वृक्ष, गुल्म, लता, वनस्पति आदि अनेक विविध कार्य व्याप्य हैं। अतः अपरिच्छेद दोष नहीं होगा।

प्रश्न है— यदि वृत्ति संकर दोष नहीं है अपसङ्कर है तो उसका कोई दृष्टान्त न मिलने से अयुक्त सा प्रतीत होता है? उत्तर देते हैं— उदाहरण है— हरिद्रा और उदक के समान। हरिद्रा व्याप्य है तो उदक व्यापक है। हरिद्रोदक के जल में स्निग्धता आदि धर्म है और हरिद्रा में पीलावर्ण, ठोस, क्षारत्व आदि धर्म प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार समुद्र, देवादि स्थानों में शरीरेन्द्रिय के सन्निवेश से सुखदुःखादि का सन्निवेश ईश्वर में भी कल्पित होता है उसी प्रकार पुरुष में भी होता है। ईश्वर अपरिणामी धर्मी होने और

सुखदु:खदातृत्वाच्च प्रधानधर्माधर्मादीनां ग्रहणम्। तथा प्रधानस्य मानससङ्कल्पालोचनगमनादिभि: करणग्रामस्य विषयाणां च ग्रहणम्। तथा धृतिसंग्रहपक्तिव्यूहावकाशदानादिभिर्धर्मै: पृथिव्यादीनां ग्रहणमिति प्रधानवादिनो मन्यन्ते।

आह—अथेह तन्त्रे कथं कार्यकारणावस्थानम्? तद् वाच्यम्। तदुच्यते—इह यस्मादाह-शर्वसर्वेभ्य: (अ.३,सू.२५) इति वचनाद्यथासम्भवम्। सति विभुत्वे स्ववृत्त्या कार्यकारणयो: सर्वगतत्वेऽपि स्ववृत्त्यसङ्कर:। तस्मादासनस्थं कार्यं कारणं चेति। आह—किं तदासनस्थं कार्यम् आसने नित्यम्, अहोस्विदनित्यमिति? उच्यते—नित्यं कार्यम्। कस्मात्? पत्युर्भवति। कारणेश्वरनित्यत्वात् पतिनित्यत्वम्। इह सद्योजातादि (अ.१, सू.४०) वचनात् पालको नित्य:। पालकनित्यत्वाच्च पाल्यमपि नित्यम्। कस्मात्? नह्यसति पाल्ये पालक इत्येव। सति नित्यत्वे तान्येव पश्वादीनि संयोजयति।

सुखदु:ख के दाता होने पर भी प्रकृति के धर्माधर्म का ग्रहण होता है। उसी प्रकार प्रकृति के मानस, संकल्प, आलोचन, गगन आदि करण समूहों का ग्रहण होता है। उसी प्रकार पृथिवी आदि में धृति, संग्रह, पंक्ति, व्यूह, अवकाश और दानादि धर्मों का ग्रहण होता है ऐसा प्रधानवादि अर्थात् सांख्यवादि मानते हैं।

प्रश्न करते हैं— इस पाशुपत शास्त्र में कार्यकारण का ज्ञान क्यों? उत्तर दें? उत्तर देते हैं— इस पाशुपत शास्त्र में बताया गया है कि "शर्वसर्वेभ्य:" तीसरे अध्याय के पचीसवें सूत्र में शर्व अर्थात् पशुपति में ही सब जगत् विद्यमान है उसको अपनी लीला धर्म से प्रकट करते हैं न कि उसके बनाने में आयास प्रयास होता है। माहेश्वर सर्व व्यापक है सर्वगत है अत: स्ववृत्ति से असङ्कर है। अत: कार्य और कारण आसनस्थ है अर्थात् दोनों ही माहेश्वर ही हैं। प्रश्न है? — आसनस्थ कार्य नित्य है या अनित्य है? उत्तर देते हैं— कार्य भी नित्य है। कैसे? — पति अर्थात् स्वामी बनता है। कारणेश्वर नित्य होने से पति में भी नित्यत्व है।

इस शास्त्र में "सद्योजातादि" वचन से पालक नित्य है। पालक नित्य होने से पाल्य जो जगत् है वह भी नित्य है कैसे?— असत् पदार्थ का पालन नहीं किया जा सकता। नित्य होने के कारण ही विद्या, काल, पशु को संयोजित करता है। जैसे पृथिवी से घट, लोहे आदि की विविधता देखी

मृल्लोहमयप्राकारादिवद् दृष्टान्तात्। वृत्तिलाभश्चोत्पत्तिरित्युच्यते। स्थितिस्थान-शरीरेन्द्रियविषयाद्यायतनानां परस्परोपकाराच्चानुग्रहः ईश्वरचोदनानुग्रहः, वियोजनं वृत्तिलोपश्च(?)। लोपोऽभावः। तस्मात् त्रिष्वपि कालेषु आसनस्थं कार्यं द्रष्टव्यम्। पृथिव्यां बीजवदित्यर्थः।।५।।

आह—किं तत् कार्यं भगवान् युगपदुत्पादयति, क्रमशो वा? किं वा कर्मापेक्षः, अनपेक्षो वा? तदुच्यते—यथेष्टम्। यस्मादाह—

सार्वकामिक इत्याचक्षते।।६।।

अत्र सर्वशब्दो विद्यादिकार्यनिरवशेषवाची द्रष्टव्यः। कामिक इत्यत्रापि नस्त्रिकं चिन्त्यते। कामी कामः काम्यमिति च। तत्र कामी ईश्वरः। कामोऽस्येच्छा। काम्यं विद्यादिकार्यम्। तदक्रमेण क्रमशो वा यथेष्टमुत्पादयति। कस्मात्? कामित्वात्। अकर्मापेक्षित्वं चास्यात एवं सिद्धम्। कर्मकामिनश्च महेश्वरमपेक्षन्ते,न

जाती है। वृत्तिलाभ ही उत्पत्ति कही जाती है। सृष्टि, पालन एवं शरीरेन्द्रिय विषयों की अवस्था परस्पर उपकारी और कृपा पूर्ण होती है। ईश्वर की इच्छा, अनुग्रह है, वृत्तिलोप ही तिरोभाव है फिर भी सदा अलोप है। अतः तीनों कालों में अधिष्ठान में ही कार्य देखना चाहिए। जैसे पृथिवी में ही बीज की उत्पत्ति है।

प्रश्न है? — क्या सभी उत्पत्ति एक साथ ही हो जाती है? या क्रम से होती है? अथवा कर्म के अनुसार सृष्टि होती है या कर्म के बिना भी होती है? उत्तर देते हैं— जैसी इच्छा वैसी ही सृष्टि होती है, क्योंकि कहा गया है—

सूत्रार्थ— माहेश्वर को सार्वकामिक ऐसा कहा जाता है। अर्थात् कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ है।

भाष्यानुवाद— सूत्र में सर्व शब्द से विद्या, कला, पशु आदि समस्त कार्य समझना चाहिए। कामिक में जो त्रिक् का सम्बन्ध है वह यहाँ नहीं है। त्रिक् अर्थात् कामी, काम और काम्य है। कामी अर्थात् ईश्वर, काम अर्थात् इच्छा, काम्य अर्थात् विद्यादि कार्य। अपनी इच्छानुसार क्रम या अक्रम भी सृष्टि करता है। कैसे? — इच्छावान् होने से। अक्रमापेक्षित्व भी उसमें

तु भगवानीश्वरः कर्म पुरुषं वापेक्षते। अतो न कर्मापेक्ष ईश्वरः। इतिशब्दोऽर्थानां निर्वचनत्वात् प्रकरणपरिसमाप्त्यर्थः। आह—कामित्वं तत्त्ववैधर्म्यं कुर्यात्। कार्यत्वेन वा परिणामित्वम्, आत्मनो बन्धमोक्षविपर्ययं वा कुर्यात्। तदुच्यते। यस्मादाह— आङ् इति। आङिति कार्यकारणत्वम्, आत्मनो मुक्तानां च मर्यादा। तदुच्यते— उत्पाद्यानुग्राह्य(तिरोभाव्य)-कल्पकत्वाभावकत्वेना-परिणामित्वम्, आत्मनो मुक्तानां च पुनर्दुःखैरसंयोजनमित्येषां कारणमर्यादा। स्थाप्या च कार्यमर्यादा। तदुच्यते—उत्पाद्यानुग्राह्यतिरोभाव्यकाल्प्यविकार्यमर्यादा। तदन्यचाद्याधिष्ठेयत्वं च चक्षिङ् कथने। भगवता कार्येभ्यो भ(ग)वता रुद्रेणाचक्षितम्। भगवतो महेश्वरस्य शक्तिः सनातनी। तद्विद्यादिकार्यं कलित-मित्येषोऽर्थः। तथा चोक्तं वर्णितमित्यर्थः॥६॥

अत्रेदमाधिकारिकं कार्यकारणप्रकरणं परिसमाप्तमिति।

विद्यमान रहता है। सभी कर्म और कामनायें ईश्वरापेक्षी होती है। न कि भगवान् कर्म और पुरुष की अपेक्षा करते हैं। अतः कर्मापेक्ष ईश्वर नहीं है। यहाँ शब्द और अर्थ कथन का प्रकरण समाप्त हुआ। प्रश्न है? कामित्व होने से वह तत्त्व को अतत्त्व भी कर सकता है, कार्यत्व के होने से परिणामी भी हो सकता है अपने से मोक्ष को बन्ध और बन्ध को मोक्ष भी कर सकता है? उत्तर देते हैं— सूत्र में जो आङ् उपसर्ग है वह मर्यादा अर्थ में है अर्थात् उसका जो कार्यकारणत्व है वह मर्यादित है। मुक्तों की भी मर्यादा है जो मुक्त है वह बन्ध नहीं हो सकता। कहते हैं— उसकी उत्पत्ति, स्थिति, तिरोभाव कल्पना रहित है अतः अपरिणामी ईश्वर है। मुक्तों को पुनः दुःख न देना ही कारण अर्थात् ईश्वर की मर्यादा है। इसी प्रकार कार्य मर्यादा भी निश्चित है। इसलिये कहा जाता है— उत्पाद्य, अनुग्राह्य, तिरोभाव्य, काल्प्य और विकार्य की मर्यादा है। अतः कार्य का आदि अधिष्ठान है। चक्षिङ् धातु कथन अर्थ में है। अतः भगवान् रुद्र पद से भी कहे जाते हैं। भगवान् महेश्वर की शक्ति नित्य और सनातनी है। अतः विद्या कला आदि कार्य इसके अर्थ रूप हैं। ऐसा वर्णन हुआ है॥६॥

यहाँ आधिकारिक कार्यकारण प्रकरण समाप्त हुआ।

किं नाम कामित्वं रुद्रकामित्वं च? एतदेव कारणे महाभाग्यम्। आहोस्विदन्यदस्ति? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

अमङ्गलं चात्र मङ्गलं भवति।।७।।

अमङ्गलमिति। अत्र साधनजातमधिकुरुते। तदुद्देशेन तु मङ्गलवचननिर्देशं करोति। चशब्दः कारणगुणवचनोपक्षेपे द्रष्टव्यः। उपक्षिप्योत्तरत्र मङ्गलं प्रदक्षिणं च (अ.२, सू.८) वक्ष्यामः। तस्मादुभयं रुद्रे देवाश्च पितरश्च (अ.२, सू.११) इत्युपरिष्टाद् वक्ष्यामः। अत्रशब्दो मूर्त्यधिष्ठातरि मनःसंज्ञे कारणे सकले उपतिष्ठता अपसव्यसम्बन्धो द्रष्टव्यः। मङ्गलम् इत्यत्रापि चामङ्गले वक्तव्ये मङ्गलमेव तद् वक्ष्यामः। तदुच्यते—अत्र अमङ्गलं नाम (यद्वैतं?) नग्नत्वापसव्यत्वसम्बन्धो हसिताद्यः साधनवर्गः। स त्विह कारणमूर्तिसामर्थ्यान्मङ्गलं भवति। शैलोदोमावनवत्? मङ्गलं साधनं धर्मनिष्पादकम्। 'भवति' इति भूतार्थवादो निस्संशयम्। कारणमूर्तौ क्रियमाणममङ्गलं मङ्गलं भवतीत्यर्थः।।७।।

प्रश्न है— कामित्व और रुद्रकामित्व किसे कहते हैं? क्या महेश्वर को ऐश्वर्यवान् होने में यही दो कारण हैं, या और भी है? उत्तर देते हैं— और भी हैं — जैसा कहा गया है—

सूत्रार्थ— माहेश्वर से महाभाग्यवान् होने में अशुभ भी शुभ हो जाता है यह भी कारण है।

भाष्यानुवाद— सूत्र में अमङ्गल शब्द का तात्पर्य है कि जो साधन मङ्गल करने वाले नहीं है वे भी इनके सङ्ग से मङ्गल करने वाले हो जाते हैं। उसी के उद्देश्य से मङ्गल का निर्देश है। च शब्द, कारण में गुण कथन के लिये है। आगे मङ्गल और प्रदक्षिण के सम्बन्ध में कहेंगे। अतः रुद्र में ही देव और पितरों का समावेश है यह भी कहेंगे। स्थूल कारण और सूक्ष्म कारण रुद्र में देव पितरों की स्थापना तथा सव्यापसव्य सम्बन्ध है मङ्गल में अमङ्गल का होना मङ्गल ही है ये आगे कहेंगे। कहते हैं— अमङ्गल से नग्नत्व, वामार्गीत्व, हसितादि जो साधन हैं उससे तात्पर्य है। वह अमङ्गल कारणमूर्ति की शक्ति से सब मङ्गल ही है। जैसे उमा से शैल भी पूज्य है। मङ्गल, धर्म निष्पादन में साधन है। भवति शब्द भूतार्थवाद है अर्थात् सनातनी है।।७।।

आह—किं नग्नत्वमपसव्यत्वं वा साधनद्वयमेवोच्यते? न यस्मादाह—

अपसव्यं च प्रदक्षिणम्।।८।।

नग्नत्वं च साधनमेवेत्यर्थः। अत्रामङ्गलनिर्देशार्थत्वात् प्रत्याहारवदुपहार (अ.१, सू.८) सामान्यमाख्यापनाच्च पृथगपसव्यारम्भः। तस्मादत्र अपसव्यं नाम यत् सव्याद् विपरीतम्। चशब्दः समुच्चये। न केवलं कारणमूर्ति(साधन?)-सामर्थ्यादमङ्गलं मङ्गलमापद्यते, अपसव्यं च प्रदक्षिणमापद्यत इत्यर्थः। प्रदक्षिणं नाम—यदन्येषामपसव्यं तदिह प्रदक्षिणं धर्मनिष्पादकं भवति। ननु यत् तेषां प्रदक्षिणं कस्मात्? उत्सूत्रादिदोषाद् अप्स्नानादिवदित्यर्थः।।८।।

आह—समस्तानां कारणगुणानां तु वचनं किमस्ति नेति? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

तस्मादुभयथा यष्टव्यः।।९।।

प्रश्न है?— नग्नत्व और अपसव्यत्व ये ही साधन है? कहते हैं —नहीं। और भी हैं—

सूत्रार्थ— इसं सूत्र में यह बताया गया कि अपसव्य भी अमङ्गल है किन्तु नग्नत्वादि जैसे अमङ्गल होते हुए भी रुद्र के सम्पर्क मङ्गल हो जाता है वैसे अपसव्य भी प्रदक्षिण अर्थात् मङ्गल हो जाता है।।८।।

भाष्यानुवाद— नग्नत्व जिस प्रकार अमङ्गल साधन का संक्षिप्त रूप है वैसे ही अपसव्य भी अमङ्गल है इसका अलग उल्लेख करते हैं। अपसव्य से तात्पर्य है सव्य से विपरीत। च शब्द पहले के अमङ्गल में यह भी है। कहते हैं कि कारणमूर्ति अर्थात् रुद्र की शक्ति के सम्पर्क से केवल वर्णित अमङ्गल ही मङ्गल नहीं होता अपितु सूक्ष्म जो कार्य हैं वह भी इनके सम्पर्क से शुभ हो जाते हैं। अपसव्य अर्थात् दूसरे के लिये जो विपरीत है वह यहाँ सानुकूल और धर्मकारक है। प्रश्न है? — प्रदक्षिण है अर्थात् शुभ है कैसे? उत्तर देते हैं — जैसे किसी भी दोष की निवृत्ति के लिये जलस्नान शुभ है वैसे ही सभी अशुभ कर्म भी रुद्र के सङ्ग से मङ्गल यानी प्रदक्षिण हो जाता है।।८।।

प्रश्न है?— कारण यानी माहेश्वर के गुणों की संख्या क्या है? या संख्या नहीं है? उत्तर देते हैं— संख्या है। जिसे सूत्र में कहा गया है—

सूत्रार्थ— तस्मात् अर्थात् परिगणित गुणों की संख्याओं में सव्यापसव्य भी गुण है। अतः दोनों विधाओं से यजन पूजन करना चाहिए।

इति। अत्र तस्माच्छब्दः कारणगुणवचने। के कारणगुणा इति? तदुच्यते— पतित्वसत्त्वाद्यत्वाजातत्वोत्पादकानुग्राहकतिरोभावकत्व (तपावावेदे?) (वाम)देवज्येष्ठरुद्रकामित्वं च मङ्गलावाप्तिः प्रदक्षिणावाप्तिश्च। एतान् कारणगुणान् ज्ञात्वा। अतो ब्रवीति—तस्मादिति। अथैतत् कारणगुणवचनं ज्ञात्वा साधकेन किं कर्तव्यम्? तदुच्यते—उभयथा यष्टव्यः। अत्रोभयथा द्विधेत्यर्थः। यष्टव्य इत्यत्रापि नस्त्रिकं चिन्त्यते। यष्टा यजनं यष्टव्यमिति। अत्र यष्टा साधकः। यष्टव्यो भगवान् महेश्वरः। यजनं भावना। यजनमध्ययन(म?)ध्या(प?)-नस्मरणाद्यम्। तत्फलं—देवनित्यता, सायुज्यम् (अ.५,सू.१०,३३) इत्युत्तरत्र वक्ष्यामः॥९॥

आह—अनिर्देशात् सन्देहः। कथमुभयथा? द्विधा निर्देशो वाच्यः। तदुच्यते—

देववत् पितृवच्च॥१०॥

भाष्यानुवाद— कारणगुणों की संख्याबोध के लिये सूत्र तस्मात् शब्द आया है। प्रश्न है? कारणगुण कौन है? उत्तर देते हैं— उनमें स्वामित्व, प्रभुत्व, अजातत्व, एकत्व, उत्पादकत्व, अनुग्राहकत्व, तिरोभावत्व आदि अनेक गुण गिनाये गये हैं, तथा उनको वामदेव ज्येष्ठ, रुद्र, कामिकत्व, मङ्गलायतन और प्रदक्षिण आदि गुणों के रहने से तस्माद् सूत्र में कहा गया है। प्रश्न है? — ये सभी कारणगुण संख्याओं को जानकर साधक को क्या करना चाहिए? उत्तर देते हैं — सव्यापसव्य दोनों विधाओं से साधक को यजन करना चाहिए। यष्टव्य पद से त्रिक् का ग्रहण नहीं है। यहाँ यष्टा, यजन, यष्टव्य पद से साध्य साधक का ही ग्रहण है। यहाँ यष्टा साधक है और यष्टव्य भगवान् माहेश्वर हैं। यजन साधक की भावना है। यजन से तात्पर्य है, अध्ययन, अध्यापन और चिन्तनादि। उसका फल है— देवत्व, सायुज्य आदि। इसके सम्बन्ध में आगे कहेंगे॥९॥

प्रश्न है? — उभयथा का निर्देश न होने से सन्देह उत्पन्न होता है अतः द्विधा का निर्देश करें। उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— उस माहेश्वर में देव और पितर दोनों की भावना से पूजा करनी चाहिए। देव और पितरों को पृथग् शक्ति मानकर पूजा न करे।

कथमिति? उच्यते—पूर्वमस्य ब्राह्मणस्य देवयजने पितृयजने चाधिकारोऽधिगतः। तस्मात् तेभ्यो देवपितृभ्यो भक्तिव्यावर्तनं कृत्वा उभयथापि महेश्वरे भावमवस्थाप्य यजनं कर्तव्यं नान्यस्य। चशब्दः प्रतिषेधे। यत्तत् पूर्वं देवपितृषु कारकत्वं सम्भावितम्, तत् तेषु न विद्यते। अतस्तेषां यजनं न कर्तव्यमित्यर्थः।।१०।।

आह—यद्येवं तस्माद् उच्यतां देवपितृणां को दोषः? यस्मात् ते न यष्टव्याः। रुद्रे वा को गुणः? यस्मात् स एव यष्टव्य इति निर्देशो वाच्यः। अप्स्नानादिवत्। तदुच्यते—

उभयं तु रुद्रे देवाः पितरश्च।।११।।

तत्रोभयं द्वयं समस्तमित्यर्थः। तुशब्दो देवपितृषु वैशेषिकं कारणत्वं व्यावर्तयति। रुद्रे इति कारणापदेशम्। रुद्रस्य रुद्रत्वं पूर्वोक्तम्। रुद्र इति

भाष्यानुवाद— कैसे? उत्तर देते हैं— पहले ब्राह्मण का देवयजन और पितृयजन में अधिकार होना चाहिए। तत्पश्चात् उन देवपितरों को पृथग् न मानते हुए दोनों ही माहेश्वर ऐसा जानकर भक्ति करे न कि दूसरे नामों की। च शब्द औरों के निषेध में है। क्योंकि जो कारणगुण कहे गये हैं वे गुण माहेश्वर भगवान् के अतिरिक्त दूसरे में नहीं है। अतः दूसरे का यजन यानी अन्य देवों का यजन न करें।।१०।।

प्रश्न है? — यदि ऐसी बात है तो बतावें कि अन्य देव पितरों में क्या दोष है? जिससे उनका यजन नहीं करना चाहिए। रुद्र देव में क्या गुण है जिससे यजन करना चाहिए कृपया बतावें? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— रुद्र भगवान् में ही समस्त देवों और पितरों का समावेश है अतः अलग-अलग यजन पूजन की आवश्यकता नहीं है।

भाष्यानुवाद— उभय पद का अर्थ दोनों तथा समस्त पद वाच्य है। तु शब्द से देव पितरों में जो वैशिष्ट्य है वह रुद्र में है, तु कथनं से तात्पर्य है। रुद्र ही कारण हैं। रुद्र का रुद्रत्व पहले कहा जा चुका है। रुद्र में ही सभी शक्तियों का सन्निधान है। यहाँ शक्ति ही विषय पद वाच्य है। रुद्र की शक्ति में देवपितर हैं, तथा उत्पत्ति, स्थिति, संहारत्व भी है। इस तरह रुद्र जाने जाते हैं। ये सभी

वैषयिकं सन्निधानम्। अत्र शक्तिर्विषय इत्यनर्थान्तरम्। ते देवपितरो रुद्रशक्त्यां हार्यधार्यकार्यत्वेन वर्तन्ते, अधीयन्ते, विषये वर्तन्त इत्यर्थः। देवाः पितरश्च। तत्र देवा इति ऋभुषु ब्रह्मादिपिशाचान्तेषु मनुष्यतिर्यग्योनिवर्जं सामान्यसंज्ञा। विधिवत्। पितर इति विशेषसंज्ञा। भस्मस्नानादिवदित्यर्थः। ब्राह्मणदेवदत्तादिवच्च। अत्राह—सामान्यविशेषसंज्ञाभिधाने किं प्रयोजनमिति चेत्? तदुच्यते—त्रिविधस्यापि कार्यस्य रुद्रे हार्यधार्यकार्यज्ञापनार्थम्। किञ्च, कालक्रियास्वाहास्वधामन्त्रान्यत्वदर्शनाद् देवपितृयजनापहृतचित्तव्यावर्तनार्थत्वाच्च। तस्मादन्यानन्यत्वेनापि व्याख्यानमदुष्टम्। चशब्दोऽभ्यधिकत्वे। देवपितृवत् सत्त्वस्य त्रिविधस्यापि कार्यस्येश्वरे प्रतिष्ठाप्रसवसंयोगवियोगसुखमोहबन्धमोक्षदातृत्वेन च स एव परं कारणं समस्तत्वेनाप्यते इत्येवं चशब्दोऽभ्यधिकत्वे द्रष्टव्यः। तस्माद् दुःखान्तार्थिना ते देवपितरो न यष्टव्याः। तदर्थे भगवान् महेश्वरो यष्टव्य इत्यर्थः॥११॥

अत्रेदमानुषङ्गिकं कार्यकारणप्रकरणं परिसमाप्तम्॥

शक्ति में विद्यमान हैं। देव शब्द से ब्रह्मादि, विष्णु, महेश तथा ऋषि आदि का ग्रहण है। मनुष्य, पशु पक्षी आदि तिर्यग् योनियों को छोड़कर सामान्य संज्ञा है। ये विधिवत् है। पितर की संज्ञा विशेष संज्ञा है जैसे स्नान के विधान में शिष्य को भस्मस्नान प्रधान रूप से कहा गया है वैसे ही रुद्र में पितर की संज्ञा दी गयी है। जैसे देवदत्त में ब्राह्मण विशेषण लगाकर विशिष्ट देवदत्त का बोध होता है। प्रश्न है? — सामान्य संज्ञा और विशेष संज्ञा कथन का क्या तात्पर्य है? उत्तर देते हैं— रुद्र में उत्पत्ति, पालन और संहार तीन प्रकार के कार्यों को बतलाने के लिये सामान्य संज्ञा और विशेष संज्ञा का कथन किया गया। और भी देश काल के अनुसार स्वाहा स्वधा के मन्त्रों का उच्चारण रुद्र के लिये है तथा देव और पितरों के यजन में जिसका चित्त लग चुका है उसको पृथग् करने के लिये देवाः पितरश्च कहा गया। अतः दूसरे देव से विशिष्ट होने के कारण सूत्र का कथन दोष रहित है। च का अर्थ अधिकत्व में है। देव और पितरों की त्रिविध कार्यों की प्रतिष्ठा, उत्पत्ति, संयोग, वियोग, सुख, मोह, बन्ध, मोक्ष देने वाले रुद्र ही हैं। समस्त गुणों से युक्त हैं। अतः परमकारण हैं। अतः दुःख का अन्त चाहने वाले साधक अलग से देवपितरों का यजन न करें। दुःख की समाप्ति के लिये रुद्र का ही यजन करना चाहिए॥११॥

यहाँ प्रसङ्गात् कार्यकारण का प्रकरण समाप्त हुआ।

अत उत्तरस्य विधिप्रकरणस्य सत्यपि पदार्थवैलक्षण्ये साध्यसाधनभावाद् यजनेन सह सम्बन्धं करिष्यामः। कस्मात्? इह। पुरस्तादुक्तम्—उभयथा यष्टव्यः, देववत् पितृवच्च (अ.२, सू.९-१०)। यत्र पूर्वं देवपितृभ्यो व्यावर्तितया भक्त्या महेश्वरं यजतोऽनवगमात्, स्वात्मेश्वरसंयोगं योगं प्राप्स्यसि तत्फलं वक्ष्यामः। येन च बलेनोपबृंहितस्य तत्रैव यजने उद्योगोऽभिनिवेशश्च भविष्यति, तद्बलं वक्ष्यामः। तद्बलप्राप्तौ चोपायं वक्ष्यामः। तदुच्यते—

हर्षाप्रमादी।।१२।।

इति। अथवाऽन्यो दूरस्थः सम्बन्धः। यस्मादुच्यते—यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तेन तदर्थोत्पत्तिः समाना। आनन्तर्येऽप्यसम्बन्धो ग्रहणक्षयादिवद् (ग्रहनक्षत्रादिवत्), न त्वत्रामङ्गलादिभिः। कस्मात्? शेषाभावात्। एवमिहापि दूरस्थ(स्या?): सम्बन्धः। कस्मात्? इह पुरस्तादुक्तम्—अकलुषमतेः, चरतः, ततोऽस्य योगः प्रवर्तते (अ.१,सू.१८-२०)। अत्र कलुषव्यतिरेकेण येऽन्ये

इसके बाद विधि प्रकरण होने पर भी पदार्थों की विलक्षणता में साध्य साधन भाव के सम्बन्ध से यजन के साथ सम्बन्ध करेंगे। कैसे? जैसा कि बताया गया उभयथा यष्टव्यः। माहेश्वर को भक्तिपूर्वक यजन करता हुआ तथा देव पितरों से अलग समझता हुआ जो साधक जानते हैं उनको अन्तर्यामी भगवान् के संयोग के फल को आगे बताऊँगा। सम्पूर्ण बल के अधिष्ठातृ देव माहेश्वर के यजन में उद्योग और समर्पण होगा ऐसे बल को कहूँगा। जो निर्बल हैं उनको बल प्राप्ति का साधन कहेंगे।

सूत्रानुवाद— दिव्य सिद्धी रूप विषयों की प्राप्ति होने पर जो हर्ष संज्ञा से अभिहित है, उसका मद नहीं करता ऐसा साधक माहेश्वर की प्राप्ति अर्थात् उसके साथ योग हो जाता है।

भाष्यानुवाद— अन्य देव पितरों आदि के जो सम्बन्ध है वह सम्बन्ध भी माहेश्वर में प्राप्त हो जाते हैं— जैसा कि कहते हैं— जिसका जिस अर्थ से तात्पर्य है वह अर्थ भी समान रूप से प्राप्त होता है। अनन्तता होने पर भी ग्रहनक्षत्रादि के दोष गुणों से दूर हैं, क्योंकि माहेश्वर में अशुभ का कोई स्थान नहीं है। कैसे? शेष के अभाव से। अर्थात् सब कुछ शिव रूप है। यहाँ भी दुरस्थ सम्बन्ध है। कैसे? पहले अध्याय में कहा जा चुका है कि साधक स्वच्छमति वाला, एकाकि विचरण करने वाला होगा तब उसके साथ योग

योगव्याघातकरा हेतवः, तद् वक्ष्यामः। यथा चैका चरितव्या योगप्रापिका इति व्याख्यास्यामः। तथा चर्यान्तरेण तपसा योगप्राप्तिर्यथा भवति, तद् बलं वक्ष्यामः। तद्बलप्राप्तौ चोपायं वक्ष्यामः। हर्षाप्रमादी इति। अत्र हर्षो नाम दिव्येषु विषयेषु विधानजधर्मप्रकाशितेषु प्रतीतितुष्टिप्रमोदाः। ते त्विह प्राप्त्यादिव विश्वामित्रादिस्वरूपा द्रष्टव्याः(?)। कथंलक्षणा इति चेत्?। तदुच्यते— कार्यकरणविशुद्धिलक्षणाः। तत्र कार्यविशुद्धिलक्षणाः। तत्र कार्यविशुद्धिस्तावत्— यदैतद् देवशरीरं ज्वलन्तं भासा दीप्यन्तं दिवि भुव्यन्तरिक्षे च रुक्मदण्डवदुच्छ्रितमात्मानं पश्यति, तदा दि(वि) अणिमा लघिमा महिमा इति त्रयः कार्यगुणा भवन्ति। अन्तरिक्षे च यस्माद्धर्मविशेषात्(?)। तथा करणविशुद्धिरपि गरिमादिभिः (भुवि) बाह्यैरन्तःकरणेन च दूरविषयग्राहकत्वालोचनसङ्कल्पाध्यवसायाभिमानादयो भवन्ति। कस्मात्? धर्मादिवचनात्। अपि च प्राप्तिः प्राकाम्यम् ईशित्वं (वशित्वं) च यत्रकामावसायित्वमिति पञ्च करणगुणा भवन्ति। इत्येवं यदन्येषामणिमाद्यष्टगुणं चतुष्षष्टिविकल्पं धर्मकार्यमैश्वर्यं तदिह

सम्भव है। कलुष के अतिरिक्त जो योग में बाधकतत्त्व हैं उसे आगे कहूँगा। जैसे एकाकि विचरण करने वाला योग को प्राप्त कराने वाला होता है यह भी आगे कहेंगे। उसी प्रकार तपस्या आदि क्रिया से योग की प्राप्ति होती है ऐसे बल को भी कहूँगा। यदि निर्बल साधक है तो उसे बल प्राप्ति का साधन भी बताऊँगा। अब हर्षाप्रमादी का अर्थ करते हैं— विधिपूर्वक दिव्य सिद्धियों के प्रकाशित होने पर जो अनुभूति से तुष्टि और आनन्द की प्राप्ति होती है वह हर्ष है। जिस प्रकार विश्वामित्र आदि महर्षियों की है। कैसा स्वरूप है? उत्तर देते हैं — अणिमादि सिद्धिरूप कार्य को देखकर अन्तःकरण की विशुद्धि परिलक्षित हो जाती है। शुद्ध कार्य का स्वरूप भी आ जाता है। वहाँ कार्य विशुद्धि क्या है? जिस प्रकार देवों का शरीर तेज सम्पन्न देदीप्यमान, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग में स्वर्ण के समान आलोकित होता है वैसे ही अणिमा, लघिमा, महिमा की प्राप्ति होने पर साधक भी अपने को तेजोमय देखने लग जाता है। अन्तरिक्ष में जिस प्रकार धर्म विशेष का ज्ञान होता है वैसे साधक की विशुद्धि भी बाहर और भीतर देखने में आती है। अपने अणिमादि साधनों से दूरस्थ विषयों को जानना, देखना, संकल्प, क्रिया आदि गुण आ जाते हैं। कैसे?— धर्मादि कथन से। और भी कहते हैं — प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व,

शास्त्रे हर्ष इति इति संज्ञितम्। तेषु मदमकुर्वन् हर्षाप्रमादी भवति। धर्मविद्याबलेनेत्यर्थः।।१२।।

आह—कुत्रस्थस्य ते हर्षा अभिव्यज्यन्ते?, कीदृशस्य वा? तदुच्यते—

चर्यायां चर्यायाम्।।१३।।

अत्र चर्यायां चर्यायाम् इति वीप्सा। आह—अनिर्देशादिह वीप्सा एकवचनद्विवचनबहुवचनेषु भवति। तत्रैकवचने तावद् भवति।

अद्य ते रुधिरं तीव्रं पिबामि पुरुषाधम!।
वदेदानीं सुसंरब्धः पुनर्गौरिति गौरिति।।

यस्मादुक्तम्—इति। तथा द्विवचनेऽपि भवति—

उभौ ध्वजौ वातमलौ शुशुभाते रथे रथे।
संरब्धौ परमक्रुद्धौ युधि घ्नन्तौ परस्परम्।।

वशित्व, कामावसायित्व ये सभी कारण के गुण हैं। इस प्रकार साधक में अणिमादि अष्टगुण चौसठ कलायें ऐश्वर्यादि जो गुण शास्त्र में कहे गये हैं वे सभी कार्य एवं शब्द से जाना जाता है। धर्मविद्याबल से अप्रमादी होता है।।१२।।

प्रश्न है? साधक कहाँ रहकर हर्षों को प्रकट करता है और कैसा होता है? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— चर्यायाम् में जो वीप्सा है वह पौनःपुन्येन के अर्थ में अर्थात् बारबार के अर्थ में प्रयुक्त है।

भाष्यानुवाद— बारबार का कथन सभी वचनों में किया जाता है। जैसे एक ही गौ को दो बार कहा गया है। द्विवचन में भी रथे अर्थात् दोनों रथों में ध्वजा पताका आदि सुशोभित हो रहे हैं और बहुवचन में भी तथा मनुष्याः ऐसी पुनरुक्ति हुई है। यहाँ एक संदेह उत्पन्न होता है कि साधक को अकेले या दो या बहुत के साथ भ्रमण करना चाहिए? उत्तर देते हैं— अकेले विचरण करना चाहिए। उसमें क्रियायें अनेक होती हैं। जैसे— पशुपति मंदिर में और लोक में भिन्न-भिन्न क्रियायें होती हैं। मंदिर में रहने पर भस्मस्नान, हंसना, नृत्य और डमरू आदि बजाना है, मंदिर से बाहर होने पर गुदरी लेना हिलते डुलते चलना आदि क्रियायें होती हैं। इस तरह साधक के अनेक क्रियायों से युक्त रहने के कारण चर्यायां की द्विरुक्ति हुई है। अतः वीप्सा सभी

तथा बहुवचनेऽपि भवति। यस्मादुक्तम्—

पुरुषे पुरुषे बुद्धिः सा सा भवति निश्चिता।
तुष्यन्ति च पृथक् सर्वे ते मनुष्यास्तथा तथा।।

इत्यतः संशयः। अतः किमेका चरिः, उत चरिद्वयम्, उत चरिबहुत्वमिति? उच्यते—एका चरिः क्रियाबहुत्वेऽपि भवति। यथायतने लोके च। तत्रायतने स्नानहसिताद्याः, लोके च क्राथनस्पन्दनाद्या विधिक्रियाः। इत्येवं चरिक्रियातत्त्वं दृष्ट्वा वीप्सार्थेनाभिहितं चर्यायां क्रियायामित्यर्थः। तस्मात् सकृदुच्चारिता वीप्सा बहुवचनेऽपि भवति। वृक्षबलिवत्। किञ्च— माहात्म्यमिति (अ.२,सु.१४) चर्योत्तरसम्बन्धात् कथ्यते एका चरिः क्रियाबहुत्वे भवति। कार्यकरणविशुद्धिलक्षणा हर्षा इत्युक्तम्। न च विभा(?) कार्यकरणैश्वर्याभिनिवेशः शक्यते कर्तुमित्यतोऽवगम्यते कार्यकरणवतश्चरतो महिमानोऽभिव्यज्यन्त इत्यर्थः।।१३।।

आह—अप्रमत्तस्याचरतः का कार्यनिष्पत्तिः? तदुच्यते—

माहात्म्यमवाप्नोति।।१४।।

माहात्म्यं नाम अर्यमप्रकाशवत्। तदुच्यते—(य)स्य सान्निध्यादयं ब्राह्मणः परिदृष्टार्थोऽपि भूत्वा दुष्टाश्वतररथस्थानीयैर्देहेन्द्रियादिभिरपनीयते। अपह्रियते तदमाहात्म्यम्, विधियोगाभिनिवेशासामर्थ्यम् अधर्मबलम्। उक्तं हि—

वचनों में होती है। जैसे वृक्ष कहने से सारे वृक्षों का बोध होता है तथा बलि शब्द सभी बलियों का बोध होता है। 'माहात्म्यमिति' ऐसे कथन से तात्पर्य है— इन क्रियायों को करने से साधक में श्रेष्ठता आती है। चर्या के बाद जो चर्या का कथन है वह क्रियाबहुत्व में है। साधक के साधन विशुद्ध हैं इस स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। इसी को हर्ष भी कहते हैं। न कि प्रकाश को। कार्य अर्थात् साधक में ऐश्वर्यादि गुण से समझा जाता है कि साधक में माहात्म्य है।।१३।।

प्रश्न है? — निरभिमानी साधक को कैसा फल प्राप्त होता है। उत्तर देते हैं—

सूत्रार्थ— ऐसा साधक माहात्म्य को प्राप्त अर्थात् महिमावान् होता है।

भाष्यानुवाद— माहात्म्य का अर्थ है सूर्य के समान प्रकाशित हो जाता है। कहते हैं जिसके सान्निध्य से कोई ब्राह्मण इन्द्रियों द्वारा वशीभूत हो जाता है अर्थात् संसारी हो जाता है वही अमाहात्म्य है। विधि योग के

ह्रियते बुद्धिर्मनोऽपि नरस्य देहेन्द्रियैः।
अमूढसंज्ञो दुर्दान्तैर्दुष्टाश्वैरिव सारथिः।।

माहात्म्यमतो विपरीतम्। यस्य सान्निध्यादयं ब्राह्मणः स्नानशयनानुस्नानादिक्राथन-स्पन्दनाध्ययनध्यानस्मरणकरणसमर्थो भवति परया श्रद्धया युक्तस्तन्माहात्म्यम्।

आह— किं तदिति? उच्यते—यदेतत् प्रभ्रष्टस्य तपसो वीर्यं तपोबलं तपश्शक्तिस्तन्माहात्म्यम्। कथं गम्यते? चर्यान्तरोक्तत्वात्। यदनन्तरं यदवाप्नोति तत एव तदासादयतीत्यर्थः। आह—प्राप्नोतीति अस्तु पाठः। लब्धुर्भविष्यतीत्युच्यते। अविरम्य क्षणगतिप्रीतिप्राप्त्यर्थत्वात् तेन विधिचरणेन रक्षते हर्षविशेषाणामभिप्रीतिविशेषणमतिगतिसंस्तवनावाप्तिश्च(?) तस्मान्मन्त्रबलवद् धर्मबलमेवास्य माहात्म्यवाप्नोतीत्यर्थः।।१४।।

अभिनिवेश में जो असमर्थ है वही अधर्मबल है। क्योंकि कहा गया है—जिस मनुष्य का मन, बुद्धि शरीरेन्द्रियों के द्वारा वशीभूत हो गयी हैं, वह विचार करने योग्य मनुष्य भी खूँखार, दुष्ट, इन्द्रियरूपी घोड़ों का सारथी है। इसलिए उसमें महानता नहीं आ सकती। कहते हैं जिसके सान्निध्य से अर्थात् सद्गुरु के सान्निध्य से जिस साधक में स्नान, शयन, अनुस्नान, क्रान्थन, स्पन्दन, अध्ययन, ध्यान, चिन्तन आदि उपाय समर्थवान् हो जाते हैं और वह श्रद्धानिष्ठ हो जाता है उसी में माहात्म्य आता है।

प्रश्न है कि तद् अर्थात् वह कौन है? — उत्तर देते हैं— जो मुक्त होने से पहले ही पुनः जन्म प्राप्त कर लिया है। ऐसी वह तपस्या, शक्ति, तपोबल, तपशक्ति यदि प्राप्त किया है, उस साधक से तात्पर्य है। उस साधक में श्रेष्ठता है। कैसे समझे? उत्तर देते हैं— क्रियावान् होने से। जिसके बाद जिसकी प्राप्ति होती है उसका ही प्रत्यक्ष होता है। कहते हैं— प्राप्त करता है, या प्राप्त करने की इच्छा करेगा। निरन्तर हर समय माहेश्वर में गति, प्रीति के लिये प्रयत्न और विधिपूर्वक आचरण की रक्षा में लगा रहता है तथा हर्ष विशेष में भी प्राप्ति और प्रार्थना आदि की प्राप्ति, मन्त्र बल के समान माहात्म्य को साधक प्राप्त करता है।।१४।।

आह—कः सोऽभ्युपायः? कानि वा तानि धर्मसाधनानि, यैर्हर्षोत्पत्तिर्माहात्म्यलाभश्च भवति? चरिक्रियाणां वा कतिविधो विभागः? दानादीनां वा पूर्वोक्तानां विशेषणं किमस्ति नेति? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

अतिदत्तमतीष्टम्।।१५।।

अत्र कुदानानि गोभूहिरण्यसुवर्णादीनि। कस्मात्? अनैकान्तिकानात्यन्तिकसातिशयफलत्वात्, कुपथाध्वप्रवासाच्च (अ.४, सू.१८)। तस्मादत्र अतिशब्दो विशेषणम्। अतिदानं चात्मप्रदानम्। कस्मात्? आत्मनो दातृत्वात्, भूयो दानप्रयोजनाभावात्। स्थानशरीरेन्द्रियविषयाद्यप्रापकत्वात्। ऐकान्तिकात्यन्तिकरुद्रसमीपप्राप्तेरेकान्तेनैवानावृत्तिफलत्वाद् असाधारणफलत्वाच्चात्मप्रदानमतिदानम्।

प्रश्न है? — वह साधन कौन है? और कितने धर्मसाधन हैं, जिससे हर्षोत्पत्ति एवं माहात्म्य का लाभ होता है? विचरण क्रिया में कितने प्रकार हैं? दानादि जो पहले विशेषता कही गयी है वह विशेषता इन साधनों में है या नहीं? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— अति दान से तात्पर्य है आत्म समर्पण। प्रभुशरणागति ही एकमात्र साधक के लिये दान है।

भाष्यानुवाद— लौकिक दानों में जो गौ, पृथ्वी, सोनाचाँदी का दान महत्त्वदायक होता है किन्तु साधकों के लिये ये दान कुत्सित पाशुपत शास्त्र में बताये गये हैं। जिसके दान से देना शेष नहीं रहता ऐसा दान अतिदान है। कैसे ये दान कुदान है? उत्तर देते हैं— उपर्युक्त दान के फल ऐकान्तिक, आत्यन्तिक और निरतिशय नहीं हैं, अर्थात् दान के पुण्य फल से प्राप्त स्वर्गादि, सुख सावधिक हैं अतः कुदान है। चौथे अध्याय के अठारहवें सूत्र के अनुसार कुत्सित पथ के अनुसार हैं, अर्थात् जन्म, मरण रूपी मार्ग बना रहता है। अतः दान में अति शब्द विशेषण है। अति दान से तात्पर्य है सर्वतोभावेन अपने को माहेश्वर में समर्पण। कैसे? अपने के दान देने से तथा दान प्रयोजन का सर्वथा अभाव होने से। सम्पत्ति, शरीर, इन्द्रिय आदि विषयों का प्राप्त न होना ही आत्म समर्पण का तात्पर्य है। ऐकान्तिक, आत्यन्तिक जो रुद्र हैं उनकी प्राप्ति से पुनरावृत्ति नहीं होती। असाधारण फल को देनेवाला ही अतिदान है।

तथा कुयजनान्यग्निष्टोमादीनि। कस्मात्? संग्रहप्रतिग्रहहिंसादियुक्तेन श्रवेणाभिनिर्वृत्तिदर्शनात् पत्रीरात्रिजदेवतादिसाधारणफलत्वात्(?), अनित्यसातिशय-सङ्कीर्णफलत्वाच्च कुयजनान्यग्निष्टोमादीनि। तस्मादत्रातिशब्दो विशेषणम्। अतियजनं नाम यदायतने लोके वा। तत्रायतने स्नानहसिताद्याः, लोके च क्राथनस्पन्दनाद्या विधिक्रियाः। कस्मात्? संग्रहप्रतिग्रहहिंसादिरहितेन क्रमेण स्वशरीरसमुत्थाभिः कायिकवाचिकमानसिकाभिरिज्यते यस्मात्। अतश्चेत्युच्यतेऽतियजनम्।।१५।।

आह—किं दानं यजनं च साधनद्वयमेवात्रातिशब्देन विशिष्टं कर्तव्यमिति? उच्यते—न। यस्मादाह—

अतितप्तं तपस्तथा।।१६।।

अतिशब्दो विशेषणे। नायान्त्याध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकास्तेषां स्वशास्त्रोक्तेन क्रमेण मनसि सम्मतानां मतानाम्(?) अनुपायतः प्रतीकारमकुर्वतां

अग्निष्टोमादि यज्ञ भी कुत्सित यजन हैं। कैसे? उत्तर देते हैं— यज्ञ में पदार्थों का संग्रह, दान, हिंसा आदि जो सुनने से भी यज्ञ करने में प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि भूत, प्रेत, असुर, देवों से दत्त फल भी अनित्य है सातिशय, संकीर्ण फलरूप होने से भी अग्निष्टोमादि यजन, कुयजन है। अतः यहाँ अति शब्द विशेषण है। अतियजन से तात्पर्य है कि साधक अपने आयाम में या भिक्षाचरण में युक्त रहना। अपने स्थान में रहने या सबसे अलग रहने के लिये जो हसितादि क्रियायें हैं वह करना चाहिए तथा भिक्षाचरण में अपने स्वरूप को गुप्त रखने के लिये क्रान्थन आदि साधकों की विधि क्रिया है। कैसे? संग्रह, प्रतिग्रह और हिंसादि से रहित अपने केवल शरीर से अर्थात् कायिक, वाचिक, मानसिक क्रियाओं से जो यजन है वह ही अतियजन से तात्पर्य है।।१५।।

प्रश्न है? — क्या दान और यजन ये दो साधन ही अति शब्द विशेषण का तात्पर्य है? उत्तर देते हैं— नहीं। और भी विशेषण हैं। जैसा कि कहा गया है—

सूत्रानुवाद— जो साधक तापों से अत्यन्त तप्त है और उसके निवारण में साधनों का प्रयोग नहीं करता वही अतितप से तात्पर्य है।

भाष्यानुवाद— अति शब्द विशेषण है। जो साधक स्वशास्त्रोक्त मतानुसार क्रिया करता है, उसे तापत्रय बाधित नहीं करते, और उन तापत्रयों

तपो निष्पद्यते। यत्र तृतीयायामात्मसंयोगान्निष्पद्यते, तत् तप इत्यर्थः। तदा शयनाय कथम्? तथातितापेभ्योऽतितपो निष्पद्यते तथा (न?) दानयजनाभ्यामपीति। तथाशब्दः साधनत्रयोपसंहारार्थः। यदा ददाति तदा यजति तप्यति च। यदापि यजति तदा ददाति यजति च। एवमादिदीक्षाप्रभृतिरस्य ब्राह्मणस्य(?) (यदा) एभिस्त्रिभिरुपायैर्गङ्गास्रोतोवद् धर्मस्यायोऽधर्मस्य व्ययो भवति, तदातिदानादिनिष्पन्नेन प्रकृष्टेन तपसा अस्य ब्राह्मणस्य हर्षोत्पत्तिर्माहात्म्यलाभश्च सम्भवतीत्यर्थः।।१६।।

आह—अतिदानादिनिष्पन्नेन प्रकृष्टेन तपसास्य ब्राह्मणस्य का गतिर्भवतीति? उच्यते—अभ्युदयकैवल्यव्यतिरेकेण।

अत्यागतिं गमयते।।१७।।

अत्र अतिशब्दो विशेषणे। आङ् इति मर्यादायां भवति। कथमध्ययनध्यानादिरहितमपि साधकतपोऽतिगतिं गमयति, "तदभ्यासो हरत्येनम्" इति वचनात्। अतिगतिरिति योगपर्यायः। कथं गम्यते? तपःकार्यत्वात्, आनन्त्यब्रह्मसायुज्यवत्।

को बिना प्रतिकार के सह लेता है वही तपस्वी है। तापत्रयों को अपने में स्थिर कर लेना ही तप है। जैसे आराम में तपस्या नहीं होती वैसे ही दान यजन में तपस्या नहीं होती। तथा शब्द से तीनों का उपसंहार अर्थात् तप, दान, यजन के अर्थ में है। जिस साधक की गंगा की धारा के समान अनवरत दान, यजन, तप, यजन, दान, तप, तप, दान, यजन दीक्षा आदि क्रियायें चलती हैं उसमें धर्म का आगमन, अधर्म का नाश होता है। तब अतिदानादि और तीव्र तपस्या से हर्षोत्पत्ति तथा माहात्म्य लाभ होता है।।१६।।

प्रश्न— अतिदानादि से तथा तीव्र तपस्या से ब्राह्मण यानी साधक की कौन सी गति होती है? उत्तर देते हैं— स्वर्गादि तथा कैवल्यप्राप्ति के अतिरिक्त विशिष्ट प्राप्ति होती है उसको सूत्र से कहते हैं—

सूत्रार्थ— साधक के द्वारा की गयी क्रियाओं के द्वारा माहेश्वर का योग हो जाता है—

भाष्यानुवाद— अति शब्द सूत्र में विशेषण है। आगतिं में आङ् उपसर्ग मर्यादा अर्थ में है। अध्ययन, ध्यान के बिना भी तपस्या से योग प्राप्त कर लेता है तथा तपस्या के अभ्यास से सभी पाप भी नष्ट हो जाते हैं। अतिगति शब्द योग का पर्याय है। कैसे जाना जाय? उत्तर देते हैं— तप क्रिया से।

सांख्ययोगाभ्युदयादिगतिविशेषविशेषितत्वाद् उपदिष्टाद् वर्तत इत्यर्थः। तस्मात् तपसः फलं विशेषार्थमभिधीयते। योगोऽतिगतिमि(?रि)ति। अगतिमिति कर्म-गमयते। न तावद् गते गमिष्यति, किन्तु गमयतीत्यर्थः।।१७।।

आह—अतिदानाद् यथावत् तपसो गुणवचनं किमस्ति नेति? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

तस्मात्।।१८।।

इति। अत्र तस्माच्छब्दस्तपसो गुणवचने। तस्मादतिदानादिनिष्पन्नो धर्मोऽत्या-गतिं गमयते निरतिशयां प्रापयति। न स्थानशरीरेन्द्रियविषयादिप्राप्तौ। ऐकान्तिकात्यन्तिकरुद्रसमीपप्राप्तेरेकान्तेनैवानावृत्तिफलत्वं च दृष्ट्वा। अतो ब्रवीति तस्मादिति।।१८।।

आह—अत्यन्ततपसो गुणवचनं ज्ञात्वा कारणं च, साधकेन किं कर्तव्यम्? तदुच्यते—तदर्थमेव।

भूयस्तपश्चरेत्।।१९।।

ब्रह्म के सायुज्य के समान योग हो जाता है। जिस प्रकार ज्ञानयोग से स्वर्गादि की प्राप्ति से भी विशिष्ट गति की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार तपस्या का फल विशेषार्थ को देता है। सूत्र में अगतिं पद कर्म संज्ञक है। गमयते से तात्पर्य है प्राप्त कराया जाता है। न कि गया है या जायेगा।।१७।।

प्रश्न है— अति दान के समान तपस्या का क्या गुण कथन है? या नहीं है? उत्तर देते हैं—

सूत्र में तस्मात् शब्द तपस्या से सम्बन्धित है। उस अतिदानादि, यजन रूप तपस्या से सिद्ध धर्म निरतिशय को प्राप्त कराता है। न कि शरीरेन्द्रिय विषयों की प्राप्ति होती है। केवल रुद्र की प्राप्ति सदा के लिये होती है वह पुनः संसार में नहीं आता। अतः तस्मात् कहते हैं।।१८।।

प्रश्न है— अति तप के गुण कथन एवं कारण रूप माहेश्वर को जानकर साधक को क्या करना चाहिए? उत्तर देते हैं— उसका चिन्तन करना चाहिए।

सूत्रानुवाद— बार-बार तपश्चरण करना चाहिए।

अत्र भूयः पुनःसन्धाने द्रष्टव्यः, इष्टापूर्ववत्। कथम्? हर्षेष्वभिसक्तस्य मुहूर्तमर्धमुहूर्तं वा साधनेभ्यो व्युच्छेदं दृष्ट्वा सन्धाने भूयःशब्दोऽभिहितः। तस्मादत्र तपस्तदेव। निरुक्तमस्य पूर्वोक्तम्। चरेद् इत्यर्जनमधिकुरुते। धर्मानेक-संशयान्यत्वाच्च अपुनरुक्तोऽयं चरशब्दो द्रष्टव्यः॥१९॥

आह—यद्येवं तस्मादुच्यतां हर्षाणां को दोषोऽभिव्यज्यते? माहात्म्यस्य वा को गुणः, यस्मात् तद् ग्राह्यमिति? तदुच्यते— कुरुते माहात्म्यम्। यस्मादाह—

नान्यभक्तिस्तु शङ्करे॥२०॥

अयं नकारोऽन्यभक्तिप्रतिषेधे। भक्तिभावनेत्यर्थः। तुशब्दो विशेषणे। कथम्? ये हर्षेष्वभिसक्ताः दूष्यतः(?) तस्करत्वमापन्नाः, ते विशेषण तु शङ्कराद् दूरथा भवन्ति। शङ्करः कस्मात्? समस्तसुखनिर्वाणकरत्वाच्छङ्करः।

भाष्यानुवाद— यहाँ पुनः का तात्पर्य है यदि तपस्या में कदाचित बाध हो जाय तो पुनः लग जाना चाहिए। यज्ञ की पूर्णता के समान। कैसे? हर्ष आदि क्रियायों में लगे रहने पर भी यदि क्षण भर या आधा क्षण भी यदि साधनों से अलग हो जाता है तो साधक सावधान होकर तपस्या में युक्त हो जाय, इसके लिये भूयः शब्द कहा गया है। अतः उसीके लिये अर्थात् माहेश्वर योग के लिये करे। साधक का धर्म है। यह पहले भी कहा गया है। चरेद् अर्थात् धर्मार्जन करे। चर शब्द से पुनरुक्ति नहीं अपितु धर्म और अनेक भ्रान्ति तथा और क्रियायों से तात्पर्य है॥१९॥

प्रश्न है— यदि हर्षों में दोष है तो बतावें कि कौन सा दोष है? यदि महिमा है तो कौन सा गुण है, जिससे ग्रहण करने योग्य है? उत्तर देते हैं— महिमावान् करता है। कहा गया है—

सूत्रार्थ— दूसरे देवों की भक्ति न कर केवल शङ्कर में ही भक्ति होनी चाहिए।

भाष्यानुवाद— इस सूत्र में नकार, अन्य भक्ति का निषेध अर्थ में है। भक्ति अर्थात् चिन्तन करना चाहिए। तु शब्द शङ्कर में ही भावना होनी चाहिए इसके लिये कहा गया है। जो साधक हर्षादि क्रियायों में आसक्त होकर दूसरे

शङ्करे इत्यौपश्लेषिकं सन्निधानम्। शङ्करे भावना कर्तव्या, नान्यत्रेत्यर्थः। उक्तं हि—

कर्मणा मनसा वाचा यदश्लक्ष्णं निषेवते।
तदभ्यासो हरत्येनं तस्मात् कल्याणमाचरेत्।।

एवमेते महात्मानः प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः।
यच्चित्तस्तन्मयो भावो गुह्यमेतत् सनातनम्।।

गच्छंस्तिष्ठन् शयानो वा जाग्रच्चैव स्वपंस्तथा।
शङ्करे भावनां कुर्याद् यदीच्छेद् योगमात्मनः।।

यस्मात् क्षयान्ते त्रैलोक्यं शङ्करे याति संक्षयम्।
तस्मात् संवर्तको धाता शङ्करस्त्वभिधीयते।।

एवं शङ्करे भाव उपश्लेषितव्यो नान्यत्रेत्यर्थः।।२०।।

देवों में चिन्तन करने लग जाता है, उसे चोर धर्म कहा जाता है, विशेष में वह शङ्कर से बहुत दूर हो जाता है। क्यों शङ्कर की ही भक्ति करें? उत्तर देते हैं— समस्त सुख और मुक्तिदायक होने के कारण शङ्कर कहे जाते हैं। शङ्कर में औपश्लेषिक सम्बन्ध अर्थात् भौतिक सम्बन्ध है। अतः शङ्कर का ही चिन्तन करना चाहिए न कि अन्यत्र। कहा भी गया है— शरीर से, मन से, वाणी से, जो भक्त सहज रूप में शङ्कर की भक्ति करता है उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार के अध्यात्म चिन्तन करने वाले महात्मा कहे जाते हैं। जिसका चित्त तदाकाराकारित हो जाता है उसे ही सनातन चिन्तन कहते हैं।

यदि साधक शङ्कर से अपना सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है तो वह प्रत्येक क्षण यानी चलते, ठहरते, सोते, जागते, स्वप्न में भी शङ्कर का ही चिन्तन करे।

तीनों लोकों का संवरण शङ्कर में ही होता है इसी से सृष्टि करने वाले ब्रह्मा भी शङ्कर ही होते हैं। इस प्रकार शङ्कर में ही क्रिया का सम्बन्ध रखना चाहिए, अन्यत्र नहीं।।२०।।

एवं परिसमाप्तिं कृत्वा युक्तं वक्तुम्—

इति। अस्य पूर्वोक्तोऽर्थः।

अत्रेदं ब्रह्म जपेत्।।२१।।

आह—धर्मपरिणामकत्वात् शङ्करत्वात् सुखद ईश्वरोऽभिहितः। अथान्तरसृष्ट्यां सुखदुःखकारणं किं भवति धर्माधर्मसत्त्वरजोवद् उत नेति? उच्यते—अत्र उपायः सुखदस्तथा वक्ष्यामः। यथा वान्यत्र व्यवस्थिते संसारगते कार्ये स एव कारणं परम्। ननु क्रौर्यफलवन्निरधिकारस्तथा वक्ष्यामः, विस्तरशश्चास्मिन् ब्रह्मणि कारणशक्तिं वक्ष्यामः। शक्तिं च ज्ञात्वा यथा साधकोऽष्टभिर्नमस्कारैरात्मानं ददाति, तथा वक्ष्यामः। अत इदमारभ्यते—

वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमो रुद्राय नमः।।२२।।

इति। प्रयोगान्यत्वात् प्रयोजनान्यत्वाच्चापुनरुक्ता वामेदवादिशब्दा द्रष्टव्याः। अत्र वामत्वं देवत्वं ज्येष्ठत्वं रुद्रत्वं च (अ.२, सू.१-४) पूर्वोक्तम्। वामदेव-

---

इस प्रकार अध्याय की समाप्ति में ऐसा कहते हैं।।

सूत्रानुवाद— यहाँ शंकर रूप ब्रह्म का जप यानी चिन्तन करे।

भाष्यानुवाद— धर्म प्रापक, कल्याणदातृ, सुखदातृ होने के कारण ईश्वर कहे जाते हैं। जगत् की सृष्टि में, सुख दुःख का कारण क्या होता है? धर्माधर्म सत्त्वरज है या नहीं है? उत्तर देते हैं— यहाँ साधन सुखद है, इसको आगे कहेंगें व्यवस्थित संसार रूप कार्य में ब्रह्म ही परम कारण है। इसमें निरधिकारी कौन है इसको भी आगे कहूँगा। इस ब्रह्म में विस्तृत कारणशक्ति को भी आगे कहूँगा। इस शक्ति को जानकर साधक आठ प्रकार के नमस्कारों के द्वारा अपने को समर्पित करता है, यह भी आगे कहूँगा। उन नमस्कारों को यहाँ से आरम्भ करते हैं—

सूत्रार्थ— वामदेव रूप ब्रह्म को नमस्कार, ज्येष्ठरूप ब्रह्म को नमस्कार, रुद्ररूपब्रह्म को नमस्कार है।

भाष्यानुवाद— प्रयोग और प्रयोजन भिन्न होने से पुनरुक्ति दोष नहीं समझना चाहिए। क्योंकि इसी अध्याय में सूत्रों के माध्यम से पहले वामत्व, देवत्व, ज्येष्ठत्व और रुद्रत्व की भिन्नता बतायी गयी है। नमः के योग में

ज्येष्ठरुद्रायेति चतुर्थी। नम इत्यात्मप्रदाने पूजायां च। सम्भावनान्यत्वाच्चापुनरुक्ताः सर्वनमस्कारा द्रष्टव्याः॥२२॥

आह—किं चतुष्कमेवात्र कारणे चिन्त्यते? नामचतुष्कापदेशेन वा नाम्नि नमस्कारो द्रष्टव्यः? उच्यते—न। यस्मादाह—

कालाय नमः॥२३॥

अत्र काल इत्येष महेश्वरपर्यायः। कस्मात्? पूर्वोत्तरसूत्रसामर्थ्यात्। कलयते यस्मात् क्षेत्रसाधनेष्टानि(?)स्थानानि कलादिशरीरेन्द्रियविषयादिभ्यो वियोगेनेति, ततः कालः। उक्तं हि—

ब्रह्मादिभूर्जपर्यन्तं जगदेतच्चराचरम्।
यतः कलयते रुद्रः कालरूपी ततः स्मृतः॥

काल्यान् कलयते यस्मात् कलाभ्यः कालपर्ययात्।
कलनात् कालनाच्चापि काल इत्यभिधीयते॥

एवं कालो हि भगवान्। काल्याः क्षेत्रज्ञाः। स्थानानि तु ब्रह्मेन्द्रदेवपित्रादि-वचनाद् ब्राह्मं प्राजापत्यं सौम्यम् ऐन्द्रं गान्धर्वं याक्षं राक्षसं पैशाचमिति। तथा

चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग है। नमः शब्द पूजा और आत्मसमर्पण अर्थ में प्रयुक्त है। अन्यान्य भावनाओं के द्वारा यहाँ पुनरुक्ति नहीं है। यहाँ सभी को नमस्कार से तात्पर्य है॥२२॥

कहते हैं— क्या ये ही चार नामों से ब्रह्म का चिन्तन करना चाहिए, अथवा चार नामों से ही नमस्कार करना चाहिए? उत्तर देते हैं — नहीं और भी नाम नमस्कार के लिये हैं — जैसा कि—

सूत्रार्थ— कालरूप महेश्वर को नमस्कार है।

भाष्यानुवाद— यहाँ काल शब्द महेश्वर का पर्याय है। कैसे? — पहले और बाद के सूत्रों के अनुसार। जिसके द्वारा शरीरेन्द्रिय विषय साधनों को तथा स्थानों को दूर किया जाता है वह काल शब्द से अभिहित है। क्योंकि कहा गया है— चराचर जगत् तथा ब्रह्मादि पर्यन्त जहाँ से उत्पन्न होते हैं उसी को कालरूपी रूद्र कहते हैं। जिस काल भगवान् के द्वारा सबकी उत्पत्ति और लय होता है, उसी को काल कहते हैं। इस प्रकार काल रूप भगवान् हैं। काल्याः अर्थात् जीव है। स्थान से तात्पर्य है— ब्रह्म, इन्द्रदेव, पितर आदि

ब्राह्मणशूद्रगोमृगसर्वभूतकृतान्नादिवचनात् तथा मानुषपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरादीनां ग्रहणम्। तथा योगेश्वरा देवेष्वन्तर्भूता:। कस्मात्? धर्मबाहुल्यात्। तथा नारकास्तिर्यक्ष्वन्तर्भूता:। कस्मात्? अधर्मबाहुल्यात्। एवं स्थानतश्चतुर्दशक: संसार इत्युपचर्यते, एतेषु कालादिवचनान्महेश्वरो निमित्तम्। कस्मात्? पूर्वोत्तरशरीरेषु भोगलोपाभिव्यक्तिमात्रत्वात्। आदिमान् संसारी द्रष्टव्य:, तत्फलभोक्तृत्वात्। कार्यकरणयोरनादित्वाद् अनादि:, अकृताभ्यागमादित्येतद् भगवत्यभ्यधिकत्वं शेषेषु च पुरुषेषु न्यूनत्वं ज्ञात्वा युक्तं वक्तुं कालाय नम:। अत्रापि कालाय इति चतुर्थी। नम इत्यात्मप्रदाने पूजायां च। सम्भावनान्यत्वाच्चापुनरुक्तोऽयं नमस्कारो द्रष्टव्य:।।२३।।

आह—अथ स्थानशरीरेन्द्रियविषयादीनां किमेष भगवान् प्रभु: कर्ता भवति नेति? उच्यते—प्रभु: कर्तैव। यस्मादाह—

का। अर्थात् इन सभी देवों का स्थान है जिसको ब्रह्म, प्राजापत्य, सौम्य, ऐन्द्र, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस, पैशाच कहते हैं। जिसके देवता होते हैं उस अर्थ में ये कहा गया है। उसी प्रकार ब्राह्मण शूद्र, गौ, मृग, सभी प्राणी, अन्न और औषधि आदि कहे गये हैं, उसी प्रकार मानुष, पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप और स्थावरों का ग्रहण होता है। उसी प्रकार योगेश्वरों का देवों में अन्तर्भाव है। कैसे? उत्तर देते हैं— धर्म बाहुल्य से। उसी तरह नारकियों का अन्तर्भाव तिर्यग् योनियों में होता है। कैसे? पाप बाहुल्य से। इस प्रकार स्थान विशेष से भिन्न-भिन्न संज्ञायें संसार के लिये कही गयी हैं। सभी के निमित्त कारण माहेश्वर हैं। कैसे? — आयु, जाति और भोग की प्राप्ति कराना तथा इससे मुक्त कराने में निमित्त माहेश्वर ही हैं। संसार आदिमान् कहलाता है, और कर्मफल भोक्ता है। कार्य और करण अनादि होने से अनादि हैं, क्योंकि बिना बनाये ही उपस्थित होते हैं। भगवान् में इन सबों से अधिकता है, पुरुष में न्यूनता है अत: कालाय नम: कहना युक्त है। नम: के योग में चतुर्थी है अर्थात् समर्पण और पूजा है अनेक भावनाओं से नमस्कार करने से नमस्कार में पुनरुक्ति दोष नहीं है।।२३।।

प्रश्न है? — क्या स्थान, शरीर, इन्द्रिय विषयादि का कर्ता प्रभु है या नहीं है? उत्तर देते हैं— प्रभु ही कर्ता हैं। क्योंकि कहा गया है—

कलविकरणाय नमः।।२४।।

अत्र कला नाम—कार्यकरणाख्या: कला:। तत्र कार्याख्या: पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाश:। आकाश: शब्दगुण:।

शब्दस्पर्शगुणो वायुस्तौ च रूपं च तेजसि।
ते रसश्च जले ज्ञेयास्ते च गन्धः क्षितावपि।।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा:। तथा करणाख्या: श्रोत्रं त्वक् चक्षु: जिह्वा घ्राणं पाद: पायु: उपस्थ: हस्त: वाक् मन: अहङ्कार: बुद्धिरिति। तासां विकरणो भगवानीश्वर:। कस्मात्? दृक्क्रियाशक्त्योरप्रतीघातात्। विकरणत्वं नाम स्थानशरीरेन्द्रियविषयादिसन्निवेशेन विस्तरविभागविशेषतश्च कार्यकरणाख्याभि: कलाभिर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यादिभिश्च क्षेत्रज्ञसंयोजनमित्येतद् भगवत्यभ्यधिकत्वम्, शेषेषु च पुरुषेषु न्यूनत्वं ज्ञात्वा युक्तं वक्तुं कलविकरणाय नम:। अत्रापि कलविकरणाय इति चतुर्थी। नम इत्यात्मप्रदाने पूजायां च। सम्भावनान्यत्वाच्चापुनरुक्तोऽयं नम:शब्द:।।२४।।

सूत्रानुवाद— कार्यकरणरूप माहेश्वर को नमस्कार है।।२४।।

भाष्यानुवाद— कार्य और करण को कला कहते हैं। कार्यरूप पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश है। आकाश का गुण शब्द है। वायु का गुण शब्द और स्पर्श हे। तेज का गुण, शब्द, स्पर्श और रूप है। जल का गुण, शब्द, स्पर्श, रूप और रस है। पृथिवी में गन्ध सहित सभी गुण होते हैं। एवं शब्द स्पर्शादि के करण कान, चर्म, आँख, जिह्वा और नासिका है। पाद, पायु, उपस्थ, हाथ, वाणी, मन, अहंकार और बुद्धि है। इन सबों के रचयिता भगवान् ईश्वर हैं। कैसे? देखने सुनने आदि कि क्रिया कभी बाधित नहीं होती। विकरणत्व से तात्पर्य है कि स्थान, शरीर, इन्द्रिय और विषयादि का सन्निधान होने से उसमें विस्तार, भेद और विशिष्टता आदि गुण रहते हैं। कार्य करण और कलाओं से धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, कार्यरूप, क्षेत्रज्ञ अर्थात् पुरुष से तात्पर्य है। इन सबों से भी जो अधिक होता है वह रुद्ररूप भगवान् कहलाता है। शेष पुरुषों में गुणों की न्यूनता होने से कल विकरणाय नमः कहना युक्त है। यहाँ भी चतुर्थी है अर्थात् समर्पित साधक का बोध नमस्कार पद से होता है। यहाँ भी पुनरुक्ति दोष नहीं है।।२४।।

आह—कालनविकरणत्वाद् अवान्तरसृष्ट्यां कर्मक्षये वृत्तिलाभे चापेक्षते नेति? धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यादीनां वा किमेष भगवान् प्रभुर्भवति नेति? उच्यते—प्रभुः। यस्मादाह—

बलप्रमथनाय नमः।।२५।।

बलं नाम धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्या(णि) इच्छाद्वेषप्रयत्नादीनि विद्यावर्गः रूपाणि। प्र इति भृशार्थे कामित्वाकर्षणे च। मथनत्वं नाम बलवृत्तिनिरोधनम् उदधिमथनवत्। न वाग्विज्ञानादीनि दुर्बलानि। यस्मादुक्तम्—

न ह्यतेजस्विनाशाय तैजसाः प्रभवन्ति वै।
बलान्यतिबलान्यस्य न भवेऽतिबलानि वै(?)।।

इत्येवं भगवत्यभ्यधिकत्वं शेषेषु पुरुषेषु न्यूनत्वं युक्तं वक्तुं बलप्रमथनाय नमः। अत्रापि बलप्रमथनाय इति चतुर्थी। नम इत्यात्मप्रदाने पूजायां च। सम्भावनान्यत्वाच्चापुनरुक्तोऽयं नमस्कारो द्रष्टव्यः।।२५।।

कहते हैं— कालनविकरणत्वाद् अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और संहारक होने के कारण दूसरी सृष्टि में कर्मक्षय रूप वृत्ति के लाभ की अपेक्षा होती है या नहीं? अथवा धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि के स्वामी प्रभु ही होते हैं या नहीं? उत्तर देते हैं— प्रभु ही स्वामी होते हैं— जिससे कहा गया है—

सूत्रार्थ— सारी शक्तियों को मथ देने में जो समर्थ हैं ऐसे भगवान् को नमस्कार है।

भाष्यानुवाद— बल से तात्पर्य है — धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वरी तथा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न जो ज्ञानवर्ग के स्वरूप हैं। प्र उपसर्ग से भगवान् में विशिष्टता का बोध होता है। मथन शक्ति से तात्पर्य है बलकृतियों का निरोध अर्थात् अपने में आधान करना। जैसे समुद्रमंथन। अर्थात् जिस प्रकार समुद्रमन्थन से रत्नों का प्राकट्य होना लक्ष्य था न कि दूसरे को त्रस्त करने की। उसी प्रकार दुर्बल ज्ञानादि को नष्ट करने में तात्पर्य नहीं हैं। क्योंकि कहा गया है— तैजस शक्ति दुर्बल शक्ति के नाश के लिये नहीं उत्पन्न होता उसी प्रकार बल या अतिबल एक दूसरे के कमजोर बल का नाशक नहीं होता। इस प्रकार माहेश्वर में और के अपेक्षा अधिक बल है अतः उसको नमस्कार करना और पूजा करना युक्तिसंगत है। यहाँ भी पुनरुक्ति दोष नहीं है।।२५।।

आह—केषां कालनविकरणमथनानि करोति? तदुच्यते—भूतानाम्। यस्मादाह—

सर्वभूतदमनाय नमः।।२६।।

अत्र कलावचने पुनरुक्तिदोषान्न पृथिव्यादिषु सर्व(भूत)शब्दः, किन्तु सिद्धेश्वरवर्जं चेतनेष्वेव सर्वभूतशब्दः। आह—भूतत्वानुपपत्तेर्न चेतनेषु सर्वभूतशब्दः। तदुच्यते—दमनाय। शमु दमु उपसमे। देवमनुष्यादीनां स्थानशरीरेन्द्रियविषयादिषु या रती रञ्जनाधिवासना तत्सर्वमान्तरदृष्ट्या सर्वमीश्वरकृतमेव द्रष्टव्यमित्येतद् भगवत्यभ्यधिकत्वं शेषेषु च पुरुषेषु न्यूनत्वं ज्ञात्वा युक्तं वक्तुं सर्वभूतदमनाय नम;। अत्रापि सर्वभूतदमनाय इति चतुर्थी। नम इत्यात्मप्रदाने पूजायां च। सम्भावनान्यत्वाच्चापुनरुक्तोऽयं नमस्कारो द्रष्टव्यः।।२६।।

कहते हैं— किन लोगों के बलवृत्ति का मथन होता है? उत्तर देते हैं— चेतन प्राणियों का मथन करते हैं।

सूत्रार्थ— सभी प्राणियों के अन्दर विराजमान प्रभु को नमस्कार है।।२६।।

भाष्यानुवाद— सर्वभूत रूप कला के कथन से पुनरुक्ति दोष नहीं है। स्थावर जङ्गम सभी भूत में ही आते हैं किन्तु यहाँ जो सिद्धेश्वर हैं उनको छोड़कर सर्वभूत शब्द का प्रयोग केवल चेतन के बल में है। चेतन में कहने से सर्वभूत का तात्पर्य की उपपत्ति नहीं हो रही है? उत्तर देते हैं— दमनाय कहने से ही केवल चेतन का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। शमु, दमु, धातु उपसम अर्थ में है अर्थात् साधक के अन्दर ही शमदम का प्रयोग हो सकता है न कि जड़ पदार्थ में। देव मनुष्यादि में स्थान, शरीर इन्द्रिय विषयों के प्रति जो राग होता है, उस रागात्मिका प्रेम का अधिष्ठान ईश्वर ही है। सबके निर्माण कर्ता प्रभु ही है। अतः सबसे विशिष्ट है। इनसे सभी न्यून है अतः साधक नमस्कार और पूजा समर्पित करता है।।२६।।

आह—कीदृशे महेश्वरे कालनादिशक्तिरुच्यते? किं सकले निष्कले उत उभयोरपि? उच्यते—उभयोरपि। यस्मादाह—

मनोऽमनाय नमः।।२७।।

अत्र मनःशब्देनान्तःकरणम्, तत्तन्त्रत्वादुदाहरणानुग्रहणार्थत्वाच्च मनोग्रहणस्य, उभयात्मकत्वाच्च मनसः सर्वकरणग्रहणानुग्रहणाच्च, कार्यग्रहणमित्यतः कार्यकरणाधिष्ठातृत्वाच्च सकल इत्युपचर्यते। तथा चैतादृशमनसः प्रतिषेधादत्र कार्यकरणरहितो निष्कलो भगवान् अमन इत्युच्यते। तस्मात् सकलेतरानुग्राहकानादिशक्तिर्विद्यते। उक्तं हि—

अपाणिपादोदरपार्श्वजिह्व अतीन्द्रियो व्यापिस्वभावसिद्धः।
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णो न चास्त्यबुद्धं न च बुद्धिरस्ति।।
स वेत्ति सर्वं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।।

कहते हैं— क्या भूत महेश्वर में संहारादि शक्ति रहती है? सगुण महेश्वर में या निर्गुण महेश्वर में या दोनों में? उत्तर देते हैं— सगुण निर्गुण दोनों में शक्तियाँ विद्यमान हैं— जैसा कहा गया है—

सूत्रानुवाद— महेश्वर को समना और अमना दोनों रूप से साधक नमस्कार और पूजा समर्पित करता है।

भाष्यानुवाद— यहाँ मन शब्द से अन्तःकरण का ग्रहण है। अर्थात् सगुण रूप में भी कृपा आदि का उदाहरण प्राप्त है, तथा सगुण निर्गुण दोनों अवस्थाओं में मन के करणों का ग्रहण अनुग्रहादि प्राप्त हैं। अर्थात् कार्य (संसारादि) होते हैं। अतः कार्यकरण के अधिष्ठातृ देवता होने से सकल रूप में जाने जाते हैं। जब वह अमना हो जाता है तो कार्यकरण रहित नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप होकर निष्कलरूप में जाने जाते हैं। अतः सकल रूप से भिन्न होने पर भी उनमें अनुग्राहक शक्ति विद्यमान रहती है।

जैसा कहा गया है— प्रभु के न हाँथ है, न पैर हैं, न उदर है, न कँधा है, न जिह्वा है, वह अतिन्द्रिय है, सब में सदा रहने वाला स्वरूप सिद्ध है किन्तु चक्षुरिन्द्रिय न होने पर भी सबको देखने वाला है, कर्णरहित होने पर

इत्येतद् भगवत्यभ्यधिकत्वं शेषेषु च न्यूनत्वं च ज्ञात्वा युक्तं वक्तुं मनोऽमनाय नमः। मनोऽमनाय इति चतुर्थी। नम इत्यात्मप्रदाने पूजायां च सम्भावनान्यत्वाच्चापुनरुक्ताः सर्वे नमःशब्दा द्रष्टव्याः।।२७।।

एवमत्र भगवत्कौण्डिन्यकृते पञ्चार्थभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः सह ब्रह्मणा ग्रन्थतोऽर्थतश्च परिसमाप्त इति।।

भी सब सुनने वाला है, बुद्धि न रहने पर भी सबको समझता है, वह सबको जानता है किन्तु उसको जानने वाला कोई नहीं होता। अतः उसको सर्वश्रेष्ठ महान् पुरुष कहते हैं।

इसलिये ये सबसे महान् है, शेष सभी न्यून हैं ऐसा समझकर नमस्कार समर्पित करते हैं। यहाँ भी पुनरुक्ति दोष नहीं है, इसी प्रकार सभी नमः शब्द को समझना चाहिए।।२७।।

इस प्रकार भगवान् कौण्डिन्यकृत भाष्य में द्वितीय अध्याय पूर्ण हुआ। ब्रह्म सम्बन्धी शब्द और अर्थ के साथ परिपूर्ण हुआ।

तृतीयोऽध्यायः

इदानीं तृतीयमध्यायमवसरप्राप्तं सम्बन्धं कृत्वा वक्ष्यामः। आह—यदेवं तस्मादुच्यतां कतमस्य पदार्थस्य विचारणायां तृतीयोऽध्यायः सम्बध्यते? तदुच्यते—विधिशेषेण। कस्मात्? इह पुरस्तादुक्तम्—अकलुषमतेः, चरतः (अ.१, सू.१८-१९) चर्यायां चर्यायां (अ.२, सू.१३) तस्माद् भूयस्तपश्चरेद् (अ.२, सू.१८-१९) इत नियोगोऽभिहितः। तस्माद् लिङ्गधारि-त्रिषवण-आयतन-हसितादिषु (अ.१, सू.६,२,७.८) सूत्रेषु पूर्वोक्तान्यवस्थानकालदेशक्रियाप्रयोगप्रयोजनान्तराणि तद्व्यतिरिक्तान्यन्यान्यप्यवस्थानकालदेशादीनि शुद्धिवृद्ध्यर्थं वक्ष्यामः। यस्मादाह—

अव्यक्तलिङ्गी।।१।।

इति। अत्र अकारो लिङ्गव्यक्तत्वं प्रतिषेधति। अवसितप्रयोजनः पूर्वोक्तैर्लिङ्गोपकरणैरनुस्नाननिर्माल्यैकवासाद्यैः प्रयोजनैर्विनिवृत्तैर्लोकतस्त्रिषु स्नानं कुर्वन्नपि। सदाश्रमलिङ्गानूपलब्धावनवधृतोक्तलिङ्गवदव्यक्ताः क्रियाः कार्याः।।१।।

प्रसङ्गतः तीसरे अध्याय में कार्यकरण के सम्बन्ध को लेकर कहूँगा। कहते हैं— यदि ऐसी बात है तो किन पदार्थों के विचार में तृतीयाध्याय प्रारम्भ है, बतावें? उत्तर देते हैं— जो पहले बताया जा चुका है, उससे शेष विधि को बताऊँगा। कैसे? जैसे पहले अध्याय में साधक को कहा गया है कि साधक स्वच्छबुद्धि वाला होवे, सदा विचरण करता रहे, भिन्न-भिन्न क्रियाओं को करे, बार-बार तपस्या करे, इस प्रकार धर्म का कथन हुआ है। पहले अध्याय के दूसरे, छठवें, सातवें और आठवें सूत्रों के अनुसार विधि करने के बाद इसके अतिरिक्त साधक की शुद्धि वृद्धि के लिये इस अध्याय में भी कहेंगे। जैसे—

सूत्रानुवाद— साधक को अपने असली स्वरूप को लोगों में नहीं दिखाना चाहिए।

भाष्यानुवाद— सूत्र में जो अकार है, उसका तात्पर्य है कि स्वरूप का प्रतिषेध करे, अर्थात् अपने को छिपाकर व्यवहार करे। जो पहले साधक को कहा गया है कि स्थायी वास न करे, भस्मस्नान, निर्माल्य धारण करे, एक वस्त्र धारण करे इत्यादि कार्यों को करते हुए, सदा आश्रम चिह्नों को छिपाते हुए अत्यन्त झुककर जैसे पहले स्वरूप को छिपाया था वैसी ही क्रियाओं को करे।।१।।

आह—कया वा मर्यादया कस्मिन् वा काले सा क्रिया कर्तव्या? तदुच्यते—

व्यक्ताचारः।।२।।

अत्र व्यक्तशब्दो दिवसमधिकुरुते। व्यक्ताः स्फुटाः प्रकाशाः। अहनीत्यर्थः। आङ् इत्यवमानादिनिष्पत्तिमर्यादामधिकुरुते। चार इति क्राथनादीनामुद्देशः। तान् क्राथनादीन् साधको नटवदवस्थितो रङ्गवल्लौकिकानधिजन्य(?) नाटकवदाचारानाचरति करोति प्रयुङ्क्त इत्यतोऽयं व्यक्ताचारः।।२।।

आह—अव्यक्तलिङ्गिनो व्यक्ताचारस्य का कार्यनिष्पत्तिः? तदुच्यते—अवमानः। यस्मादाह—

अवमतः।।३।।

अत्र 'अव वर्जने'। मानेन तेषां लिङ्गाचारज्ञानविधिविपरीतप्रवृत्तिं दृष्ट्वा सर्वदोषदुष्टोऽयमिति मानसाधनेनावमाने यो जनः परिवर्जयतान्यतोऽयमबहुमतत्वं प्राप्नोति उक्तं च—

कहते हैं— किस मर्यादा में किस समय इस क्रिया को करनी चाहिए? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— दिन के प्रकाश में साधक को अपनी क्रियायें करनी चाहिए।

भाष्यानुवाद— सूत्र में व्यक्त शब्द का तात्पर्य दिवस है। अर्थात् सम्यक् रूप से प्रकाश हो चुका हो उसी को दिन शब्द से जाना जाता है। आचार शब्द में जो आङ् उपसर्ग है वह मर्यादा को लक्षित करता है। चार शब्द से तात्पर्य है लोक में अपने को निर्बुद्धि पागल के तरह दिखाना जिससे तिरस्कार आदि की प्राप्ति होवे। जिस प्रकार रङ्गभूमि पर नट अपने वेशभूषा को बदल कर भिन्न-भिन्न क्रियायें करता है वैसे ही साधक भी इस संसार रूपी रङ्गमंच पर भिन्न-भिन्न क्रियाओं को दिखाता रहे। इसी को व्यक्ताचार कहते हैं।।२।।

प्रश्न है? — अपने स्वरूप को छिपाये हुए व्यक्ताचार साधक को क्या फल मिलता है? उत्तर देते हैं— तिरस्कार। जैसे कहा गया है—

सूत्रार्थ— साधक को मान, प्रतिष्ठा से दूर रहना ही लक्ष्य है।

भाष्यानुवाद— अव उपसर्ग निषेध अर्थ में है। उन साधकों के आचार से विपरीत आचार के ज्ञान से लोग दुष्ट जानकर और दोषी समझकर उनमें आसक्त न होवें, यही साधकों का उद्देश्य है। क्योंकि कहा गया है—

अमृतस्येव लिप्सेत नैवं मानं विचक्षणः।
विषस्येव जुगुप्सेत सन्मानस्य सदा द्विजः।।
सुखं ह्यवमतः शेते सर्वसङ्गविवर्जितः।
दोषान् परस्य न ध्यायेत् तस्य पापं सदा मुनिः।। इति।।३।।

आह—केष्वव्यक्तलिङ्गिना व्यक्ताचारेणावमतेन भवितव्यमिति? तदुच्यते—

सर्वभूतेषु।।४।।

अत्र सर्वभूतशब्दो वर्णाश्रमिषु द्रष्टव्यः। कस्मादुच्यते वर्णाश्रमिस्विति? 'भूतेषु' इत्युक्तम्, न तु देवतिर्यग्योनिम्लेच्छादिषु। कस्मात्? व्यक्ताचारावमानदानादान- विरोधात्। उक्तं हि—

(धन्यो देशो) यत्र गावः प्रभूताः
मेध्यं चान्नं पार्थिवा धर्मशीलाः।
पुण्या नद्यः सर्वलोकोपभोग्याः
तांस्तान् देशान् सिद्धिकामो व्रजेत।।

मान, प्रतिष्ठा आदि नाशवान पदार्थों की इच्छा विद्वानों को नहीं करनी चाहिए। हमेशा मान प्रतिष्ठा को जहर के समान निन्दा करनी चाहिए। जो साधक संसार में लिप्त नहीं होता तथा तिरस्कृत होता है वह सुखपूर्वक सोता है। जनों के पाप रूपी दोष को कभी ध्यान न करे।।३।।

कहते हैं— किन लोगों में साधक तिरस्कार रूप साधन को दिखावे? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— सभी वर्णों एवं आश्रमियों में अपने प्रच्छन्न रूप को दिखावे।

भाष्यानुवाद— यहाँ सूत्र में सर्वभूत से तात्पर्य है वर्णाश्रम। कैसे वर्णाश्रम ही तात्पर्य है? उत्तर देते हैं— भूतेषु पद में यहाँ देव, तिर्यग् योनि तथा म्लेच्छों का ग्रहण नहीं है। कैसे? उत्तर देते हैं कि इन लोगों में देने, लेने की शक्ति तथा तिरस्कारादि कार्य नहीं होते। क्योंकि कहा गया है—

सिद्धि चाहने वाले साधक उन्हीं स्थानों में जाँय जहाँ पर्याप्त गोधन, धर्म परायण राजा, प्रभूत अन्न, भोज्य पदार्थ, सबके उपभोग करने योग्य पवित्र नदी होवें।

भूतेषु इति सामीपिकं सन्निधानम्। भूतसमीपे भूताभ्याशे भूतानामध्यक्ष इत्यर्थः। सामीपिकव्याख्यानेनावमानदेशादिस्पष्टतरत्वादस्य विध्याचरणम्, असुरेषु (अ.४, सू.१०) इत्याचरणज्ञापकाच्च॥४॥

आह— अवमतेन सर्वभूतेषु किं कर्तव्यम्? तदुच्यते—चरितव्यम्। यस्मादाह—

परिभूयमानश्चरेत्॥५॥

अत्र परि सर्वतोभावे। परीक्ष्या इत्यर्थः(?)। भूय इति बहुधा। यष्टिमुष्ट्यादिभिः संयोजनं परिभवः। कायिक इत्यर्थः। मान इति साधककालकर्माभिधाने। परिभूयमानेनैव। स परिभवो दरिद्रपुरुषराजाभिषेक इव द्रष्टव्यः। कनकपाषाणाद् इन्द्रकीलकवच्च भवितव्यम्। चरेद् इत्यर्जनमधिकुरुते। धर्मार्जने नियोगे च निन्दित इति गर्हिताभ्याख्याने चरितव्यमित्यर्थः॥५॥

आह—अवमतस्य परिभूयमानस्याचरतः किं तापशान्तिरेव, उत शुद्धिरप्यस्ति? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

भूतेषु से तात्पर्य है जिसके सन्निधि में रहा जा सके। भूतशब्द से समीप, आँगन, अध्यक्ष समझना चाहिए। सामीप्य के व्याख्यान से अवमानादि क्रिया स्पष्ट है, अतः इन लोगों में साधक आसक्त न होवे ऐसे आचरण से तात्पर्य है। चौथे अध्याय के दसवें सूत्र में भी असुरेषु का उल्लेख है॥४॥

कहते हैं— अपमानित साधक सभी आश्रमियों में क्या करे? उत्तर देते हैं— विचरण करता रहे। जैसे कहा गया है—

सूत्रार्थ— हर तरह के तिरस्कार को अनुभव करते हुए साधक विचरण करे।

भाष्यानुवाद— परि उपसर्ग का अर्थ इस तरह है। बार-बार अनुभव करे। शरीर से कभी डंडा चलावे कभी मुक्का दिखावे। ये सब लोगों के द्वारा तिरस्कार प्राप्त होने का साधन है। साधक की अवस्था में ये सभी क्रियाओं को दर्शावे। वह परिभव दरिद्र पुरुष के समान अथवा राजा के अभिषेक समान हो तिरस्कार को ही स्वर्ण, मिट्टी और इन्द्र के वज्र के समान समझे। चरेद् से तात्पर्य है, धर्मार्जन करे। धर्मार्जन की क्रिया में निन्दित और गर्हित क्रियाओं का व्याख्यान है॥५॥

कहते हैं— तिरस्कार का बार-बार आचरण से केवल तापों की ही शान्ति होती है या शुद्धि भी होती है? उत्तर देते हैं— शुद्धि भी होती है। जैसे कि कहा गया है—

अपहतपाप्मा।।६।।

भवतीति वाक्यशेषो वचनाधिकाराद् गम्यते। अत्र 'अप वर्जने आघाते नाशे च'। अपहता अन्यतनष्टा इत्यर्थ:(?) पाप्मानोऽत्र द्विविधा:— सुखलक्षणा: दु:खलक्षणाश्च। (तत्र सुखलक्षणा:)—उन्मादो मदो मोहो निद्रा आलस्यं कोणता अलिङ्गो नित्यमसद्वादित्यं बहुभोजनमित्येवमाद्या:। तथा दु:ख:लक्षणा:— शिरोरोगदन्तरोगाक्षिरोगाद्या:। एवमेते पाप्मान आत्मगता: कार्यकरणेष्वादर्शप्रति-रूपकवदभिव्यक्ता: कृत्स्ना अपहता: (अन्यतमस्य?) पाप्मान:। सोऽयमपहतपाप्मा भवतीत्यर्थ:।।६।।

आह—किमवमान: परिभवश्च कायिकं मानसं साधनद्वयमेवास्य पापक्षय-शुद्धिहेतु:, आहोस्विद् वाचिकमप्यस्ति नेति? उच्यते—यस्मादाह—

परेषां परिवादात्।।७।।

सूत्रार्थ— जिसके सभी प्रकार के पाप नष्ट हो गये हैं, वह अपहतपाप्मा कहलाता है।

भाष्यानुवाद— सूत्र में भवति शब्द का अध्याहार कर लेना चाहिए। अप उपसर्ग का अर्थ—निषेध, आघात तथा नाश है। अपहता का अर्थ सर्वतोभावेन नष्ट होना है। दो तरह के पाप कहे गये हैं— सुख लक्षण वाले और दु:खलक्षण वाले। बेपरवाह, नशा, मोह, निद्रा, आलस्य, न्यूनता, स्वरूप विहीन, असत्यवादी और अतिभोजन आदि सुख के लक्षण हैं। दु:ख के लक्षणों में सिर दर्द, दाँत दर्द, आँख दर्द आदि कहे गये हैं। इस प्रकार सभी पाप कार्य करण के रूप में जो अनुभूत होते हैं वे सभी पाप का नष्ट हो जाना अपहतपाप्मा कहलाता है।।६।।

कहते हैं— अमान और तिरस्कार रूप साधन द्वय से केवल कायिक मानसिक पाप क्षय होता है या वाचिक पापक्षय भी होता है? वाचिक शुद्धि भी होती है? या नहीं होती है? उत्तर देते हैं— जैसे कहा गया है—

सूत्रार्थ— दूसरों के कटु एवं निन्दित शब्दों को सुनने से ही साधक की वाणी की शुद्धि होती है।

अत्र परा नाम स्वपरसमयाधिकृता येऽवमानादिभिः संयोजयन्ति, तेषाम्। परेषाम् इति षष्ठीबहुवचनम्। आह—(स्वप)रवाक्यावमानादिभिः शुद्धिरेवास्य, न तु वृद्धिः। सा च साधकस्य फलाभिधानाद् अतिदानादिष्वित्युच्यते, न पूर्वकृतसुकृतदानविवक्षया। परि इति च सर्वतोभावे। वद वादः। अव्यक्तोऽयं प्रेतोऽयम् उन्मत्तोऽयं मूढोऽयं मूर्खोऽयं निद्राविष्टो वायुरुद्धोऽयं दुष्कामी असम्यक्कारी असम्यग्वादी इत्येवमुग्रैर्वचोभिरभिघ्नन्तीति वादाः। वादाद् इति निमित्तपञ्चमी द्रष्टव्या। तस्मादवमानादिभिः परान् संयोजयता स्वयमेवात्मा संयोक्तव्यः। अन्यथा पाशमात्रः स्यादिति(?)॥७॥

(आह)—पाप्मनां वा ज्ञानपदेशात् सन्देहः। कस्य कार्यं पाप्मनः(?) कथं वा तेषां कार्यकरणेष्वभिव्यक्तानां परसमुत्थैरवमानादिभिर्निर्घातनं? तदुच्यते। यस्मादाह—

पापं च तेभ्यो ददाति॥८॥

भाष्यानुवाद— यहाँ परा शब्द से तात्पर्य है, स्वपरक दूसरे की वाणी जो तिरस्कारादि के द्वारा युक्त करता है। तेषाम् षष्ठी बहुवचन है, अर्थात् बहुतों से अवमानादि का सम्बन्ध स्थापित है। दूसरों के दुरुक्ति से साधक की शुद्धि ही होती है दोषों की वृद्धि नहीं होती। वह शुद्धि साधक को फल प्रदान करती है जो समर्पण के लिये होता है। सञ्चित पुण्य समर्पण से तात्पर्य नहीं है। परि उपसर्ग का अर्थ, हर तरह से जो कहा जाय वह परिवाद है। वाद किसे कहते है— जो लोग साधक को गुप्त, प्रेत, उन्मत्त, मूढ़, मूर्ख, निद्रालु, बेहोश, दुष्कामी, निन्दित कर्म कर्ता, असंगत बकने वाला इत्यादि कठोर वाणियों के द्वारा तिरस्कृत करते हैं। वादाद् में निमित्त में पञ्चमी है न कि अलगाव में। इसलिये अवमानादियों के द्वारा दूसरों को असंग करने के लिये अपने को दिखाता है यदि ऐसा भाव नहीं है तो साधक बन्धन में पड़ जाता है॥७॥

कहते हैं— पाप मन वाले को ज्ञान अर्थात् प्रकाश हो जाता है, इस कथन पर संदेह उत्पन्न होता है? किस कार्य से पाप मन वाला समझा जाय? अथवा कैसे जाना जाय कि साधक के पापों का नाश हो गया? जैसे कहते हैं—

सूत्रार्थ— साधक अपना पाप दुरुक्ति बोलने वाले को देता है।

अत्र पापम् इत्यधर्मपर्यायः। तद्यथा—

आगोऽपरागो मुसलं दुरितं दुष्कृतं तरून्।
पापं पाप्मानं वृजिनं स्तेयम्·······(?)।।

इत्येकार्थवाचका: शब्दा:। इह चोक्तं पापमिति। पापं च कस्मात्? पावक (पातक)पासकत्वात् पापम्। पावयति यस्मात् शिरोरोगदन्तरोगाक्षिरोगादिभिः, पातयति नरकादिषु, पासयति वानिष्टाभिः कार्यकरणाख्याभिः, कलाभिरिति। अत: पावकपातकपासकत्वात् पापम्। एवं च बीजाङ्कुरवत् पापपाप्मनां हेतुहेतुमत्त्वोपनयो द्रष्टव्य:। बीजपापप्रवसवा: पाप्मान इत्यर्थ:। तेभ्य इति चतुर्थी सम्प्रदानार्था। अथ (ये) एवमवमानादिभिः संयोजयन्ति तेभ्यो ददाति प्रयच्छति, संक्रामयतीत्यर्थ:।।८।।

आह—किमवमानादिभिः शुद्धिरेवास्य, न तु वृद्धिरिति? तदुच्यते— वृद्धिरप्यस्ति। यस्मादाह—

सुकृतं च तेषामादत्ते।।९।।

अत्र सु प्रशंसायाम्। कृतम् इति धर्मपर्याय:। चशब्द: शुद्धिसमुच्चयार्थ: पूर्वधर्मनियोगार्थश्च। तेषाम् इति। ये अवमानादिभिः संयोजयन्ति, तेषामित्यर्थ:।

भाष्यानुवाद— पाप शब्द अधर्म का पर्याय है। उस पाप को पाप्मान, वृजिन और चोरी कहने पर भी पाप ही अर्थ होता है। जैसे सिर का रोग, दन्त रोग, आँख का रोग ये सब पाप ही कहलाते हैं। नरकादि में जाना, बन्धन में पड़ना और अनिष्ट का होना पाप ही है। इसको बीज और अङ्कुर के समान समझना चाहिए। पाप बीज पाप उत्पन्न करने वाले होते हैं। सम्प्रदान अर्थ में चतुर्थी है। जो लोग अवमान करते हैं उनके प्रति पाप जाता है।।८।।

कहते हैं— अवमानादि कार्य से साधक की केवल शुद्धि होती है, उसमें कुछ वृद्धि नहीं होती? उत्तर देते हैं— वृद्धि भी होती है। जैसे कि—

सूत्रार्थ— साधक गाली या अपमान करने वाले को अपना पाप देता है तथा उसका पुण्य ग्रहण कर अपनी वृद्धि करता है।

भाष्यानुवाद— सूत्र में सु उपसर्ग प्रशंसा अर्थ में है। कृतम् शब्द धर्म का पर्याय है। च शब्द शुद्धि आदि समुच्चय अर्थ में है। पूर्वधर्म को भी

तेषामिति षष्ठीग्रहणमनभिव्यक्तस्य कृत्स्नस्यादानज्ञापनार्थम्। आदत्ते। आ ग्रहणे। स्वात्मनि करोति विषमं वा इहातुरवदित्यर्थ:।।९।।

आह—अतिदानाद्यतितपोवदवमानादिसाधनं गुणवचनं किमस्ति नेति? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

तस्मात्।।१०।।

इति। अत्र तस्माच्छब्दोऽवमानादिसाधनगुणवचने। कथम्? यस्मादवमानादिभि: पापपाप्मनां क्षये शुद्धि: सुकृतादाने च वृद्धिर्भवति। यस्माच्च तन्निष्ठाऽलौकिकशरीरेन्द्रियविषयादिप्रापक:(?) ऐकान्तिकात्यन्तिकरुद्रसमीपप्राप्तिरेकान्तेनात्यन्तिकी भवति। अतो ब्रवीति तस्मादिति।।१०।।

आह—अथैतदवमानादिसाधनमेव कर्तव्यम्? किं वा अव्यक्तावस्था(नाये?)-नैव चरितव्यम्? तदुच्यते न। यस्मादाह—

बताने वाला है। तेषाम् से तात्पर्य है जो तिरस्कारादि से विभूषित करते हैं। षष्ठी बहुवचन से सम्पूर्ण पुण्य के ग्रहण में तात्पर्य है। आङ् उपसर्ग ग्रहण अर्थ में है। अर्थात् आत्मसात् करता है। विपरीत होने पर भी आतुर के समान ग्रहण करता है।।९।।

कहते हैं— अतिदान, अतितप, परिवाद और अवमानादियों में गुण कथन क्या है? या नहीं है? उत्तर देते हैं— जैसे—

सूत्रार्थ— अतिदानादि का कथन गुण कथन ही है। अत: तस्मात् कहा।

भाष्यानुवाद— यहाँ तस्मात् शब्द गुण कथन में ही प्रयुक्त है। कैसे? — जिससे अपमानादि क्रियाओं कें होने से पाप का क्षय और सुकृत आदान से वृद्धि होती है। जिस सुकृत से साधक को अलौकिक शरीरेन्द्रिय विषय की प्राप्ति होती है तथा एकमात्र रुद्रोपासक को ऐकान्तिक और आत्यन्तिक सामीप्य की प्राप्ति भी हो जाती है। अत: तस्मात् कहा गया है।।१०।।

कहते हैं— क्या अवमानादि साधनों का ही आचरण करे? अथवा अव्यक्तावस्था का आचरण करे? उत्तर देते हैं— नहीं। और आचरणों को भी करे। जैसे—

प्रेतवच्चरेत्।।११।।

अत्र पुरुषाख्यः प्रेतः, न मृताख्यः। कस्मात्? आचरणोपदेशात्। वद् इति किञ्चिदुपमा। उन्मत्तसदृशदरिद्रपुरुषस्नातमलदिग्धाङ्गेन रूढश्मश्रुनखरोमधारिणा सर्वसंस्कारवर्जितेन भवितव्यम्। अतो वर्णाश्रमव्युच्छेदो वैराग्योत्साहश्च जायते। प्रयोजननिष्पत्तिश्च भवति अवमानादि। चरेद् इत्याज्ञामधिकुरुते। धर्मार्जिने नियोगे च। संशयान्यत्वाच्चापुनरुक्तोऽयं चरशब्दो द्रष्टव्यः।।११।।

आह— चरतोऽस्य के क्रियाविशेषाः? का वार्थनिष्पत्तिः? आचाराणां वा को विस्तारः? तदुच्यते—

क्राथेत वा।।१२।।

अत्र यदा प्राप्तज्ञानः क्षीणकलुषश्च कृताभ्यनुज्ञः, तदा आचार्यसकाशान्निष्क्रम्यागत प्रत्यगारं नगरं वा प्रविश्य यत्र लौकिकानां समूहस्तत्र तेषां

सूत्रार्थ— जनासक्ति न हो इसके लिये विभिन्न दुषित स्वरूपों में भी आचरण करे।

भाष्यानुवाद— प्रेत शब्द से जीवित व्यक्ति से तात्पर्य है न कि मृत व्यक्ति से। कैसे? आचरण अर्थात् पागल के समान, दरिद्र पुरुष के समान गन्दा, मैले कुचैले, बड़े-बड़े नख, दाढ़ी, मूँछ को धारण कर सभी संस्कारों से रहित होकर लोगों में आचरण करे। इससे अपने वर्णाश्रम का पोषण तथा वैराग्य और उत्साह की वृद्धि होती है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति होती है। चरेत् से आज्ञा पालन, धर्मार्जन का सम्बन्ध है। चर शब्द से क्रिया भिन्न होने के कारण पुनरुक्ति दोष नहीं है।।११।।

कहते हैं— चर से कितनी क्रियायें हैं? क्या अर्थ प्राप्त होता है? आचारों का कितना विस्तार है? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— प्रेत के समान आचरण करे अथवा सोये हुए के समान नासिका से घर-घर की आवाजें करें, यही क्रान्थन क्रिया है।

भाष्यानुवाद— यहाँ जब साधक ज्ञानार्जन कर लेता है, अपने ज्ञान से निष्पाप हो जाता है, कृतज्ञता आ जाती है तब गुरु से आज्ञा लेकर आश्रम

नातिदूरे नातिसन्निकर्षे यत्र च तेषां नोपरोधो दृष्टिनिपातश्च भवति, तत्र हस्त्यश्वरथपदातीनां पन्थानं वर्जयित्वोपविश्य निद्रालिङ्गशिरश्चलितजृम्भिकादीनि प्रयोक्तव्यानि। तत्रैवानेनासुप्तेन सुप्त इव भवितव्यम्। ततः प्राणरेचनस्य वायोः कण्ठदेशे पुरुपुरुशब्दः कर्तव्यः। ततस्ते मनसा वा वाचा वा निद्राविष्टोऽयमिति लौकिकाः प्रपद्यन्ते परिभवन्ति च। अनेनानृताभियोगेनास्य यत् तेषां सुकृतं तदागच्छति। अस्यापि च यत् पापं तत् तान् प्रति। एवं क्राथनम् इति क्रिया। इत इत्यभियजने आज्ञायां नियोगे च। वाशब्दः क्राथनस्पन्दनादिविभागे द्रष्टव्यः॥१२॥

आह—अविभक्ताभिधानादेव क्राथनस्पन्दनादीनां विभागसिद्धिः, हसितादिवत् (अ.१,सू.८)। कस्माद् भाविवचनं भवति? उच्यते—पृथगभिधाने सत्यपि हसितगीतनृत्यवत् सन्देहः। पृथगभिधाने सत्यपि हसितगीतयोः पृथक्-पृथक् प्रयोगः। अत्र विभक्तयोस्तु गीतनृत्ययोः। अध्ययनमन्त्रणयोश्च। तस्मात् पृथगभिधानमनुरतो वा विभागे भवतान्यदोषः(?) ततः क्राथनक्रिययाऽवमानादिषु

से निकल कर गाँवों और शहरों में भ्रमण करने जाता है। ऐसे ग्रामों और शहरों में प्रवेश करें जहाँ अधिक लोग एकत्रित होते हो, उनसे कुछ ही दूरी पर जहाँ यातायात का सम्बन्ध न हो ऐसे मार्ग पर शयन का अभिनय करें, वहाँ हाथी, घोड़े, रथ, पैदल आदि का मार्ग न हो, ऐसी जगह पर बैठकर पहले निद्रा के चिह्नों जैसे जम्भाई, देह को मरोड़ना आदि क्रिया करे तत्पश्चात् श्वांसों को खींचे, बाहर करे और कण्ठ से सोनेवाला आवाज करे। ऐसा करने पर लोग देखकर कहेंगे कि यह सोया हुआ है, और कुछ कहकर तिरस्कृत करेंगे। उस तिरस्कार रूप क्रिया से उनके सुकृत साधक में आयेंगे तथा पाप चले जायेंगे। उनके पास चले जायेंगे, इसी को क्राथन क्रिया कहते हैं। इत का तात्पर्य है, आज्ञा में, धर्म में सम्बन्धित होना। वा से क्रान्थन स्पन्दन आदि का विभाग में तात्पर्य है॥१२॥

कहते हैं— वा शब्द नहीं कहने पर भी क्रान्थन, स्पन्दन आदि का विभाग सिद्ध हो जाता है। जैसे हसितादि सूत्र में नृत्य आदि का कथन है तो क्यों वा का प्रयोग किया गया है? उत्तर देते हैं— पृथग् कथन होने पर भी, हँसना, गाना, नृत्य करना आदि में संदेह होता है। परन्तु सारी क्रियायें अलग-अलग हैं। सूत्र में विभाग तो केवल गीत और नृत्य में हैं और अध्ययन, मन्त्रणा

निष्पन्नेषु क्राथनादि संसृष्टं समुत्सृज्य शीघ्रमुत्थातव्यम्। यथा लौकिकानां सम्प्रत्ययो भवति, किमप्यनेन स्वप्नान्तरे भयं दृष्टमिति। उत उत्थाय शिर:पाण्यादीनामन्यतमं स्पन्दितव्यम्। यस्मादाह—

स्पन्देत वा।।१३।।

अत्र स्पन्दनमिति ज्ञानेच्छामधिकुरुते। कस्मात्। ज्ञानेच्छाप्रयत्नपूर्वकं शरीरावयवा: स्पन्दयितव्या:। द्रष्टारो हि वायुसंसृष्टोऽयमिति लौकिका: प्रतिपद्यन्ते (परिभवन्ति) च। अनेनानृताभियोगेनास्य तत्पुण्यमागच्छति, अस्यापि च यत् पापं तान् गच्छति। एवं स्पन्दनम् इति क्रिया। इत इत्यभियजने आज्ञायां नियोगे च। एवमादिसाधने सति, वा विकल्पे, रौद्री बहुरूपीवत्। अवस्थानक्राथनोत्थानस्पन्दनादौ वाशब्दो द्रष्टव्य:।।१३।।

आह—अभिप्रस्थितस्य धर्मसाधनं किमस्ति नेति? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

मण्टेत वा।।१४।।

में है, अत: विभाग में कोई दूसरा दोष न हो इसलिये विभाग किया गया है। क्रान्थन क्रिया से जब अपमानादि की प्राप्ति हो जाय तब साधक को जल्दी से उठना चाहिए ताकि लोगों को मालूम हो कि यह स्वप्न में डर गया है और उठकर हाँथ, पाँव और सिर को हिलावे। जैसे कहा गया है—

सूत्रार्थ— ज्ञान, इच्छा और क्रिया से तात्पर्य है।

भाष्यानुवाद— ऐसी प्रतीति हो कि यह कुछ जानकर ही स्पन्दन क्रिया कर रहा है। लोगों को देखने से लगे कि इसे वातरोग की शिकायत है तथा तिरस्कृत करेंगे। उस तिरस्कार से उसके पुण्य प्राप्त होंगे। इसके पाप भी दूर हो जायेंगे। इसी को स्पन्दन क्रिया कहते हैं। रुद्र में जिस प्रकार बहुरूप का प्रयोग है उसी समान साधक में भी विकल्प का प्रयोग है। वा शब्द से, अवस्थान, क्रान्थन, स्पन्दन से तात्पर्य है।।१३।।

कहते हैं— विचरण क्रिया का धर्मसाधन क्या है? या नहीं है? उत्तर देते हैं—

सूत्रार्थ— साधक पैर से टेढ़ा-मेढ़ा है, ऐसी क्रिया दिखावें।

वेति पादवैकल्यमधिकुरुते। मण्टने च प्रयुक्ते वक्तारो वदन्त्युपहतम् अस्य पादेन्द्रियम्। कृत्स्नस्याशुभस्य च वृत्तिरस्मिञ्छरीरे उपलभ्यते। उक्तं हि—

दारिद्र्यं (च) व्याधिभूयिष्ठता (च)
मूर्खत्वं चारूपता भ्रंशतापि।
देहोत्पत्तिर्वर्णहीने कुले वा
प्रत्यादेशः कर्मणां दृष्कृतानाम्।।

(द्रष्टारो हि उपहतपाद इति) प्रपद्यन्ते परिभवन्ति च। अनेनानृताभियोगेन यत् तेषां सुकृतं तदस्यागच्छति, अस्यापि च यत् पापं तान् गच्छति। एवं मण्टनम् इति क्रिया। इत इत्यभियजने आज्ञायां नियोगे च। वाशब्दः क्राथनस्पन्दनमण्टनादिविभागे द्रष्टव्य।।१४।।

आह—स्त्रीष्वधिकारिकर्मसाधनं किमस्ति नेति? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

शृङ्गारेत वा।।१५।।

अत्र शृङ्गारणमिति भावप्रसादमधिकुरुते। कथम्? स्त्रीजनसमूहस्यानुपरोधे(न) नातिदूरे नातिसन्निकर्षे अधिदृष्टिनिपाते स्थित्वैकां रूपयौवनसम्पन्नां स्त्रियमधिकृत्या-

---

भाष्यानुवाद— वा अर्थात् अन्य क्रिया, पाद विकलता से तात्पर्य है। ऐसा दिखाने से लोग कहेंगे कि सम्पूर्ण अशुभ की वृत्तियाँ इस शरीर में पायी जाती है। जैसा कि कहा गया है— कुकर्मियों के कर्मफल शरीरों में देखे जाते हैं— दरिद्रता, अतिरुग्णता, मूर्खता, कुरूपता, अङ्गहीनता, नीच कुल में जन्म आदि की प्राप्ति रहती है। देखने वाले कहेंगे कि ये लंगड़ा है और तिरस्कृत करेंगे। ऐसा करने से उसके पुण्य प्राप्त होंगे और पाप जायेंगे। ऐसी क्रिया को मण्टन कहते हैं। विधिलिङ् का प्रयोग आज्ञा और क्रिया में है। वा शब्द से पहले से आये विकल्पों के सम्बन्ध में है।।१४।।

कहते हैं— स्त्रियों में जाने पर कर्म साधन क्या है? या नहीं है? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— शृङ्गार के भावों को दिखावे।

भाष्यानुवाद— शृङ्गार में रहने वाली स्त्रियों का भाव प्रदर्शित करे। स्त्रियों के समूह से कुछ दूरी पर स्थित होकर, रूप यौवन से युक्त किसी एक

लोचनसङ्कल्पाध्यवसायाभिमानादयः प्रयोक्तव्याः। अयुक्ता(?) चेच्छावलोके हि सति केशसंयमनादीनि कामलिङ्गानि प्रयोक्तव्यानि। ततः स्त्रीपुन्नपुंसकादयो वक्तारो वदन्त्यब्रह्मचारी काम्यमिति। अनेनानृताभियोगेनास्य यत् तेषां सुकृतं तदागच्छति, अस्यापि यत् पापं तत् तेषां गच्छत्येव। शृङ्गारणम् इति क्रिया। इत इत्यभियजने आज्ञायां नियोगे च। वाशब्दः क्राथनस्पन्दनमण्टनशृङ्गारणादि-क्रियान्तराणां विकल्पे। क्रियान्यत्वाच्चापुनरुक्तोऽयं वाशब्दो द्रष्टव्यः॥१५॥

आह—क्राथनादिक्रियाचतुष्कं यस्य नास्ति तस्य सामान्यत्वात्। उक्तं हि—

"ये हि वै दीक्षितं यजमानं पृष्ठतोऽपवदन्ति, ते तस्य पाप्मानमभिव्रजन्ति॥"

पृष्ठतःपदमग्रतः पार्श्वतश्च योज्यम्। तस्मात् क्राथेत वा स्पन्देत वा मण्टेत वा शृङ्गारेत वा। कस्मात्? अतियजनादिविशेषितत्वात्। कस्मात्? सर्वज्ञवचनाद् अर्थाविसंवादित्वाच्च लोकापरिग्रहाभावः॥१५॥

आह—(किं) क्रियाचतुष्कमेवात्र कर्तव्यमिति? उच्यते—न। यस्मादाह—

अपि तत्कुर्यात्॥१६॥

स्त्री पर दृष्टि डालकर ऐसा अभिनय करे ताकि इसको देखकर कहे कि यह ब्रह्मचारी नहीं अपितु कामी है। ऐसे असत्य अभिनय से तथा प्राप्त परिभव से पुण्य की प्राप्ति तथा पाप का अपसारण होगा। इसी को शृङ्गारण क्रिया कहते हैं। इत शब्द अभियजन, आज्ञा और नियोग अर्थ में है। यहाँ भी वा शब्द की पुनरुक्ति दोष नहीं है॥१५॥

कहते हैं— जो साधक इन उक्त चार साधनों का प्रयोग नहीं करता वह सामान्य है। कहा गया है— "जो दीक्षित यजमान को परोक्ष में निन्दा करता है वह पाप का भागी होता है।" पृष्ठतः से तात्पर्य आगे, पीछे, बगल से है। इसीलिये इन चारों क्रियाओं को करे। कैसे? अतियजनादि विशिष्टता के लिये। क्यों? माहेश्वर को कथन से, सफल प्रवृत्ति के लिये, संसार से अनासक्त रहने के लिये॥१५॥

कहते हैं— यहाँ चार ही क्रिया करनी चाहिए? उत्तर देते हैं— नहीं। और भी कहते हैं—

सूत्रार्थ— पूर्वोक्त क्रियाओं का आचरण करता हुआ और भी क्रिया करे।

अत्र अपिशब्दः क्राथनादिसर्वक्रियासमुच्चयवचने। तद् इति अनैकान्ते। कुर्याद् इति कुशलां हासवृत्तिमधिकुरुते। यमानामविरोधिनां सुविरूपकाणां(?) द्रव्याणां काष्ठलोष्टादीनां ग्रहणधारणसंस्पर्शनादीनि कर्तव्यानि। ततस्ते वक्तारो वदन्ति असम्यक्कारी शुच्यशुच्योः कार्याकार्ययोरविभागज्ञ इति। अनेनानृताभि-योगेनास्य धर्माधर्मयोश्च हानादानशुद्धिर्भवति।।१६।।

आह—किं क्रियापञ्चकमेवात्र, कर्तव्यम्? तदुच्यते—न। यस्मादाह—

अपि तद्भाषेत्।।१७।।

अत्र अपिशब्दः सर्वेन्द्रियवृत्त्युपादानसम्भावने। तद् इत्यनैकान्ते। भाषेद् इति वाक्यवृत्तिमधिकुरुते। इत्पदम् अपार्थकं पुनरुक्तं व्याहतं भाषितव्यमिति। ततस्ते वक्तारो वदन्ति— असम्यग्वादो वाच्यावाच्ययोरविभागज्ञ इति। अनेनानृताभि-योगेनास्य धर्माधर्मयोस्त्यागादानशुद्धिर्भवति।।१७।।

आह— किं हसितादिवद् यथापाठक्रमेणैव क्राथनादयः प्रयोक्तव्याः? किं वा प्रयोजनं कर्तव्यम्? तदुच्यते—परिभवादिनिष्पत्त्यर्थम्। यस्मादाह—

भाष्यानुवाद— अपि शब्द से तात्पर्य है कि उपरोक्त क्रियाओं को करते हुए इसके अतिरिक्त क्रियाओं को भी करे।।१६।।

कहते हैं— पाँच ही क्रियाओं को करे या अतिरिक्त भी। उत्तर देते हैं— और भी क्रिया करे। जैसे—

सूत्रानुवाद— ईश्वर से विपरीत भाषण करे।

भाष्यानुवाद— यहाँ अपि शब्द, इन्द्रियों की वृत्ति ग्रहण से तात्पर्य है। तद् अर्थात् संसारी से तात्पर्य है। भाषेद् से तात्पर्य है कि अयुक्त वार्ता करे। इत् से तात्पर्य है कि प्रसङ्गहीन, एक ही बात को बार-बार दुहराना तथा अनर्थ का बकवास करना आदि। इस प्रकार के कथन से लोग अयथार्थ वक्ता कहेंगे, इससे उसके पुण्य का आदान तथा पाप बहिर्गमन रूप कार्य सिद्ध होगा।।१७।।

कहते हैं— हसितादि क्रिया के समान ही क्रान्थन, स्पन्दन क्रिया करे? किस उद्देश्य से करना चाहिए? उत्तर देते हैं— परिभवादि की सिद्धि के लिये करना चाहिए। जैसे कि—

येन परिभवं गच्छेत्।।१८।।

अत्र यच्छब्दोऽतिक्रान्तापेक्षणे वीप्सायां च। परिभवः पूर्वोक्तः। गच्छेद् इत्यवमानपरिभवपरिवादाः प्राप्तव्या इत्यर्थः। एवमत्र व्यक्ताचार (अ.३, सू.२)-समासोक्तानां क्राथनादीनामाचारणां विस्तरविभागविशेषोपसंहारादयश्च व्याख्याता इत्यर्थः।।१८।।

आह—कियन्तं कालं परिभवादयः प्राप्तव्याः? कीदृशेन वा? तदुच्यते—

परिभूयमानो हि विद्वान् कृत्स्नतपा भवति।।१९।।

अत्र परि सर्वतोभावे। भूय इत्यनेकशोऽवमानादयः प्राप्तव्याः। मान इत्यस्य पूर्वोक्तोऽर्थः। हिशब्दः कृत्स्नतप उत्कर्षे। उत्कर्षापेक्षो द्रष्टव्यः। विद्या नाम (सा), या ग्रन्थार्थवर्तिपदार्थानामभिव्यञ्जिका विप्रत्वलक्षणा। न्यायात् पदार्थानामधिगतप्रत्ययो लाभमलोपायसाभिज्ञः (अधिगतप्रत्ययस्य?) विद्वानित्युच्यते। कृत्स्नमिति प्रयोगप्राप्तौ पर्याप्तिमधिकुरुते, न तु हर्षादिप्राप्ताविर्त्यर्थः। कृत्स्नतपाः

सूत्रानुवाद— जिन क्रियाओं से परिभव आदि प्राप्ति होवे इसलिये क्रान्थनादि क्रिया करे।

भाष्यानुवाद— यहाँ यत् शब्द उससे भी अधिक परिभवादि के प्राप्ति अर्थ में है। परिभव का अर्थ कहा जा चुका है। गच्छेत् से तात्पर्य है अवमान, परिभव परिवादादि की प्राप्ति करे। इस प्रकार यहाँ व्यक्ताचार संक्षेप में कहे गये क्रान्थनादि आचारों का विस्तर, भेद विशिष्टता और उपसंहारादि समझना चाहिए।।१८।।

कहते हैं— साधक को कितने कालों तक परिभवादि प्राप्त करना चाहिए? या किस तरह? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— सर्वतोभावेन तिरस्कृत साधक ही पूर्ण तपस्वी होता है।

भाष्यानुवाद— यहाँ सूत्र में परि उपसर्ग का अर्थ सर्वतोभावेन है। भूय शब्द का अर्थ पुनः-पुनः में है। मान का अर्थ कहा जा चुका है। हि शब्द कृत्स्नतप को बढ़ाने में है। अर्थात् उत्कर्ष में है। विद्या से तात्पर्य है— ग्रन्थों के अर्थपरक पदार्थों की निर्दिशिका, विप्रत्व का स्वरूप है। विश्वासपूर्वक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने वाला तथा लाभ और हानि को समझने वाला विद्वान् पद से जाना जाता है। तप के द्वारा योग की प्राप्ति से तात्पर्य है न

पर्याप्ततपाः साधक इत्यर्थः। 'भवति' इति भूतार्थवादो निस्संशयम्। यदा यमनियमेषु दृढो भूत्वा क्राथनादीन् प्रयुङ्क्ते, तदा कृत्स्नतपा भवति। कृत्स्नस्य तपसो लक्षणमात्मप्रत्यक्षं वेदितव्यम्।।१९।।

एवमध्यापरिसमाप्तिं कृत्वा युक्तं वक्तुम्—

अत्रेदं ब्रह्म जपेत्।।२०।।

इति। अस्य पूर्वोक्तोऽर्थः।।२०।।

किं पुनस्तद् ब्रह्मेति? तदुच्यते—

अथवा ब्रह्मणा सह ब्रह्मसम्बन्धो भवति। कथम्? मनोग्रहणाद् रूपादिविहीना अर्थाः। किं तानि सुरूपाणि सलक्षणानि, विलक्षणानि, उत सलक्षणविलक्षणानीति? किं परिमितानि, उत अपरिमितानि, उत परिमितापरिमितानि? उच्यते— कारणत्वबहुत्वेनोक्तस्य भगवतो रूपनानात्वं वैलक्षण्यावैलक्षण्यं परिमितापरिमितत्वं चोच्यते— अघोरेभ्यः। अकारो रूपाणां घोरत्वं प्रतिषेधति। अघोराण्यतिशान्तानि, अनुग्रहकराणीत्यर्थः। एभ्य इत्यपरिमितापरिसंख्यातेभ्य इत्यर्थः।।२१।।

कि हर्षादि की प्राप्ति में है। कृत्स्नतपा से तात्पर्य है, प्रर्याप्ततप साधक करे। भवति पद भूतार्थवाद है। जब साधक यमनियमों में दृढ़ होकर क्रान्थन आदि क्रयाओं को करता है, वह कृत्स्नतपा कहलाता है। कृत्स्नतप का लक्षण आत्म साक्षात्कार है।।१९।।

इस प्रकार अध्याय की समाप्ति करते हुए कहते हैं—

सूत्रानुवाद— यहाँ इस ब्रह्म का चिन्तन करना चाहिए।

कहते हैं— उस ब्रह्म से क्या तात्पर्य है? उत्तर देते हैं— ब्रह्म चिन्तन से ही ब्रह्म से सम्बन्ध हो जाता है। कैसे? मन के ग्रहण करने से अर्थात् रूपादि विहीन मन के ग्रहण से ब्रह्म से सम्बन्ध हो जाता है।

प्रश्न है— अनन्त ब्रह्म क्या सुन्दर रूपवाला है, या अरूप है, या सुरूप है और विरूप दोनों है? उसकी सीमा क्या है? उत्तर देते हैं— अनेक कारणधर्मी होने से अनेक रूपों वाले हैं, विलक्षण, अविलक्षण, परिमित, अपरिमित सभी रूपों में रहने वाले हैं। जैसा कहा गया है— ब्रह्म अघोर रूप है। अर्थात् अतिशान्त है, कृपालु है। अपरिमित और परिमित से असंख्यात हैं ऐसा जानना चाहिए।।२१।।

अघोरेभ्यः।।२१।।

आह—किमेतान्येव, एभ्य एव वा? तदुच्यते न। यस्मादाह—

अथ घोरेभ्यः।।२२।।

अत्र अथशब्दो घोरूपोपाधिको द्रष्टव्यः। घोराणि अशिवानि अशान्तानि अनुग्रहकारीणीत्यर्थः। एभ्य इत्यपरिमितापरिसंख्यातेभ्य इत्यर्थः।।२२।।

आह— किमेतान्येव, द्विसंस्थानसंस्थेभ्य (?) एव वा? उच्यते— यस्मादाह—

घोरघोरतरेभ्यश्च।।२३।।

अत्र घोर इत्येतद् भगवतो नामधेयम्। द्वितीयो घोरशब्दो रूपेषु द्रष्टव्यः। तर विशेषणे। शान्ततरादिवत् (?)। तेभ्यो घोरेभ्योऽघोरेभ्यश्च यान्यन्यानि पशूनां सम्मोहकराणि तानि घोरतराणीत्यर्थः। एभ्य इत्यपरिमितासंख्यातेभ्य इत्यर्थः। चशब्दो घोराघोररूपोपसंहारे द्रष्टव्यः। एतान्येव त्रिसंख्यानि रूपाणि, नान्यानीत्यर्थः।।२३।।

सूत्र का अर्थ लिखा जा चुका है। कहते हैं— सुरूप, विरूप, परिमित, अपरिमित ही एभ्यः पद से तात्पर्य है? उत्तर देते हैं— नहीं। जैसे—

पहले बताया गया कि ब्रह्म स्वरूप अनन्त है उसमें श्रुति कहती है कि अघोररूप हैं, पुनः श्रुति कहती है कि घोर रूप भी हैं। अर्थात् अशुभ और अशान्त रूप वाले भी हैं। किन्तु ऐसा होने पर भी अनुग्रह करने वाले रूप हैं। यहाँ भी एभ्यः पद असंख्यात रुद्र का बोधक है।।२२।।

कहते हैं— क्या दो रूपों की अवस्थाओं में ही रहने वाले हैं? उत्तर देते हैं—

सूत्रार्थ— घोर रूप भगवान् हैं तथा घोर रूप से बढ़कर भी हैं।

भाष्यानुवाद— यहाँ प्रथम घोर शब्द भगवान् पदवाच्य है। दूसरा घोर शब्द रूपों के लिये है। तर् प्रत्यय विशेषता बताने के लिये है। जैसे— शान्त, शान्ततर, शान्ततम आदि। ये घोर और घोरतर जिन-जिन जीवों का सम्मोहन हैं उनसे भी बढ़कर हैं। अर्थात् अपरिमित हैं। च शब्द उपसंहार में उक्त है। यहाँ त्रिसंख्यक रूपों के कथन में तात्पर्य है।।२३।।

आह—कुतस्तानि रूपाणि करोति? कुत्रस्थानि वा? तदुच्यते—

सर्वेभ्यः।।२४।।

अत्र यानि रूप(?रूपाणि) कारणे। सर्वत्वं कस्मात्? सर्वत्रानवकाशदोषात् सूच्यग्रे द्विनाभीयबदरवत्, किन्तु कारणशक्तेरव्याहतत्वाच्च। सर्वत्र तानीत्यर्थः(?)।।२४।।

आह—रूपकरणे करणेष्वस्याप्रतिघात इति क्व सिद्धम्? तदुच्यते—इह। यस्मादाह—

शर्वसर्वेभ्यः।।२५।।

अत्र शर्व इत्येतद् नामधेयम्। शर्वः कस्मात्? विद्यादिकार्यस्य शरणाच्छर्व इत्युच्यते। सर्वं विद्यादिकार्यं रुद्रस्थम्। सर्वस्मिंश्च भगवांश्चोदकः कारणत्वेन सर्वत्र। सर्वशब्दः त्रिसंख्येष्वपि रूपेषु निरवशेषवाची द्रष्टव्यः। एभ्य इत्यपरिमितासंख्येभ्य इत्यर्थः।।२५।।

कहते हैं— ये रूपों को कहाँ धारण करते हैं? उनका स्थान क्या है? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— ये सभी रूप कारण में रहते हैं।

भाष्यानुवाद— यहाँ जितने रूप बताये गये हैं वे सभी कारण में हैं। सर्वत्व से क्या तात्पर्य है? उत्तर देते हैं— सर्वत्र इनकी व्यापकता है। जैसे आकाश, सूई के अग्रभाग के मध्य में भी है और सर्वत्र भी है। जैसा आकाश का भेद है, वैसा भेद कारण में नहीं है। उसकी शक्ति निर्बाधित है, अतः सर्वत्र कहा।।२४।।

कहते हैं— रूपात्मक साधन के करने में निर्बाधिता कहाँ सिद्ध होती है? उत्तर देते हैं— यहाँ। जैसे—

सूत्रानुवाद— रुद्र रूप भगवान् में सभी कार्यों का स्थान होने से शर्व सर्वेभ्यः कहा।

भाष्यानुवाद— शर्व शब्द से भगवान् का नाम ग्रहण होता है। शर्व क्यों कहे जाते हैं? उत्तर देते हैं— सभी कार्यों के शरण होने से शर्व कहे जाते हैं। सभी कार्य रुद्र में स्थित हैं। सबमें प्रेरक रूप से तथा कारणरूप में सर्वत्र हैं। सर्व शब्द से तीनों रूपों का अर्थात् अघोर, घोर और घोरतर में सभी का ग्रहण है। एभ्यः से तात्पर्य है, अपरिमितादि।।२५।।

आह—अथैतां रूपविभूतिं ज्ञात्वा साधकेन किं कर्तव्यम्? तदुच्यते—

नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः।।२६।।

अत्र नम इत्यात्मप्रयुक्त इत्यर्थः। 'ते', इति करणापदेशे। नमस्तुभ्यं नमस्ते। अथवा नमस्कारेणात्मानं प्रदाय धर्मप्रचयपरिग्रहमिच्छन्ति। अथ कतमोऽयं परिग्रहः? तदुच्यते—विशिष्टे परिग्रहात्। तदुच्यते—अत्र रुद्र इति कारणापदेशे। रुद्रस्य रुद्रत्वं पूर्वोक्तम्। रूपाणि यानि शरीराण्युत्पादयति तेभ्यो रूपेभ्य इत्यर्थः। अत्र रूपव्यपदेशेन रूपिणि नमस्कारो द्रष्टव्यः। कस्मात्? तदभिसन्धिप्रयोगात्। शिवपुरि उपस्थानवत्। एभ्य इति। अपरिमितासंख्यातेभ्य इत्यर्थः। रूपनिर्देशार्थान्यत्वाच्च पुनरुक्तापुनरुक्ताभ्यां शब्दा द्रष्टव्याः(?)।।२६।।

एवमत्र भगवत्कौण्डिन्यकृते पञ्चमार्थभाष्ये
तृतीयोऽध्यायः सह ब्रह्मणा ग्रन्थतोऽर्थतश्च परिसमाप्तः।।३।।

कहते हैं— भगवान् की विभूतियों को जानकर साधक के द्वारा क्या करना चाहिए? उत्तर देते हैं— जैसे—

सूत्रानुवाद— भगवान् की विभूतियों को जानकर नमस्कार रूप से आत्मसपर्मण करना चाहिए।

भाष्यानुवाद— नमः से अपने द्वारा किया गया नमस्कार है। ते अर्थात् तुम्हारे लिये नमस्कार है। अथवा नमस्कार के द्वारा अपने को समर्पित कर धर्म समूह का अर्जन करना है। कैसा यह परिग्रह है? उत्तर देते हैं— विशिष्ट रूप रुद्र में परिग्रह है। रुद्र में जो रुद्रत्व है, यह पहले कहा जा चुका है। शरीरों की उत्पत्ति कर्ता होने से रूपेभ्यः कहा गया है। रूप कथन से रूपी में ही नमस्कार है। कैसे? उसके साथ सम्बन्ध प्राप्त होने से। शिव की प्राप्ति के लिये अर्थात् शिवस्थान के लिये नमस्कार करे। रूप का कथन अन्यार्थ होने से पुनरुक्त अपुनरुक्त रूप से समझना चाहिए।।२६।।

इस प्रकार भगवान् कौण्डिन्य कृत पञ्चार्थभाष्य में
तृतीय अध्याय ब्रह्मसम्बन्धी अर्थ के
साथ परिपूर्ण हुआ।।

♦·♦·♦

अथ चतुर्थोऽध्याय:

अत: परं चतुर्थमध्यायमवसरप्राप्तं सम्बन्धे कृत्वा वक्ष्याम:। आह—यद्येवं तदुच्यतां कतमस्य पदार्थस्य शेषेणायं चतुर्थोऽध्याय: सम्बध्यते? तदुच्यते—विधिशेषेण। कस्मात्? इह पुरस्तादुक्तम्—विद्वान् कृत्स्नतपा भवति (अ.३, सू.१९) इति। विद्या तपश्चोक्तप्रयोजने। तपोगोपनं नोक्तम्। तद् वक्ष्याम:। तथा कृत्स्नस्य तपसोऽर्जनम्, अर्जितस्य च तपसो रक्षणं नोक्तम्। तद् वक्ष्याम:। तथा वसत्यर्थो विदुष: सम्यक्साधनप्रयोगानुग्रहोऽवस्थानान्तरं, तथा अनुस्नानयन्त्रस्य च वृत्तिपरिभवसाधनानि च तत्परिभवसमयानुगुणवचनविधि: प्रत्यवलोकनविधि: प्रशंसा च। तद् वक्ष्याम:। तदुच्यते—

गूढविद्या तप आनन्त्याय प्रकाशते।।१।।

गुहू रक्षणे। रक्षितव्या न प्रकाशयितव्येत्यर्थ:। गोपनं नामाप्रकाशनम्। विद्या पूर्वोक्ता स्वपरान्यप्रकाशिका प्रदीपवत्। लिङ्गैर्गोप्या गूढविद्या, साधके इत्यर्थ:। आह—गूढविद्ये साधके का कार्यनिष्पत्ति:? तदुच्यते—तप आनन्त्याय

प्रसङ्गानुसार चौथे अध्याय की प्राप्ति पर इस अध्याय के सम्बन्ध में कहेंगे।

प्रश्न है— चौथे अध्याय में किस पदार्थ के सम्बन्ध में यह अध्याय सम्बन्धित है? उत्तर देते हैं— इस अध्याय में शेष विधि कही जायेगी। कैसे? जैसे पहले कहा गया है कि विद्वान् कृत्स्नतपा होता है। विद्या और तप को बताना लक्ष्य था। उसी प्रकार यहाँ तपस्या की गोपन विधि, तथा रक्षा विधि के सम्बन्ध में कहेंगे। विद्वान् किस प्रकार अपने साधनों का प्रयोग, अनुग्रहादि का गोपन, अनुस्नान विधि और परिभव साधन विधि, गुणकथनविधि, प्रत्यावलोकन विधि करेगा इसके सम्बन्ध में बतायेंगे।

सूत्रानुवाद— रक्षित अर्थात् अप्रकाशित विद्या और तप अनन्त भगवान् को प्रकाशित अर्थात् आत्म प्रकाश करता है।

भाष्यानुवाद— सूत्र में जो गूढ़ शब्द है गुहु रक्षणे धातु से बना है जिसका अर्थ रक्षा करना होता है। दिखावा नहीं होता। गोपन का तात्पर्य छिपाना है। विद्या का तात्पर्य पहले बताया जा चुका है कि विद्या, स्वप्रकाशिका तथा परप्रकाशिका होती है, जैसे दीप का प्रकाश। साधक अपने स्वरूप का गोपन करे। कहते हैं—

प्रकाशते इत्येष पाठः। अथवा कुरवोन्महितवत् तपोऽनन्त्याय प्रकाशत इत्येष वा पाठः। तस्मादत्र तपस्तदेव। निरुक्तमस्य पूर्वोक्तम्। अन् (?आनन्त्यम्) इत्यपि नि(ष्ठा)-योगपर्यायः (स?)गम्यते। तपःकार्यत्वाद् अतिगतिसायुज्यवत्। आह—किं परिमितेष्वर्थेष्वानन्त्यशब्दः, उतापरिमितेषु, किं वा परिमितापरिमितेष्विति? उच्यते—परिमितापरिमितेष्वर्थेष्वानन्त्यशब्दः। तत्र तावदीश्वरस्यैकैकशः परिमितेषु तेष्वेव विभुत्वापरिमितेषु तथा परिमितापरिमितेष्वर्थेष्वभिव्यक्तास्य शक्तिः। तस्य कुशलाकुशलेषु भावेष्वानन्त्यशब्दः। यस्मादुक्तम्— "न चैतास्तनवः केवलं मम इति"।

तथा रुद्रः समुद्रो हि अनन्तो भास्करो नभः।
आत्मा ब्रह्म च वाक् चैव न शक्यं भेददर्शनम्।।

अनात्मविद्भिरध्यस्तां पङ्क्तिं योजनमायताम्।
वेदवित् पुनते पार्थ! नियुक्तः पङ्क्तिमूर्धनि।।

तथा च वेदवित्पङ्क्तिमात्मवित् पुनते द्विजः।
आनन्त्यं पुनते विद्वान् नाभा(?ना)त्वं यो न पश्यति।।

विद्या के गोपन से क्या फल मिलता है। उत्तर देते हैं— तप आनन्त्य के लिये है। कुरुक्षेत्र जिस प्रकार महिमावान् है वैसे ही गूढ़ विद्या भी तप है। अतः विद्या का गोपन ही तप है। तप का फल पहले कहा गया है। आनन्त्य पद से योग या निष्ठा है। तप कार्य से सपर्मण एवं सायुज्य से तात्पर्य है। प्रश्न है कि क्या आनन्त्य शब्द परिमित अर्थ या अपरिमित अर्थ या परिमितापरिमित अर्थ में प्रयुक्त है? उत्तर देते हैं— परिमित और अपरिमित दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। व्यक्तिरूप में ईश्वर रहने से परिमित है। उसके ऐश्वर्यादि से अपरिमित है, इस प्रकार ईश्वर की शक्ति दोनों में विद्यमान है। कुशल अकुशल भावों में भी आनन्त्य का प्रयोग है। जैसे कहा गया है— 'ये शरीर केवल मेरे नहीं हैं।

उसी प्रकार रुद्र, समुद्र, अनन्त, भास्कर, आकाश, आत्मा, ब्रह्म और वाणी का प्रयोग होता है। कितने पर्याय हैं यह कहा नहीं जा सकता। आत्मज्ञान के अभाव में परिमिति का बोध होता है। जो वेदज्ञ हैं वे ही पवित्र होते हैं तथा आत्मसात् करते हैं। आत्मविद् और वेदविद् द्विज ही पवित्र होते हैं। जो विद्वान् परिच्छिन्न नभ को न देखकर अपरिच्छिन्न नभ को देखता है वही पवित्र है।

आनन्त्याय इति चतुर्थी। तस्मात् तप एतत् न तु विद्या कार्या। प्रकाशो नाम भावप्रकास्यम्। न तु प्रदीपवत्। कथम्? योगाधिकृतस्य प्रदीपस्थानीतयमानैजस्थानीयमावारकमभिभूय प्रकाशते [?] चक्षु:स्थानीयया विद्यया कुशलविवेकादिकार्यं माहात्म्यातिगतिप्रकाशप्रवृत्तिस्मृतिसायुज्यस्थित्यादिप्रकाशनं तपः कार्यमित्यर्थः। एवं च गुप्ते ब्राह्मणे तप आनन्त्याय प्रकाशत इत्यर्थः। आह—स्वभावगुप्तत्वाद् अतीन्द्रियात्मगती विद्या गोप्येति? तदुच्यते—अव्यक्तप्रेताद्यवस्थानैर्लिङ्गैर्गोप्या इत्यर्थः।।१।।

आह—कानि पुनस्तानि विद्यालिङ्गानि, यैर्गुप्तैर्विद्या गुप्ता भवति? तदुच्यते— व्रतादीनि। यस्मादाह—

गूढव्रतः।।२।।

अत्र गूढं प्रच्छन्नमप्रकाशमित्यर्थः। व्रतं नाम—यदायतने स्नानहसिताद्यः साधनवर्गस्तद् व्रतम्। कस्मात्? साकृतत्वाद् [?] यस्मादयं ब्राह्मणस्तथा

अनन्त में चतुर्थी है। इसलिये तप ही विद्या है, विद्या का कार्य तप नहीं है। वह प्रकाश है, प्रकाश्य नहीं अर्थात् स्वयमेव प्रकाशित है, किसी अन्य द्वारा प्रकाशित नहीं है। न कि साधन से प्रकाश करने वाला दीप की तरह है। कैसे? ब्रह्म सायुज्य की प्राप्ति, जब सभी साधन साध्य में लीन हो जाते हैं तब होती है। दीप के प्रकाश में जिस प्रकार के साधनों की आवश्यकता होती है उस तरह तप का प्रकाश नहीं है। चक्षुस्थानीय विद्या से कुशल, विवेक, माहात्म्य, अतिगति प्रकाश, प्रवृत्ति, स्मृति सायुज्य, स्थिति आदि की उत्पत्ति होती है। अर्थात् ये सभी तप के कार्य हैं। इस प्रकार गुप्त साधक के होने पर तप के द्वारा अनन्तता प्रकाशित हो जाती है। कहते हैं— स्वभाव गुप्त होने से अतीन्द्रिय आत्मगती विद्या गुप्त होती है? उत्तर देते हैं— जो पहले साधक की क्रियायें कही जा चुकी हैं जैसे प्रेत की तरह तथा अनेक क्रान्थनादि के द्वारा अपने को छिपावे।।१।।

कहते हैं— विद्या के कितने स्वरूप हैं? तथा उनमें कौन सी विद्या गुप्त रखने योग्य है? उत्तर देते हैं— व्रत आदि विद्या गुप्त रखने योग्य है। जैसा कहा गया है—

सूत्रानुवाद— व्रतादि जो विद्यायें हैं उनको छिपाना चाहिए।

भाष्यानुवाद— अपने स्वभाव को छिपाना ही व्रत है। जब साधक मंदिर में है, उस समय स्नान, अनुस्नान, भस्मस्नान, हसित आदि क्रियाओं को

प्रयुङ्क्ते, यथा लौकिकानां धर्मसाधनभावो न विद्यत इति, अतो गूढव्रत इति। आह—अव्यक्तप्रेतत्वादेव गूढत्वप्राप्तेः पुनरुक्तमिति। उच्यते—अर्थान्यत्वादपुनरुक्तम्। तत्रावस्थानमात्रमेवाव्यक्तम्। इह तु स्नानहसितादिगोपनम्। अपि च, तत्र निष्पन्नं [म्] व्यक्तम्। इह तु निष्पत्तिकाले च गोपनोपदेशः। न युक्तप्रेतत्वं वा विद्यालिङ्गम्। अतश्चापुनरुक्तम्। तस्माद् गूढव्रतोपदेशाय स्थानापदेशापवादाय स्थाने वस्तव्यम्। स्नानहसितादयश्च गूढाः कर्तव्याः। एवं विद्या गुप्ता भवतीत्यर्थः॥२॥

आह—किं व्रतमेवैकं विद्यालिङ्गं गोप्यम्? आहोस्विद् अन्यदप्यस्ति नेति उच्यते—अस्ति यस्मादाह—

गूढपवित्रवाणिः॥३॥

अत्र गूढा गुप्ता प्रच्छन्ना अप्रकाशेत्यर्थः पवित्रा नाम सत्य संस्कृता, अर्घ्यहेतुः सम्पन्ना न तु विपरीतेत्यर्थः। सा [वाणी] गोप्या। किमर्थमिति

छिपाना ही व्रत है। कैसे? क्योंकि सारी क्रियायें कृत्रिम हैं। जैसा साधक हो उसके अनुसार कार्य करे। जिससे लोगों में धर्म साधन यह नहीं है ऐसे समझे, इसी को गूढ़व्रत कहते हैं।

कहते हैं— अव्यक्त क्रिया करें, प्रेतवच्चरेत् इत्यादि कथन से ही गूढ़व्रत की सिद्धि हो जाती है तो पुनः गूढ़व्रत सूत्र कथन की क्या आवश्यकता है? उत्तर देते हैं— उससे विशिष्टार्थ को बताने के कारण पुनरुक्ति दोष नहीं है। यहाँ तो स्नान हसितादि का गोपन से तात्पर्य है। वहाँ सिद्ध स्वरूप अव्यक्त है। यहाँ प्रयोगकाल में गोपन का उपदेश है। अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है। अतः गूढ़व्रत के उपदेश के लिये स्नानादि क्रिया गुप्त करे। इस प्रकार की विद्या, गुप्त कहलाती है॥२॥

कहते हैं— विद्या के भेदों में एक व्रत को ही गुप्त रखना चाहिए? अथवा दूसरी विद्या को भी? या दोनों को नहीं? उत्तर देते हैं— और भी विद्या गोपनीय है। जैसे—

सूत्रानुवाद— सत्य और पूज्य अर्थात् संस्कृत वाणी भी साधक को गुप्त रखना चाहिए।

भाष्यानुवाद— यहाँ भी गूढ का अर्थ गुप्त, प्रच्छन्न और अप्रकाश है। पवित्रता से अर्थ है, सत्य, संस्कृत और अर्घ्य सम्पन्न न कि अमर्यादित

चेत्?। तदुच्यते—जातिज्ञानतपःस्तवसूचनार्थम्। यथा शरदं कुररः सूचयति। उक्तं हि—

शरदं कुररः प्राह वसन्तं प्राह कोकिलः।
प्राह वर्षा मयूरश्च वाक् पवित्राह ब्राह्मणम्।।

तथा—

वागेव हि मनुष्यस्य श्रुतमाख्याति भाषिता।
दीपयन्ती यथा सर्वं प्रभा भानुमिवामला।।

अतो जातिज्ञापनतःस्तवा भवन्ति। स्तविते चावसानादिमत्त्वयोः पुण्यपापक्षय-वृद्ध्योरभावः। अत एतदुक्तम्—गूढपवित्रवाणिरिति।।३।।

आह—किं व्रतं वाणी च द्वयमेवात्र (व्रत?) गोप्यम्?, आहोस्विद् अन्यदप्यस्ति नेति? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

सर्वाणि द्वाराणि पिधाय।।४।।

वाणी। वह वाणी क्यों गोपनीय है? उत्तर देते हैं— जाति, ज्ञान, तप और स्तुति को प्रकट करने के लिये।

जैसे— कुरर अर्थात् खञ्जन को देखने से शरद् ऋतु का ज्ञान होता है। कहा गया है— खञ्जन से शरद्, कोयल ध्वनि से बसन्त, मयूर से वर्षा, पवित्र वाणी से ब्राह्मण का बोध होता है।

और भी— वाणी ही मनुष्य की परिचायिका है स्वच्छ सूर्य की प्रभा जिस प्रकार सबको प्रकाशित करती है उसी प्रकार संस्कृत वाणी मनुष्य को प्रकाशित करती है।

अतः जाति, ज्ञान, तप और स्तुत्य का ज्ञान होता है। साधक के सिद्ध होने पर लोकधर्म का अभाव हो जाता है। अतः कहा गया है— गूढ़ पवित्रवाणिः।।३।।

कहते हैं— क्या व्रत और वाणी ये ही दो गुप्त रखने योग्य हैं? अथवा और भी? उत्तर देते हैं— और भी है।

सूत्रानुवाद— साधक के क्रान्थन आदि जो साधन हैं उन सबों को भी गुप्त रखना है।

इति। अत्र सर्वशब्दो द्वारप्रकृतेर्निरवशेषवाचो द्रष्टव्यः। द्वाराणि क्राथनादीनि। द्वाराणि च कस्मात्? धर्माधर्मयोरायव्ययहेतुत्वाद् द्वाराणि। द्वाराणीति बहुवचनं विज्ञानयन्त्रेन्द्रियवत्। पिधाय इति प्राक्साधनप्रयोगमधिकुरुते। कथम्? अ (व) स्थानकालदेशक्रियाप्रयोगप्रयोजनान्तराणि विधिवद् विवेच्य यदा सम्यङ् माया (अ.४, सू.१२) स्नानाद्यभेदक्रमणे (?) प्रयुक्तानि तदा पिहितानि भवन्तीत्यर्थः॥४॥

आह केन तानि पिधेयानि? तदुच्यते—

बुद्ध्या॥५॥

यस्मादस्य श्रोत्रेन्द्रियवत् पिधायेति सम्यग् ज्ञानप्रयोगे सर्वज्ञेन भगवता विद्यानुगृहीतया बुद्ध्या पिधानमुक्तं, तस्मादत्र करणाख्या बुद्ध्येति, न ज्ञानाख्या। कथं गम्यते? बुद्ध्येति तृतीयाप्रयोगात्। भस्मना स्नानवत्। न ज्ञानाख्या। यस्य विज्ञानाख्या बुद्धिर्न ज्ञानाख्या। कथं गम्यते? तस्य प्राग् ज्ञानोत्पत्तेरचेतनपुरुषस्तस्य

भाष्यानुवाद— सर्व शब्द द्वार स्वभाववाले सभी साधनों से तात्पर्य है। द्वार अर्थात् क्रान्थन, स्पन्दन आदि। द्वार क्यों कहते हैं? उत्तर देते हैं— धर्माधर्म का आय-व्यय होने से द्वार कहा गया है। बहुवचन से तात्पर्य है— इन्द्रियों के समान स्थूल, सूक्ष्म का होना। पिधाय से तात्पर्य है पूर्वोक्त क्रान्थनादि। कैसे? अपनी माया से, अवास, काल, देश, क्रियाओं का प्रयोग, प्रयोजन सिद्धि के लिये जो करता है तथा च गुप्त रखता है, उसी को पिहितानि शब्द से कहा गया है॥४॥

कहते हैं— किससे गुप्त किया जाता है? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— बुद्धि से सारे द्वारों को बन्द करे।

भाष्यानुवाद— जिस प्रकार श्रोत्रेन्द्रियादि को बन्द करने पर अन्तःकरण ज्ञान का करण होता है, वैसे ही सभी क्रियाओं को बुद्धि द्वारा पिहित करे। यहाँ ज्ञान से तात्पर्य नहीं है। ज्ञान से तो जो सर्वज्ञ भगवान् को कहा गया है। यहाँ बुद्धि में तृतीया का प्रयोग बताता है कि साधन बुद्धि ही होनी चाहिए। जैसे भस्मना स्नान कहा गया है। न कि ज्ञान से स्नान करे। जिसकी व्यावहारिकी बुद्धि है वह ज्ञानाख्य नहीं कहलाती। कैसे जाना जाय? उत्तर देते हैं— ज्ञानोत्पत्ति से पहले पुरुष अचेतन कहलाता है, यदि अचेतनावस्था में अर्थात् अज्ञानावस्था में

ह्यज्ञानाद् असंबोध्यः स्यात्(?)। तस्मादत्र त्रिकं चिन्त्यते—पिधाता पिधानं पिधेयमिति। अत्र पिधाता साधकः। पिधानस्य विद्यानुगृहीता बुद्धिः। पिधेयं व्रतं वाणी द्वाराणि चेति। क्रमवृत्तित्वाच्च बुद्धेरेव प्रयुङ्क्ते। शेषाण्यकर्तृत्वे-नैवाप्रयुक्तानि। तदा पिहितानि भवन्तीत्यर्थः(?)॥५॥

अत्रेदं विद्याज्ञानप्रकरणं परिसमाप्तमिति।।

आह—किमव्यक्तप्रेत इत्यवस्थानद्वयमेवात्र कर्तव्यम्? वागादीनि वा गोपायित्वा साधकेन किं कर्तव्यम्। उच्यते—

उन्मत्तवदेको विचरेत लोके।।६।।

अत्र बुद्ध्या अन्तःकरणानां श्रोत्रादीनां च बाह्यानां वृत्तिविभ्रमः कर्तव्योऽसति विषये विषयग्रहणम्। अत्र—

पञ्चोन्मादाः समाख्याता वातपित्तकफात्मकाः।
चतुर्थः सन्निपातस्तु अभिघातस्तु पञ्चमः।।

कोई पुरुष है तो उसे सम्बोधन नहीं किया जा सकता। अतः यहाँ त्रिक् का विचार करना चाहिए। त्रिक् क्या है? पिघाता, पिघान और पिघेय। पिघाता साधक है, साधन विद्यानुगृहीता बुद्धि है, साध्य पिधेय अर्थात् व्रत, वाणी और द्वार हैं। क्रम वृत्ति होने से बुद्धि का ग्रहण है। इनसे जो शेष हैं उनमें अकृर्तृत्व तथा अप्रयुक्त हैं। अत; पिहितानि कहा गया है।

यहाँ विद्याज्ञान प्रकरण परिपूर्ण हुआ।

प्रश्न करते हैं— क्या अव्यक्त स्वरूप तथा प्रेतवत् स्वरूप का गोपन करना चाहिए या वाणी, द्वार आदि को गुप्त रखकर साधक क्या करे? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— साधक उन्मत्त के समान लोक में अकेले विचरण करे।

भाष्यानुवाद— यहाँ बुद्धि से अन्तःकरण और श्रोत्रादि से बहिर्भूत इन्द्रियों की वृत्तियों से प्रतिकूल आचरण अर्थात् असत् वृत्तियों को अपनाकर साधक लोक में अकेला विचरण करे।

उन्मत्तावस्था पाँच कारणों से कही जाती है। वात, पित्त, कफ, सन्निपात और अभिघात होने से।

एवं ग्रहबहुत्वे सति योऽयं वातपित्तश्लेष्मणां समूहः सान्निपातिकोऽयं महाग्रहः। एवं साधनप्रयोगः कर्तव्यः। तत्र यदि कश्चिद् ज्ञानजिज्ञासनार्थं दयार्थमनुग्रहार्थं वा पृच्छति, तं निवर्तयित्वा ब्रूयात् समयतः प्रविशस्वेति। ततो द्वारेण प्रविश्य विपरीतमविपरीतं वा यदि कश्चिद् ब्रूयात् को भवानिति? ततो वक्तव्यं माहेश्वरोऽहं कौमारोऽहमिति दुरत्ययं कृतं च ममानेनेति। ततो जिघांसनार्थं मया स्पृष्टो न तु विषयक्रीडार्थं वा। ततः परिवर्जयति इत्येवं लौकिकपरीक्षकाणां सम्मोहनार्थमुक्तम्। उन्मत्तवद् इति। किञ्चिदुन्मत्तप्रेतवत् तस्यान्तःकरणादिवृत्तिविभ्रममात्रं परिगृह्यते। एक इत्यसंवहता चिन्त्यते। एकेनेतरेभ्यो विच्छिन्नेनासहायेनेत्यर्थः। आह—एकेन किं कर्तव्यमिति? उच्यते—विहर्तव्यम्। यस्मादाह—विचरेत। अत्र विर्विस्तरे। चरेत्यर्जनमधिकुरुते धर्मार्जने। इत इत्याज्ञायां नियोगे च। विस्तरनियोगे विशेषतश्च विहर्तव्यमित्यर्थः। आह—क्व विहर्तव्यमिति? उच्यते—लोके। त्रिवर्णाश्रमिषु लोकसंज्ञा, न तु ब्रह्मलोकादिषु। कस्मात्? उत्कृष्टेष्वसम्भवात्। लोके इति सामीपिकं सन्निधानम्। परवर्णा लोकास्तेषु तदध्यक्षेषु विहर्तव्यमित्यर्थः॥६॥

साधक अपने को आध्यात्मिक दुःख से तप्त दिखावे। इस प्रकार वात, पित्त और कफ का आधिक्य होने पर सन्निपात रोग होता है। इस प्रकार के साधनों का प्रयोग करे। यदि कोई व्यक्ति साधक से ज्ञान की इच्छा अथवा उसके कष्ट से सहानुभूति दिखाने की इच्छा करता है तो उसको रोकते हुए समय की प्रतीक्षा करो, ऐसा बोले। यदि किसी व्यक्ति के द्वार पर साधक जाता है, उससे उल्टा सीधा बात कहकर पूछता है कि तुम कौन हो? तो कहना चाहिए कि मैं माहेश्वर हूँ। मैं कौमार हूँ। तुम मेरे साथ अभद्र व्यवहार कर रहे हो, मुझे मारने के लिये प्रश्न कर रहे हो न कि हमारी प्रसन्नता के लिये इस प्रकार लोक को विस्मित करने के लिये आचरण करना उन्मत्त कहलाता है। यहाँ किञ्चिद् रूप में उन्मत्त, प्रेत तथा इन्द्रिय विभ्रम से तात्पर्य है। एक से तात्पर्य, विना साथी के विचरण करे। जैसा कि आचरण से ज्ञात हो कि यह व्यक्ति असहाय है। कहते हैं? एक से क्या करे? उत्तर देते हैं— विहरण करे। उसीको विचरण भी कहते हैं। विचरण से तात्पर्य धर्मार्जन करने में है। इत पद आज्ञा और धर्म में है। विस्तार से धर्मार्जनादि करे। पुनः कहते हैं? किन स्थानों में विचरण करे? उत्तर देते हैं। लोक में अर्थात् आश्रमियों में करे। तीन वर्णों के आश्रमों को लोक संज्ञा दी गयी है। न कि ब्रह्मलोकादि में। क्यों? ब्रह्मादि लोक उत्कृष्ट लोक हैं, सबके विचरण करने योग्य नहीं है। समीप में रहने वाले को ही लोक की संज्ञा दी गयी है। श्रेष्ठ वर्णों के लोक में और उनकी अध्यक्षता में विहरण करना चाहिए॥६॥

आह— कां वृत्तिमास्थाय लोके विहर्तव्यम्?, सर्वभक्षमेव? उच्यते— न। यस्मादाह—

कृतमन्नमुत्सृष्टमुपाददीत।।७।।

अत्र कृतग्रहणादकृतानां बीजकाण्डफलादीनां प्रतिषेधः। कृतं भिन्नोद्भिन्नाद्यं तद् भैक्षम् उत्सृष्टं यथालब्धं विधिना प्राप्तमुपयोज्यम्। अत्र कृतग्रहणादकृतप्रतिषेधः, अकृतप्रतिषेधाच्च कृत्स्ना हिंसा तन्त्रे प्रतिषिद्धा द्रष्टव्या। आह—किं तत् कृतं नाम बुद्धिघटाद्यम्? तदुच्यते—न। यस्मादाह—अन्नम्। तत्रान्नवचनादनन्नप्रतिषेधः। तच्च द्वियोनि—इन्द्राभिषिक्तम् इन्द्रियानभिषिक्तं च। तत्रेन्द्राभिषिक्तं व्रीहियवाद्यम्। इन्द्रियाभिषिक्तं तु मांसम्। तत् पञ्चविधम्—भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं पेयं चोष्यमिति। तथा षड्रसं मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायमिति। आह—तस्य कृतान्नस्यार्जनं कुतः कर्तव्यम्? तदुच्यते—उत्सृष्टम्। अत्रोत्सृष्टग्रहणाद् भैक्ष्ययथालब्धप्रतिषेधः। किंकारणम्? सूनादिदोषपरिहारार्थत्वान्नस्तेयप्रतिग्रहादिदोषात्(?) तच्च त्रिविधमुत्सृष्टम्। तद्यथा—निसृष्टं विसृष्टमतिसृष्टमिति। तत्र सनिमित्तं परित्यक्तमन्नं

कहते हैं— किस जीविका को लेकर विहरण करना चाहिए? सब कुछ खा पीकर विचरण करे? उत्तर देते हैं— नहीं। जैसे—

सूत्रानुवाद— खेती के द्वारा उपजाया हुआ अन्न जिससे प्राप्त हो उसी अन्न को खाना चाहिए।

भाष्यानुवाद— यहाँ कृतान्न से तात्पर्य है— बीज से उत्पन्न फलादियों का निषेध। वह अन्न साधक के प्रयास से नहीं अपितु ईश्वर की कृपा से जो प्राप्त हो उसका भक्षण करना चाहिए। सूत्र में कृत से अकृत का प्रतिषेध है, अकृत से हिंसा का प्रतिषेध है। कहते हैं— कृत शब्द से तो स्थूल में घट और सूक्ष्म में बुद्धि आदि का भी ग्रहण हो सकता है? उत्तर देते हैं— नहीं। क्योंकि सूत्र में अन्नम् पाठ है। अन्न कहने से जो अन्न से इतर हैं। पहला इन्द्रादि देवों की तुष्टि, दूसरा इन्द्रियों की तुष्टि। यव, धान आदि इन्द्रियाभिषिक्त मांस है। वह अन्न पांच प्रकार का होता है— भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय और चोष्य है। तथा षड्रस सम्पन्न होता है। जैसे— मधुर, खट्टा, नमकीन, तीता, कड़ुआ, कषाय। कहते हैं— बनायी हुई भिक्षा कहाँ से ग्रहण करनी चाहिए? उत्तर देते हैं— उत्सृष्ट, अर्थात् भिक्षा ग्रहण करने योग्य घर से ही भिक्षा लेनी

पानं वा तन्निसृष्टम्। गोब्राह्मणादिनिमित्तं त्यक्तं विसृष्टम्। अतिसृष्टमन्यतः परित्यक्तम्। दयार्थमानृशंसार्थं वा यदि कश्चिद् दद्यात् तदपि ग्राह्यमेव। आह— अनेन साधकेन किं कर्तव्यमिति? उच्यते—उपयोक्तव्यम्। यस्मादाह—उपाददीत। अत्रोपेत्यभ्युपमगमे। अत्यन्तासन्मानसतन्त्रस्थेनेत्यर्थः। आददीनत इत्युपयोगे ग्रहणे च। विवक्षितसूत्रग्रहणे तावद्(?) भवति। तदुक्तं—

संचित्वा नरमेवैनं(?) कामानामवितृप्तिकम्।
व्याघ्रः पशुमिवादाय मृत्युरादाय गच्छति।।

इति। उपयोगेऽपि नाथकणादवत्सं(?)। तस्मादुपयोक्तव्यमिति। ईत इत्याज्ञायां नियोगे च। तदुत्सृष्टं विधिप्राप्तमुपयोक्तव्यम्। अन्यथा हि विधिव्यपेतेन क्रमेण वृत्त्यर्जनं न कर्तव्यमित्यर्थः।।७।।

चाहिए। जिस किसी से नहीं। क्यो? कारण क्या है? उत्तर देते हैं— कई आपत्तियों के कारण जिस किसी का अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिए। जैसे कोई अपने घर के पापादि दोष की शान्ति के लिये, या चोरी का अन्न हो, ऐसे अन्न को ग्रहण नहीं करना चाहिए। उत्सृष्ट अन्न की तीन भेद हैं— १. निसृष्ट, २. विसृष्ट, ३. अतिसृष्ट। निसृष्ट अन्न वह है जो किसी निमित्त के सिद्धि के लिये है। विसृष्ट अन्न वह है जो गौ ब्राह्मण के लिय परिव्याप्त है। अतिसृष्ट अन्न वह है जो दया के लिये और सत्वगुण की वृद्धि के लिये है। यह भी अन्न ग्राह्य है। प्रश्न करते हैं— साधक द्वारा क्या करना चाहिए? उत्तर देते हैं— ऐसी भिक्षा का उपयोग करना चाहिए। अतः सूत्र में कहा गया है— उपाददीत। यहाँ समीप में जाकर ग्रहण करे। भिक्षा में सन्मान की हानि स्वरूप की हानि न समझे। आददीत क्रिया से तात्पर्य है— ग्रहण और उपयोग।

जैसा कि सूत्र में कहा गया है कि कामनाओं से घिरा हुआ मनुष्य जैसे मृत्यु को लेकर ही जाता है। वैसे ही व्याघ्र के सामने पशु मृत्यु लेकर ही जाता है।

उपयोग में उञ्छवृत्ति का उपयोग नहीं है। समीप में जाकर भिक्षा ग्रहण करनी है। ईत शब्द आज्ञा और नियोग में है। विधि प्राप्त भिक्षा का उपयोग है। अन्यथा विधि हानि में भिक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिए।।७।।

आह—व्रतादीनि गोपयित्वा सम्यक्साधनप्रयोगे उत्सृष्टोपयोगे च वर्तत: के वार्था निष्पद्यन्ते? असन्मानप्रकरणस्य वा परिसमाप्ति: किमस्ति नेति? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

उन्मत्तो मूढ इत्येवं मन्यन्ते इतरे जना:।।८।।

अत्र उन्मत्त: स एव। निरुक्तमस्य पूर्वोक्तम्। मूढ इति। मुहु अपरिज्ञाने। अव्यक्तोऽयं प्रेतोऽयम् उन्मत्तोऽयम्, मूढोऽयं मूर्खोऽयमिति वक्तारो वन्दन्तीत्यर्थ:। इतिशब्दोऽर्थानां निर्वचनत्वात् प्रकरणपरिसमाप्त्यर्थ:। एवं यस्मादवस्थानकालदेश-क्रियाप्रयोगप्रयोजनगोपनवसत्यर्थकृत्स्नतपांसि च व्याख्यातानि। एवम् इत्यतिक्रान्तापेक्षणे। मन्यन्ते इत्यवधारणे। इतरे इति (ये?) गृहस्थब्रह्मचारि-वानप्रस्थभिक्षुपाषण्डिनां ब्रह्मचर्याधिकृतानां ग्रहणम्। जना इति। जनी प्रादुर्भावे। जना इति वर्णाश्रमिणां जनानामधिकृतानां ग्रहणम्। उक्तं हि—

जनेन हि जनो जान जनं जनयसे जन:।
जनं शोचसि नात्मानमात्मान शोच मा जनम्।।

इत्येवं वक्तारो वदन्तीत्यर्थ:।।८।।

अत्रेदमाधिकारिकमसन्मानचरिप्रकरणं समाप्तम्।।

कहते हैं— व्रतादि को गुप्त रखकर सम्यक् साधन प्रयोग में अपने को रखने से किस प्रयोजन की सिद्धि होती है? असन्मान प्रकरण की समाप्ति कहाँ होगी? या समाप्ति नहीं है? उत्तर देते हैं— है। जैसा कि—

सूत्रार्थ— सांसारिक व्यक्ति साधक को उन्मत्त, मूढ आदि समझेंगे।

भाष्यानुवाद— यहाँ उन्मत्त साधक ही है। पहले भी कहा जा चुका है। मूढ शब्द से तात्पर्य है— समझाने पर नहीं समझ रखने वाला। अव्यक्त प्रेत, उन्मत्त, मूढ, मूर्ख इस प्रकार साधक के प्रति बोलते हैं। इति शब्द प्रकरण समाप्ति के लिये है। इस प्रकार साधक का अवस्थान, काल, देश, क्रिया, प्रयोग, प्रयोजन गोपन, अवास, कृत्स्नतप आदि की व्याख्या पूर्ण हुई। इति से तात्पर्य है— समाप्ति। मन्यन्ते से तात्पर्य विचार से है। इतरे से तात्पर्य है— गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थभिक्षु, पाषण्ड के रूप में ब्रह्मचारी बने हुए लोगों का ग्रहण है। जना: से अर्थ है— अधिकारी रूप से वर्णाश्रमों में रहने वाले कहा गया है— जन से जन जाना जाता है, जन ही जन को उत्पन्न करता है, जन आत्मा को नहीं जानता अत: जन को आत्मा मत सोचो अर्थात् मत मानो। इस प्रकार कहने वाले कहेंगे।।८।।

यहाँ आधिकारिक असन्मान परिप्रकरण समाप्त हुआ।

आह—व्रतादीनि गोपयित्वा सम्यक्साधनप्रयोगे उत्सृष्टोपयोगे च ततः को गुणः? यं गुणं ज्ञात्वा अव्यक्तप्रेतोन्मत्ताद्या वादा निष्पाद्या इति? तदुच्यते—तं गुणं ज्ञात्वा वक्ष्यामः। अपि च अव्यक्तप्रेतोन्मत्ताद्यं ब्राह्मणकर्मविरुद्धं क्रमं दृष्ट्वा यावदयं शिष्य एनमर्थं न ब्रवीति। हृदिस्थम् अशङ्कितमुपलभ्योत्तरं ब्रूम इति कृत्वा भगवानिदं सूत्रमुवाच—

असन्मानो हि यन्त्राणां सर्वेषामुत्तमः स्मृतः।।९।।

अत्र अकारो मानप्रतिषेधे। मानोऽत्र द्विविधः। जात्यभिमानो नाम गृहस्थाभिमानश्च। तत्र जात्यभिमानो नाम ब्राह्मणोऽहमिति। पूज्यत्वादूर्ध्वं गमनादीनां कार्याणामुच्छ्रितत्वात् त्रयाणामपि वर्णानामुपदेशेन गुरुत्वाद् यज्ञकर्तृत्वात् त्रैलोक्यस्थितिहेतोर्ब्राह्मणोऽहमिति प्रथमो मानो जात्युत्कर्षात् तथा ब्राह्मणानामपि गृहस्थादीनां पूज्यत्वात् तत्कृतमानश्च। एतच्च मानद्वयमव्यक्तलिङ्ग(अ. ३, सू. १)-वचनात् प्रतिषिद्धम्। तथा—

वित्तं बन्धुर्यशः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्।।

कहते हैं— व्रतादियों का गुप्त रखकर सम्यक् साधन प्रयोग और उत्सृष्टोपयोग में उससे अधिक गुण क्या है? जिस गुण को जानकर अव्यक्त, प्रेत, उन्मत्त आदि निष्पादित होते हैं? उत्तर देते हैं— उस गुण को जानकर कहूँगा। अपि च अव्यक्त, प्रेत, उन्मत्त आदि ब्राह्मण कर्म विरुद्ध देखकर शिष्य इस अर्थ को नहीं कहता। स्वच्छ हृदय प्राप्त साधक को देखकर भगवान् यह सूत्र कहते हैं।

सूत्रानुवाद— सभी कर्मों में असन्मान रूप कर्म उत्तम कहा गया है।

भाष्यानुवाद— यहाँ अकार मान का निषेध करता है। दूसरा गृहस्थाभिमान। जाति अभिमान से मैं ब्राह्मण हूँ। अतः जाति में सर्वश्रेष्ठ हूँ। जाति में श्रेष्ठता पूज्यत्व तथा स्वर्गादि प्राप्ति के लिये यज्ञादि, अनुष्ठान है। तीनों वर्णों के उपदेशक गुरु होने से, तीनों लोकों में पूज्य होने से, प्रथम दृष्टि में जाति का अभिमान है। ब्राह्मण भी यदि गृहस्थ है तो और मान का अधिकारी होता है। किन्तु यह मान नाशवान् है। अतः इन मानों को अव्यक्त लिङ्गम् सूत्र से निषिद्ध बताया गया। जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है—

वित्त, बन्धु, यश, कर्म, विद्या ये सभी मान देते हैं। इसमें भी क्रम से एक के अपेक्षा अधिक मान वाले हैं।

एतानि चैकवास:प्रेताचरणगूढव्रतोपदेशिना (अ.१, सू.१०;३, ११;४,२) सूत्रत: प्रतिषिद्धानीत्यतो मानो न कर्तव्य:। सन् इति प्रशंसायामस्तित्वे च अग्रे तदसन्मानचरिप्रकरणविशिष्टं च(?) हिशब्दोऽयमुत्तमोत्कर्षापेक्षो द्रष्टव्य:। यन्त्राणि अग्निष्टोमादीनि मासोपवासादीनि च गृहस्थादीनां शुद्धिवृद्धिकराणि। यन्त्राणि च कस्मात्? यन्त्रं कर्मादय:। यस्माद् यन्त्रा लौकिका अमर्यादावस्था भवन्तीत्यतो यन्त्राणि। यन्त्राणाम् इति षष्ठीबहुवचनम्। आह—

(मूढप्रभृति?) बहुवचनप्रयोगात् सन्देह:। अथ कियतां यन्त्राणाम्? तदुच्यते सर्वेषाम्। अत्र सर्वेषामित्यशेषाणामित्यर्थ:। सर्वेषामिति षष्ठीबहुवचनम्। आह—षष्ठ्या: साकाङ्क्षत्वात् सन्देह:। तेषां कारणात्मानो वर्तन्ते (?) तदुच्यते— उत्तम:। अत्रोत्तम इति श्रेष्ठत्वे परमविशुद्धित्यागादानभावादिषु। उक्तं हि—

वरेण्य: सप्तमो मुख्यो वरिष्ठ: शोभनोऽथवा।
उत्तमश्चावरार्धश्च स्वर्थ: श्रेष्ठार्थवाचका:।।

श्रेष्ठ:। इह चोक्तम् उत्तम इति। आह—असन्मान: सर्वयन्त्राणामुत्तम श्रेष्ठ: क्व सिद्धम्? उच्यते—इह। यस्मादाह—स्मृत:। अत्र स्मृत इत्युक्तपर्याय:,

---

अत: पहले कहे गये सूत्रों के द्वारा मान का प्रतिषेध किया गया है। अर्थात् मान का सञ्चय न करे। सन्मान से प्रशंसा और अस्तित्व का ज्ञान होता है। अत: असन्मान का ग्रहण है। हि शब्द असन्मान को बली बनाता है। यन्त्राणि से तात्पर्य है, अग्निष्टोम आदि यज्ञ से। यज्ञादि करने से उपवास आदि कर्म होते हैं। उससे शुद्धि और पुण्य की वृद्धि होती है। यन्त्राणि से क्या तात्पर्य है? यन्त्र कर्मादि को बताता है। लौकिक, अमर्यादित अवस्थाओं को यन्त्र शब्द से जाना जाता है। इसमें षष्ठी बहुवचन है।

कहते हैं— मूढ प्रभृति, बहुवचन के प्रयोग से संदेह हो सकता है कि यन्त्रों की संख्या क्या है? उत्तर देते हैं— सर्वेषाम् अर्थात् लौकिक कर्म सभी यन्त्र कहने से ज्ञात होता है। सर्वेषाम् में षष्ठी बहुवचन है। कहते हैं— षष्ठी साकाङ्क्ष अर्थात् मानप्रतिष्ठा आदि की इच्छा भी हो सकती है? उत्तर देते हैं— उत्तम:। यहाँ उत्तम कहने से साधक की अत्यन्त विशुद्धि, त्याग, अपरिग्रह से तात्पर्य है। कहा गया है— श्रेष्ठ अर्थ को बताने वाले, वरेण्य वरिष्ठ, उत्तम आदि शब्द कहे गये हैं। सब में श्रेष्ठ है। अत: उत्तम कहा गया है। कहते

महेश्वरेणोक्तं प्रोक्तं कथितं वर्णितमित्यर्थः। विशिष्टः कस्मात्? सर्वज्ञवचनाद-विसंवादित्वाच्च। नहि प्रत्यक्षदर्शिनां वचनानि विसंवदन्तीत्यर्थः।।९।।

आह—अस्मिन् क्रमे उत्तमत्वेन व्याख्यायमाने क आद्यः शोधकः? केन वा इदं विधानं चीर्णम्? आचरता वा किं फलं प्राप्तम्? सोऽस्मत्प्रत्ययार्थं वाच्यः। तदुच्यते—

इन्द्रो वा अग्रे असुरेषु पाशुपतमचरत्।।१०।।

अत्र देवतानां राजा इन्द्रः। कार्य गम्यते? असुरेष्वाचरणवचनात्। ब्राह्मण-श्चायमिन्द्रः श्रेष्ठः। सूत्रे ब्राह्मण(अ.४, सू.२०)ग्रहणात् शूद्रप्रतिषेधा (अ.१,-सू.१३) च्च। इदि परमैश्वर्ये धातुः। तस्येन्द्रः। इन्द्र उत्कृष्टः श्रेष्ठः। देवगन्धर्वयक्ष-राक्षसपितृपिशाचादीनां श्रेष्ठो न तु ब्रह्मादीनाम्, किन्तु स्वर्गिणां मध्ये ऐश्वर्येण विद्यया आज्ञया चेत्यतः श्रेष्ठत्वादिन्द्रः। वाशब्दः सम्भावने। अन्यैरपि देवश्रेष्ठैरिदं विधानमाचीर्णम्। कुतस्तर्हि युष्मदादिभिर्मनुष्यमात्रैः? तस्मात् सम्भाव्योऽयमर्थः। आह—कदा चीर्णमिति? उच्यते—अग्रे। अत्राग्र इति पूर्वकालमधिकुरुते। कुशिकेशानसम्बन्धात् प्राक्। प्रथमममरैश्चीर्णम्। कृतत्रेताद्वापरादिषु युगेष्वित्यर्थः।

हैं— असन्मान् सर्व यन्त्रों में श्रेष्ठ है यह कहाँ सिद्ध होता है? उत्तर देते हैं— इह अर्थात् पाशुपत शास्त्र में। अतः कहा गया— स्मृतिः। यहाँ स्मृत शब्द उक्त का पर्याय है। महेश्वर के द्वारा यह शास्त्र वर्णित है अतः विशिष्ट है। सर्वज्ञ के द्वारा उक्त होने से और सफल प्रवृत्ति होने के कारण श्रेष्ठ है। प्रत्यक्षदर्शियों की वाणी अविसंवादी नहीं होती।।९।।

इस पाशुपतव्रत के क्रम में तथा उत्तम साधक के रूप में प्रथम शोध किसने की? अथवा किसके द्वारा प्रथम विधान किया गया? उसके आचरण से क्या फल प्राप्त हुआ? जिससे मुझे ज्ञान हुआ? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— पाशुपत व्रत को सर्वप्रथम इन्द्र ने किया।

भाष्यानुवाद— यहाँ देवों में श्रेष्ठ इन्द्र, अर्थात् देवों का राजा इन्द्र होता है। कहते हैं— जीव कोटि में जाना जाता है? उत्तर देते हैं— सूत्र में असुरादि के कथन से इन्द्र भिन्न है अर्थात् श्रेष्ठ है। ब्रह्मविद् होने से ब्राह्मण है अर्थात् श्रेष्ठ है। २०वें सूत्र में ब्राह्मण की व्याख्या हुई है। इस पाशुपत

आह—केष्वाचीर्णमिति? उच्यते—असुरेषु। अत्रासुरा नाम सुरेतरा: स्तेययुक्ता:। प्राणापहरणाद् वा असुरा: प्रजापतिपुत्रा विज्ञेया:। असुरेष्विति सामीपिकं सन्निधानम्। असुरसमीपे असुराभ्याशे असुराणामध्यक्ष इत्यर्थ:। आह—किं तदिति? उच्यते—पाशुपतम्। अत्र पशुपतिनोक्तपरिग्रहाधिकारेषु वर्तत इति पाशुपतम्, पशुपतिर्वास्मिन् चिन्त्य इति पाशुपतम्, पशुपतिप्रापकत्वाद् वा पाशुपतम्, पाशुपतिमिति समस्तस्य सम्पूर्णस्य विधानस्यैतद् ग्रहणम्। कस्मात्? व्यक्तलिङ्गपूर्वकत्वादव्यक्तादिक्रमस्य। तस्मात् कृत्स्नमिदमेव विधानमाचीर्णमिन्द्रेण दु:खान्तार्थिना शुद्धिवृद्ध्यर्थम्। धर्मबाहुल्यात् सुराणां भुव्याचीर्णम्। अचरदित्यतीत: काल:। अतीते काले चीर्णवानित्यर्थ:।।१०।।

शास्त्र में स्त्री शूद्रों का अधिकार नहीं है। इन्द्र शब्द इदिधातु परमैश्वर्य अर्थ में होने के कारण श्रेष्ठ है। इन्द्र केवल देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाचादियों से श्रेष्ठ होता है न कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश से। किन्तु स्वर्ग में रहनेवालों के मध्य में ऐश्वर्य से विद्या से, आज्ञा देने से इन्द्र में श्रेष्ठत्व सिद्ध है। वा शब्द सम्भावना अर्थ में है। अन्य वरिष्ठ देवों के द्वारा कब और कहाँ व्रत का आचरण हुआ? उत्तर देते हैं— अग्रे। अग्र शब्द पूर्व समय का बोधक है। जैसे कुशिक का सम्बन्ध ईशान भगवान् से था। प्रथम आचरण देवों के द्वारा हुआ है। अर्थात् तीनों युगों में हुआ है। किन लोगों में आचरण हुआ? तो उत्तर देते हैं। असुरों में। असुर शब्द से देवों से भिन्न अर्थात् हिंसादि कर्म करने वाले का बोध होता है, अथवा प्राणादि लेने वाले असुर प्रजापतियों के पुत्र कहे जाते हैं। असुरेषु कहने में सामिपिक का ज्ञान होता है। अर्थात् असुरों के समीप में, उसकी भूमि में, उसकी देखरेख में। वह क्या है? उत्तर देते हैं— पाशुपतम्। पशुपति के द्वारा उक्त विधान को पाशुपत कहते हैं। अथवा इस संसार में चिन्तन करने योग्य पशुपति ही है। पशुपति के प्राप्त होने से भी पाशुपत है। समस्त विधानों को ग्रहण करने से भी पशुपत है। कैसे? उत्तर देते हैं— व्यक्तलिङ्ग से लेकर अव्यक्तादि क्रमों तक। इसलिये दु:खान्त को चाहने वाला इन्द्र के द्वारा सम्पूर्ण विधानों का आचरण किया। जिससे शुद्धि एवं वृद्धि की प्राप्ति हुई। धर्म के बाहुल्य से देवों की भूमि पर सर्वप्रथम व्यवहृत हुआ। अचरत्, प्रयोग भूतकाल का बोधक है। भूतकाल में व्रत हुआ है ऐसा अर्थ हुआ।।१०।।

आह—इन्द्रेणासुरेष्वाचरता किं फलं प्राप्तम्? तदुच्यते—

स तेषामिष्टापूर्तमादत्त।।११।।

स इतीन्द्रग्रहणम्। तेषाम् इत्यसुरनिर्देशः। इष्टापूर्तम् इति द्वन्द्वसमासः। इष्टं च पूर्तं चेष्टापूर्तम्। तत्र यन्मन्त्रपूर्वकेण विधिना दत्तं हुतं स्तुत्यादिनिष्पन्नं तदिष्टम्, यदमन्त्रपूर्वकेणैव तत् पूर्तम्।।११।।

इन्द्रेणासुरेभ्यः केनोपायेनादत्तमिति? उच्यते—

मायया सुकृतया समविन्दत।।१२।।

क्राथनस्पन्दनादिप्रयोगैर्धिक्कृतस्य निद्राविष्टो वायुसंस्पृष्टो मन्दकारी असम्यक्कारी असम्यग्वादीति योऽयं दुष्टशब्दोऽभियोगशब्दश्च निष्पद्यते, तस्मिन्ननृते मायासंज्ञा, मानसकायिकाभियोगे च। मायया इति तृतीया। सुकृतया इति। सु

कहते हैं— इन्द्र के द्वारा असुरों में व्रत करने से क्या फल हुआ? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— वह इन्द्र असुरों के सम्बन्ध से इष्टापूर्त की प्राप्ति किया।

भाष्यानुवाद— स से इन्द्र का ग्रहण है। तेषाम् पद असुर से सम्बन्धित है। इष्टापूर्त में द्वन्द्व समास है। इष्टं च पूर्तं च इति इष्टापूर्तम्। ये दोनों पद यज्ञ वाचक हैं। इष्ट यज्ञ उसे कहते हैं जिसमें विधिपूर्वक मन्त्रों के द्वारा आहुति दी जाती है और प्रार्थना आदि क्रियायें सम्पन्न होती हैं। जो यज्ञ अमन्त्रक होता है उसे पूर्त कहते हैं।।११।।

प्रश्न है— इन्द्र के द्वारा असुरों के लिये किस प्रकार विधि की जाती है? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— माया के द्वारा अच्छी प्रकार से किया गया आचरण से इष्टापूर्त की प्राप्ति हुई।

भाष्यानुवाद— क्रान्थन, स्पन्दनादि क्रियाओं के प्रयोग से प्राप्त अवमानों में जैसे निद्रालु, कम्पन, मन्द, गलत करने वाला, व्यर्थ बोलनेवाला आदि दुष्टता सम्बन्धि कथन से, अनृत व्यवहार से माया का बोध होता है। मानसिक और कायिक प्रयोग से माया में तृतीया है। सु उपसर्ग प्रशंसा अर्थ

प्रशंसायाम्। तया सुकृतया सम्यक् प्रयुक्तयेति साधकसाधनप्राधान्यम्। अविन्दत इति प्राप्तौ प्राधान्ये च। स तेषामिष्टापूर्तमादत्तेति। उक्तं हि—

आक्रोशमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षति।
स तेषां दुष्कृतं दत्त्वा सुकृतं चास्य विन्दति।।

इति।।१२।।

आह—उत्तम इन्द्रः। स तेषामिष्टापूर्तमित्युक्ते परापदेशेनास्य वृत्तिर्निर्गुणीकृता। अथात्मापदेशोऽत्र किमस्ति नेति? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

निन्दा ह्येषानिन्दा तस्मात्।।१३।।

अत्रावमानपरिभवाद्या निन्दा कुत्सा गर्हा इत्यर्थः। हिशब्दो निन्दोत्तमोत्कर्षोपक्षेपे द्रष्टव्यः। उत्तमाधिकाराद् गम्यते। एषा इत्यतिक्रान्तापेक्षणे। अवमानपरिभवपरि-वादाद्या निन्देत्यर्थः। अनिन्दा इत्यकारो निन्दितत्वं प्रतिषेधति। अनिन्दा अकुत्सा अगर्हा इत्यर्थः। अत्र तस्माच्छब्दः पूर्वोत्तरं चापेक्षते। तत्र पूर्वाकाङ्क्षायां तावत् कृत्स्ना निन्दाप्रकरणगुणवचने(?) यस्मादिन्द्रस्यापि शुद्धिवृद्धिकारिणी आत्मापदेशेन

में है। तया मायया से तात्पर्य है। साधक के द्वारा अच्छी प्रकार से किया हुआ आचरण से तात्पर्य है। प्राप्ति अर्थ में अविन्दत पद है। तेषामिष्टापूर्तमादत्तेति सिद्ध हुआ।

कहा गया है— क्रोधी का क्रोध प्रतिपक्षि के अक्रोध से शान्त होता है। क्रोधी को अपना दृष्कृत देकर उसका सुकृत प्राप्त कर लेता है।।१२।।

कहते हैं— इन्द्र उत्तम है। उसके इष्टापूर्त ऐसा कहकर परसम्बन्धी कार्य की समाप्ति है? साधक के लिये करणीय क्या है? अथवा नहीं है? उत्तर देते हैं— है। जैसे—

सूत्रानुवाद— पहले कहे गये क्रियाओं से जो निन्दा या परिभवादि प्राप्त होते हैं, वह निन्दा रूप ही अनिन्दारूप की प्राप्ति साधक के लिये है।

भाष्यानुवाद— यहाँ अवमान परिभवादि निन्दा है। कुत्सा और गर्हा शब्द भी निन्दा अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। हि शब्द, साधक की निन्दा, उत्तम और उत्कर्ष की प्राप्ति में समझना चाहिए। उत्तमाधिकार को प्राप्त करता है। एषा शब्द साधक के लिये, यहाँ अर्थात् पाशुपतव्रती के लिये निन्दा ही अनिन्दा होती है। अवमान, परिभव भी निन्दा कही जाती है। अनिन्दा का अकार निन्दा

परापदेशेन च भगवता असन्मानचरिर्गुणीकृता तस्मादित्यर्थः। आह—निराकाङ्क्षा-निर्देशात् सन्देहो यथा यथा वर्णितं तथा तथा च व्याख्यातम्?॥१३॥

निन्दायामनिन्दितत्वं गुणं ज्ञात्वा साधकेन किं कर्तव्यम्? तदुच्यते—

निन्द्यमानश्चरेत्॥१४॥

अत्र निन्दा पूर्वोक्ता। निन्द्यमानेनैव निन्दाया वर्तमानकाल इत्यर्थः। चरेद् इत्यर्जनम-धिकुरुते। धर्मार्जने नियोगे च। संशयान्यत्वाच्चापुनरुक्तश्चरिशब्दो द्रष्टव्यः॥१४॥

अत्रेदमानुषङ्गिकम् असन्मार्गचरिप्रकरणं परिसमाप्तम्॥

आह—निन्द्यमानश्चरेदित्युक्त्वा आद्यं विधानमाचरतः कोऽर्थो निष्पद्यते? निष्पन्नेन वा कथमभिलक्ष्यते? तदुच्यते—

अनिन्दितकर्मा॥१५॥

का प्रतिषेध करता है। उसी को अकुत्सा और अगर्हा भी कहते हैं। तस्मात् शब्द से पहले के कथन का बोध होता है। पहले कहे गये तिरस्कारादि यहाँ समस्त निन्दा के रूप में व्यवहृत है। जिससे इन्द्र की भी शुद्धि वृद्धि कही गयी एवं आत्मोपदेश परोपदेश भी भगवान् के द्वारा कहा गया। आकाङ्क्षा के अभाव में जैसा कहा गया वैसा ही वर्णन व्याख्या की गयी॥१३॥

निन्दा को अनिन्दा जानकर तथा उसके गुणों को जानकर साधक के द्वारा क्या करना चाहिए? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— साधक निन्दा वाला होकर ही विचरण करे।

भाष्यानुवाद— निन्दा का अर्थ बताया जा चुका है। निन्द्यमान से तात्पर्य वर्तमानकालिक क्रिया में है। चरेद् से धर्मार्जन समझें। चरि शब्द का अर्थ यहाँ दूसरा होने से पुनरुक्ति दोष नहीं है।

यहाँ प्रसङ्गवश असन्मार्गचरि प्रकरण समाप्त हुआ॥

प्रश्न है— निन्द्यमान होकर विचरण करे ऐसा कहने पर प्रश्न उठता है कि पहले के आचरण को क्या कहेंगे, उस आचरण से क्या प्राप्ति होगी? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— साधक अनिन्दित कर्मा हो जाता है।

अत्र चर्योत्तरसम्बन्धाद् गम्यते यदेतदनिन्दितं कर्म धर्मः, स एव निन्द्यमानस्याचरतो निष्पद्यते। अतः अनिन्दितकर्मा भवतीत्यर्थः॥१५॥

आह—निन्द्यमानस्याचरतोऽनिन्दितं कर्म भवतीति क्व सिद्धम्? तदुच्यते—इह। यस्मादाह—

सर्वविशिष्टोऽयं पन्था:।।१६।।

अत्र 'अयम्' इति प्रत्यक्षे। यथायं पुरुषः॥१६॥

यथाविधिश्चरिरिति याः क्रियाः, अत्राधिकृतस्यानिन्दितं कर्म भवतीत्याह भगवान्—

सत्पथः।।१७।।

कस्मात्? रुद्रसमीपप्रापणसामर्थ्यात्, अनावृत्तिप्रापणसामर्थ्याच्चाविकलः। तस्मात् सर्वज्ञवचनाविसंवादित्वाच्चायं सत्पथ इत्यर्थः॥१७॥

आह— किमन्यत्र पन्थानः सन्ति इति? उच्यते—सन्ति। किन्तु

कुपथास्त्वन्ये।।१८।।

भाष्यानुवाद— पहले के सभी क्रियायें अनिन्दित रूप कर्म हैं और धर्मरूप हैं। उसी को निन्द्यमान् आचरण से जाना जाता है। अर्थात् अनिन्दित कर्मा होता है।

कहते हैं— निन्द्यमान आचरण अनिन्द्यमान आचरण है यह कहाँ सिद्ध है? उत्तर देते हैं— यहाँ अर्थात् पाशुपतशास्त्र में। जैसा कि—

सूत्रानुवाद— यह मार्ग अतिविशिष्ट है। ऐसा भगवान् पशुपति ने कहा है।

भाष्यानुवाद— सभी क्रियाओं को यथाविधि सम्पन्न करने से सभी कर्म धर्मरूप हो जाते हैं ऐसा भगवान् कहते हैं॥१६॥

सूत्रानुवाद— यह पाशुपत मार्ग सन्मार्गी है।

भाष्यानुवाद— कैसे? उत्तर देते हैं— रुद्र की प्राप्ति कराने योग्य होने से। पुनः इस संसार में प्रत्यावर्तन की प्राप्ति न होने से। इसलिये— भगवान् के कथन और सफल प्रवृत्ति होने के कारण सन्मार्ग है॥१७॥

कहते हैं— क्या दूसरे मार्ग भी है? उत्तर देते हैं— और भी मार्ग हैं। जैसे—

सूत्रानुवाद— भगवान् कहते हैं कि पूर्वोक्त मार्ग को छोड़कर सभी मार्ग कुपथ अर्थात् कुमार्ग की श्रेणी में आते हैं।

अत्र 'कु' कुत्सायां भवति। कस्मात्? कुशब्दप्रयोगाद् गम्यते। कुपुरुषवत्। पन्थानो विधय उपाया इत्यर्थः। तुशब्दोऽनावृत्त्युत्कर्षे। अन्ये इति। गृहस्थब्रह्मचारिवानप्रस्थभिक्षुपाषण्डिनां पन्थानः, ते कुपथाः॥१८॥

आह—अयमेव सत्पथः, शेषाः कुपथा इति क्व सिद्धम्? किं वाऽस्य सत्पथत्वम्? शेषाणां वा कुपथत्वं किमिति? उच्यते—इह। यस्मादाह—

अनेन विधिना रुद्रसमीपं गत्वा॥१९॥

अत्र 'अनेन' इत्यनपेक्षणे। विधिना भस्मस्नानक्राथनादिनोपायेनेत्यर्थः। विधिनेति तृतीया। रुद्र इति कालोपदेशे। रुद्रस्य रुद्रत्वं पूर्वोक्तम्। समीपम् इति योगपर्यायः। कथं गम्यते? विध्यनन्तरोक्तत्वात्। सति विधिविषयत्वे पुरुषेश्वरयोर्विषयाधिकारकृतं वियोगं दृष्ट्वा ज्ञानपरिदृष्टेन विधिनाध्ययनध्यानादिकृतो विशुद्धभावः समीपस्थ इत्यर्थः। गतिः प्राप्तिर्भावस्येत्यर्थः। त्वा इति विधिकर्मणोर्निष्ठा॥१९॥

भाष्यानुवाद— यहाँ कु का अर्थ निन्दा में है। कैसे? खराब पुरुष बताने के लिये कुपुरुषः प्रयोग आता है। पन्थानः का अर्थ विधि हैं, साधन है। तु शब्द अनावृत्ति के उत्कर्ष में है। अन्य से गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थभिक्षु, पाषण्डी इत्यादियों का मार्ग कुपथ है॥१८॥

कहते हैं— जो आपकी विधि है वह सत्पथ है, औरों की विधि कुपथ है यह कैसे सिद्ध होता है, उसमें सत्पथत्व और इसमें कुपथत्व क्या है? उत्तर देते हैं— यहाँ ऐसा कहा गया है—

सूत्रानुवाद— इस प्रकार पूर्वोक्त भस्मस्नान क्रान्थनादि विधियों को करने से रुद्रभगवान् की पाप्ति होती है।

भाष्यानुवाद— अनेन अर्थात् इस प्रत्यक्ष साधक के द्वारा विधि करने पर, (जो विधि भस्मस्नानादि कही गयी है) रुद्र जो काल भगवान् हैं उनकी प्राप्ति होती है। रुद्र की महिमा पहले बतायी गयी है। समीप से तात्पर्य है— सायुज्य की प्राप्ति। कैसे माना जाय? उत्तर देते हैं— विधि विषय में रहने वाला धर्म तथा पुरुष और ईश्वर की प्राप्ति के अधिकारों को अधिगत करने के बाद भी यदि ईश्वर से योग नहीं है तो ज्ञान से, विधि से, अध्ययन और ध्यान से स्वच्छ होकर सामीप्य को प्राप्त करे। गत्वा से तात्पर्य है प्राप्ति। त्वा पद से विधि और कर्म की निष्ठा अर्थ में है॥१९॥

आह—अत्रैवं विध्याचरणं समीपगमनं च कस्योपदिश्यते? उच्यते—न तीर्थयात्रादिधर्मवत् सर्वेषाम्, किन्तु संस्कारवद् ब्राह्मणस्यैव। यस्मादाह—

न कश्चिद् ब्राह्मणः पुनरावर्तते।।२०।।

अत्र नकारोपदेशोऽन्याचरणप्रतिपत्तिप्रतिषेधार्थः। कश्चिद् इति गृहस्थाद्यः। स्थानमात्रवैलक्षण्यदर्शनाद् ब्राह्मणेष्वेव कश्चिच्छब्दः। गृहस्थो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो भिक्षुरेकवेदो द्विवेदस्त्रिवेदश्चतुर्वेदो गायत्रीमात्रसारो वानेन विधिना रुद्रसमीपं प्राप्तः सन् न कश्चिद् ब्राह्मणः पुनरावर्तत इत्यर्थः। ब्राह्मणग्रहणं ब्राह्मण्यावधारणार्थम्, ब्राह्मण एव नान्य इत्यर्थः। क्षेत्रज्ञे च ब्राह्मणसंज्ञा। कस्मात्? उपचयजन्मयोगात् संस्कारयोगात्, श्रुतयोगाच्च ब्राह्मणः। पुनःशब्दः पुनरावृत्तिप्रतिषेधे। यथा पूर्वं संज्ञानादिभिर्गत्वा आवर्तते पुनः पुनः, तथानेन विधिना रुद्रसमीपं गत्वा न सकृदावर्तते। पुनः पुनः सर्वथापि नावर्तत इत्यर्थः। आङ् इति स्वशास्त्रोक्तमर्यादा-

---

कहते हैं— इस प्रकार के विधियों के आचरण और सामीप्य प्राप्ति किसके लिये कहा गया है? उत्तर देते हैं— तीर्थ यात्रादि धर्म के समान आचरण करने वाले सभी के लिये यह उपदेश नहीं है अपितु जो ब्राह्मण है वही अधिकारी है। जैसे कहा है—

सूत्रानुवाद— पाशुपत धर्म के अनुसार विधि करने वाले ब्राह्मण कभी भी दूसरा जन्म ग्रहण नहीं करते।

भाष्यानुवाद— सूत्र में नकार के कथन से अन्य आचरणों का निषेध है। कश्चिद् से गृहस्थादियों का ग्रहण है। स्थानमात्र की विलक्षणता से ब्राह्मणों में ही कश्चित् शब्द का प्रयोग है। गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, भिक्षु, एक वेदी, द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी अथवा गायत्री तत्त्वज्ञ ब्राह्मण ही इस विधि के द्वारा रुद्र की प्राप्ति करने पर पुनः इस संसार में नहीं आता। ब्राह्मण शब्द से ब्राह्मणत्व धारण से अर्थ है। जो आत्मविद् है वही ब्राह्मण है। कैसे? जन्मयोग से, संस्कार योग से, बहुश्रुत योग से ब्राह्मण होता है। पुनः से द्वितीयावृत्ति का निषेध है। जिस प्रकार और ज्ञानी बार-बार लौटते हैं उस तरह इस विधि को करने वाला साधक कभी नहीं लौटता। आवर्तते में जो आङ् उपसर्ग है वह शास्त्रोक्त मर्यादा को धारण करता है और अपनी सीमा में रहता है। जिन साधनों के द्वारा विधि

मधिकुरुते, अभिविध्यर्थं च। ये चानेन विधिना क्षपिताज्ञानकलुषपापमायादयः क्षीणाः ते पुनः पुनरावर्वान्ते। न तैः सह संयोगो भवति, न चापरं जन्म प्रतिपद्यत इत्यर्थः।।२०।।

एवमध्यायपरिसमाप्तिं कृत्वा युक्तं वक्तुम्—

अत्रेदं ब्रह्म जपेत्।।२१।।

अस्य पूर्वोक्तोऽर्थः।।२१।।

आह—किं पुनस्तद् ब्रह्म? उच्यते—कारणादिभावेनोक्तोऽयं भगवत एकत्वं साधको ज्ञात्वा तत् साधनमारभते—

तत्पुरुषाय विद्महे।।२२।।

अत्र पूर्वं असत्वबहुत्वनानात्वेनोपदिष्टस्य परामर्शः 'तत्' इति। पुरुष इति पौरुष्यमस्यानेकेषु रूपेष्ववस्थानात्। तत्संस्थानि रूपाणि अघोरादीनि।

करने से अज्ञान, मलिनता, पाप, माया आदि समाप्त हो जाती हैं। वे ही पुनः लौटकर नहीं आते। उनका विषयों के साथ संयोग नहीं होता। न दूसरा जन्म होता है।।२०।।

इस प्रकार अध्याय की समाप्ति कर युक्त कथन करते हैं—

सूत्रानुवाद— पशुपतिरूप ब्रह्म का चिन्तन करे। यह पहले भी कहा गया है।

पुनः प्रश्न उठता है कि वह ब्रह्म कौन है? उत्तर देते हैं— कारण कार्यभाव से जिसमें एकत्व की सिद्धि होती है, वैसे ब्रह्म का जप करे, अर्थात् चिन्तन करे।।२१।।

जैसा कि कहा गया है—

सूत्रानुवाद— जिसमें रूपों का नानात्व, परिमितापरिमित आदि बहुत कारणत्व है ऐसे ब्रह्म का हम ध्यान करें।

भाष्यानुवाद— यहाँ पहले के सूत्र में, कारणत्व, बहुत्व, नानात्व आदि का विचार हुआ है। पूर्ण ब्रह्म के अर्थ में पुरुष का कथन है। अनेक रूपों में स्थिति होने के कारण भी पुरुष का कथन है। तत्पुरुषाय में चतुर्थी

तत्पुरुषायेति चतुर्थी। यथा ग्रामाय तत्त्वं ज्ञातुमिच्छति, तथा पुरुषाय तत्त्वं ज्ञातुमिच्छति। विद्महे इति। विद् ज्ञाने। विद्महे जानीमहे, उपलभामह इत्यर्थः।।२२।।

आह—पुरुषबहुत्वात् संदेहः। अथ कतमस्मै पुरुषाय? तदुच्यते—

महादेवाय धीमहि।।२३।।

अत्र महादेवत्वं च पूर्वोक्तम्। महादेवायेति चतुर्थी। धीमहि इति। धीङ् संश्लेषणे। ध्यायेमहि लीयामहे, ज्ञानक्रियाशक्तिभ्यां संयुज्यामह इत्यर्थः। अत्र 'धी' इति ज्ञानशक्तिपर्यायः। यया सर्वपदार्थानां तत्त्वमधिगच्छति, सा ज्ञानशक्तिः। महि इति क्रियाशक्तिपर्यायः। यया विधियोगाचरणसमर्थो भवति सा क्रियाशक्तिरित्यर्थः।।२३।।

आह—अथैते दृक्क्रियाशक्ती महादेवात् साधकः किं स्वशक्तित आसादयति? आहोस्वित् परशक्तितः? उतोभयशक्तितः? तदुच्यते—परशक्तितः। यस्मादाह—

तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्।।२४।।

है अर्थात् निमित्त अर्थ में है। जिस प्रकार बहुत तत्त्वों की जानने की इच्छा होती है वैसे ही पुरुष तत्त्व जानने की इच्छा करता है। विद्महे से तात्पर्य है कि सामीप्य की प्राप्ति करें।।२२।।

कहते हैं — नाना पुरुष होने से संदेह है। किस पुरुष का हम यहाँ ध्यान करें। उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— साधक का ध्यान महादेव के लिये होवे।

भाष्यानुवाद— महादेवत्व क्या है पहले बताया गया है। महादेवाय में चतुर्थी है। धीमहि का अर्थ — ध्यान करें, अपने में लीन करें अथवा ज्ञान और क्रिया शक्ति से योग करें। यहाँ धी शब्द, ज्ञानशक्ति का पर्याय है। जिस शक्ति के द्वारा सभी पदार्थों के तत्त्वों को प्राप्त किया जाता है, जिस शक्ति से विधि योगाचरण करने में समर्थ होता है, वही क्रियाशक्ति है।।२३।।

कहते हैं— क्या साधक सारी शक्तियों को महादेव से प्राप्त करता है? अथवा अपनी शक्ति से प्राप्त करता है? अथवा दूसरे की शक्ति से, या दोनों की शक्ति से। उत्तर देते हैं— दूसरे की शक्ति से। जैसा कि कहा गया है—

सूत्रानुवाद— वह शक्ति रुद्र भगवान् की प्रेरणा से साधक को प्राप्त होती है।

तद् इति दृक्क्रियाशक्त्योर्ग्रहणम्। नो इत्यात्मापदेशो। अस्माकमित्यर्थः। रुद्र इति कारणापदेशे। रुद्रस्य रुद्रत्वं पूर्वोक्तम्। प्र इत्यादिकर्मणि। चुद प्रेरणे। चोदनं नाम ज्ञानक्रियाशक्तिसंयोगः। याद् इति लिप्सा। संयोजयस्व मामित्यर्थः। उक्तं हि— "रुद्रस्येच्छापूर्वको यो योगो ज्ञानक्रियाशक्तिभ्यां पश्वादिषु सम्भवः, तच्चोदनमाहुराचार्याः"॥२४॥

एवमत्र भगवत्कौण्डिन्यकृते पञ्चार्थभाष्ये
चतुर्थोऽध्यायः सह ब्रह्मणा ग्रन्थतोऽर्थतश्च परिसमाप्त इति॥

भाष्यानुवाद— सूत्र में तद् शब्द का अर्थ क्रिया शक्ति है। 'न' का अर्थ हमारा है। रुद्र का अर्थ पहले कहा जा चुका है। प्र उपसर्ग, कर्म से तात्पर्य है। चुद् धातु से प्रेरणा अर्थ में है। चोदन से तात्पर्य है— ज्ञान, क्रियाशक्ति का संयोग। विधिलिङ् के प्रयोग से अर्थ है कि मुझे जोड़ो। क्योंकि कहा गया है— रुद्र की इच्छा से विद्या, पशु, कला इत्यादि की उत्पत्ति होती है। उसी को 'चोदन' अर्थ में आचार्यों ने कहा है।

इस प्रकार भगवान् कौण्डिन्यकृत पञ्चार्थभाष्य का
चतुर्थ अध्याय ब्रह्मसम्बन्धी ग्रन्थ परिपूर्ण हुआ॥

♦·♦·♦

अथ पञ्चमोऽध्यायः

इदानीं पञ्चमाध्यायमवसरप्राप्तं सम्बन्धं कृत्वा वक्ष्यामः। यस्मादाह— असङ्गो योगी। इत्येव तावत् पञ्चमस्याध्यायस्यादिरिति। इदानीं पञ्चमस्य चतुर्भिरध्यायैः सह सम्बन्धं कृत्वा व्याख्यानं करिष्यामः। आह—चतुर्विधत्वात् सम्बन्धस्य संदेहः। इह चतुर्विधः सम्बन्धो भवति। तद्यथा—सूत्रसम्बन्धः, प्रकरणसम्बन्धः, अध्यायसम्बन्धः, दूरस्थश्चेति। उक्तं हि—

सूत्रप्रकरणाध्यायैः सम्बन्धस्त्रिविधः स्मृतः।
दूरस्थश्चार्थशेषेण पूर्वात् सम्बन्ध इष्यते।।

एवं चतुर्विधः सम्बन्धो भवति यस्मात्, अतो नः संशयः कतमोऽयं सम्बन्ध इति? तदुच्यते—न तावदयं सूत्रसम्बन्धो न प्रकरणसम्बन्धो न दूरस्थसम्बन्धः। किन्त्वयमध्यायसम्बन्धः। आह—यद्येवं तस्माद् उच्यताम्, कतमस्य पदार्थस्य शेषेणायं सम्बन्धः कथ्यते? योगशेषेण आह—अस्मिन् योगपदार्थेषु किं शेषम्? किं वा नियतं शेषत्वेन यत् सम्बन्ध्यते? तदुच्यते— पूर्वं चतुर्ष्वध्यायेषु कारणत्वबहुत्वनानात्वेनोक्तस्य भगवत एकत्वं नोक्तम्। तद्

प्रसङ्गतः पञ्चम अध्याय का अवसर प्राप्त होने पर सम्बन्ध को लेकर कहूँगा। जैसा कि कहा गया है— 'असङ्ग', 'योगी' आदि सूत्रों का सम्बन्ध इस अध्याय का आदि सम्बन्ध है। चारों अध्यायों के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए पञ्चमाध्याय का सम्बन्ध कहेंगे। कहते हैं— चार प्रकार के सम्बन्ध कहने पर संदेह होता है? उत्तर देते हैं— यहाँ चार प्रकार का ही सम्बन्ध होता है। १. सूत्र सम्बन्ध, २. प्रकरण सम्बन्ध, ३. अध्याय सम्बन्ध, ४. दूरस्थ सम्बन्ध रखता है? उत्तर देते हैं— यहाँ सूत्रादि तीन सम्बन्ध यहाँ नहीं है किन्तु यहाँ अध्याय सम्बन्ध है। यदि ऐसी बात है तो बतावें किन पदार्थों के शेष से सम्बन्धित है? उत्तर देते हैं— योग पदार्थ के शेष का सम्बन्ध है। इस योग पदार्थ में क्या शेष है? अथवा किसी खास योग से सम्बन्ध है? उत्तर देते हैं— पूर्व के चारों अध्यायों में बहुरूपी रुद्र का वर्णन हुआ है किन्तु बहुरूपी होते हुए भी एक है। कारण में कारणत्व कहा गया— पति रूप, आद्यरूप, अजातरूप और जगदुत्पत्ति रूप बहुत्व, कारण में रहने वाले धर्म

वक्ष्यामः। तत्र कारणत्वं तावदुक्तम्—पतिः सन् आद्योऽजातो भवोद्भवः (अ.१,सू.३८,४० तथा ४४) इति। बहुत्वमुक्तम्—वामो देवो ज्येष्ठो रुद्रः कामी शङ्करः कालः कलविकरणो बलप्रमथनः सर्वभूतदमनो मनोऽमन (अ.२, सू.१-४, ६, २४०, २३-२७) इति। नानात्वं चोक्तम्—अघोरो घोरो घोरतर (अ.३, सू.२१-२३) इति। एवं कारणत्वबहुत्वनानात्वेनोक्तस्य भगवत एकत्वं वक्ष्यामः। यादृशं महेश्वरे योक्तव्यं तत्तत्त्वनिर्देशं करिष्यामः। उक्तं च—उभयथा कर्तव्याः? तदुच्यते—यादृशे महेश्वरे उभयथापि यजनादयः कर्तव्याः, भक्तिसमीपं देवनित्यता नित्ययुक्तता अध्ययनं ध्यानं स्मरणं सायुज्यं चित्तस्थितिर्द्रष्टव्या, तथा वक्ष्यामः। यथा चायमात्मा दोषादिविशिष्टः शुद्धो युज्यते, तथा वक्ष्यामः। तन्निष्ठायोगलक्षणम्, निष्ठायोगक्रियायोगयोः प्रतिविभागं वसत्यर्थे वृत्तिबलं क्रियाबलं च तद् वक्ष्यामः। तथा समीपप्राप्तस्य चित्तस्थितिं च वक्ष्यामः। अत एभिरुक्तशेषैः पञ्चमोऽध्यायः सम्बध्यते। यस्मादाह—

असङ्गः॥१॥

बताये गये हैं। इसी प्रकार नानात्व में दूसरे अध्याय के १ से ५ तक ६,२०,२३,२७ वें सूत्र बताये गये हैं। इस प्रकार माहेश्वर में कारणत्व, बहुत्व, नानात्व की व्याख्या हो चुकी है। अब भगवान् के एकत्व को कहूँगा। जिन तत्त्वों से माहेश्वर में योग होगा उन तत्त्वों को कहूँगा। जैसा कि कहा गया है— दोनों का यजन अर्थात् देव और पितर का भी यजन पशुपति में ही करें। प्रश्न करते हैं— किस तरह के महेश्वर में दोनों प्रकार का यजन करना चाहिए? उत्तर देते हैं— जिस महेश्वर में यजनादि करें, किन्तु उसमें भक्ति का सामीप्य, देव नित्यता, नित्य युक्तता, अध्ययन, ध्यान, स्मरण, सायुज्य, चित्तस्थिति साधक की बनी रहे। इसको आगे कहूँगा। जिस प्रकार भी यह आत्मा दोषादियों में शून्य होकर योग कर ले, इसीमें तात्पर्य है। साधक की निष्ठा योगलक्षण, निष्ठाक्रिया योग आदि सभी भेद उसी की प्राप्ति में होवे, इसको भी आगे कहूँगा। साधक की चित्तस्थिति, प्राप्ति करने पर कैसी होगी आदि इस अध्याय में कहूँगा।

सूत्रानुवाद— साधक विषयों से सङ्ग न करे। अर्थात् एक मात्र माहेश्वर में चित्तस्थिति हो जाय।

अत्र अकारः सङ्गप्रतिषेधे। अत्र सङ्गो नाम यदेतत् पुरुषे विषयित्वम्। तेन विषयित्वेन योगादधर्मेण चायं पुरुषो यदा अध्ययनध्यानादिभ्यश्च्यवति। दृष्टान्तश्रवणप्रेक्षणलक्षणो वनगजवत् त्रैकाल्यमित्यर्थः(?)। असङ्गित्वमप्यतीतानागतवर्तमानानां विषयाणामनुचिन्तनं भिक्षुवत्। एवं महेश्वरे भावस्थितिस्तदसङ्गित्वमित्यर्थः।।१।।

आह—किमसङ्गित्वमेवैकमुक्तं नान्यल्लक्षणम्। उच्यते—यस्मादाह—

योगी।।२।।

इति। अत्र योगो नाम—आत्मेश्वरसंयोगो योगः प्रत्येतव्यः। उक्तं हि—

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्विविधैर्गीतवादितैः ।
क्रियमाणैर्न बुध्येत एतद् युक्तस्य लक्षणम्।।

इति।।२।।

भाष्यानुवाद— सूत्र में अकार सङ्ग का प्रतिषेध करता है। सङ्ग से तात्पर्य है कि जीवात्मा विषयों से सम्बन्ध न करें। सङ्ग के कारण ही पुरुष अर्थात् जीव अध्ययन, ध्यान आदि से च्यूत हो जाता है। जैसे जंगली हाथी सर्वदा अपने विषयों में रमा रहता है। असङ्गित्व का तात्पर्य है कि साधक अपने सभी कालों की अवस्थाओं का बार-बार चिन्तन करे ताकि वैराग्य हो जाय। जैसे भिक्षुक अपने को सदा दीन हीन समझकर विचरण करता है। इस प्रकार महेश्वर में भावस्थिति होने पर असङ्गित्व होगा।।१।।

कहते हैं— क्या एक असङ्गित्व ही साधक लक्षण होगा? दूसरा लक्षण नहीं? उत्तर देते हैं— और लक्षण है, जैसा कि कहा गया है।

सूत्रानुवाद— साधक को योगी होना चाहिए।

भाष्यानुवाद— यहाँ योग से तात्पर्य है जीवात्मा और परमात्मा के योग के लिये प्रयत्नशील। क्योंकि कहा गया है कि जो साधक युक्त है उसके सामने चाहे कितनी भी आवाज देने वाले यन्त्र क्यों न बजते हों किन्तु साधक अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होता।।२।।

आह—किं लक्षणद्वयमेवात्र युक्तस्योच्यते? न। यस्मादाह—

नित्यात्मा।।३।।

अत्र नित्यत्वविशेषणेनानित्यत्वं निवर्तते। नित्यत्वं नाम सति विभुत्वे पुरुषेश्वरयोर्मनसा सह गतस्यात्मताभावस्य वृत्त्याकारस्य विषयं प्रति क्रमोऽक्षोपोऽवस्थानं वृक्षशकुनिवत्। तस्मिन् निर्वृत्ते महेश्वरे युक्तो नित्य इत्युच्यते। 'आत्मा' इति क्षेत्रज्ञमाह। कथं गम्यते? चित्तस्थित्युपदेशाद् योगार्थं विद्याचरणोपदेशाद् असङ्गयोगियुक्तात्माजमैत्रादीनां चेतने सम्भवात्, न त्वचेतनेषु कार्यकरणप्रधानादिषु। तस्मिंश्चेतने आत्मशब्दः। आत्मा च कस्मात्? अततीत्यात्मा। आपूर्य कार्यकरणं विषयांश्चेतयतीत्यात्मा। उक्तं हि—

यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयान् पुनः।
यच्चास्य सततं भावस्तस्मादात्मेति संज्ञितः।।

प्रश्न है?— क्या युक्त के यही दो लक्षण है? उत्तर देते हैं— नहीं। और भी हैं जैसा कि—

सूत्रानुवाद— साधक को सतत युक्त होकर सायुज्य की प्राप्ति करनी चाहिए।

भाष्यानुवाद— यहाँ आत्मा का नित्यत्व विशेषण होने से अनित्यत्व का प्रतिषेध है। अपने लक्ष्य के प्रति मनवृत्ति से तदाकाराकारित होकर साधक को रहना चाहिए जैसे वृक्ष और पक्षी का सम्बन्ध होता है। इस प्रकार माहेश्वर में जिस साधक की चित्तस्थिति हो जाती है उसको नित्य कहते हैं। आत्मा अर्थात् क्षेत्रज्ञ, जीव है। कैसे समझते हैं? उत्तर देते हैं— चित्तस्थिति के उपदेश से। योग के लिये विद्याचरण के उपदेश से। असङ्ग, योगी, युक्तात्मा, अज और मैत्रादियों के ज्ञान से क्षेत्रज्ञ को हम जानते हैं। अचेतन जो प्रकृति के कार्यकरण है इनमें आत्मा का ज्ञान नहीं होता। चेतना में ही आत्मा शब्द का व्यवहार है। आत्मा किसे कहते हैं? उत्तर देते हैं— अतति अर्थात् जो प्राप्त करता है, वह आत्मा है। सभी कार्य, करण, विषयों को आच्छादित कर ज्ञान कराता है, वह आत्मा है। कहा भी गया है— "जो प्राप्त करता है, जो ग्रहण करता है, जो विषयों का भोग करता है, जिसमें निरन्तर भाव रहता है वह आत्मा है। वही आत्मा श्रोता, स्रष्टा, (रसयिता, घ्राता, मन्ता, वक्ता)

स च श्रोता स्प्रष्टा द्रष्टा रसयिता घ्राता मन्ता वक्ता बोद्धा इत्येवमादिः। उक्तं हि—

पुरुषश्चेतनो भोक्ता क्षेत्रज्ञः पुद्गलो जनः।
अणुर्वेदोऽमृतः साक्षी जीवात्मा परिभूः परः।।

इति। तस्य सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नचैतन्यादिभिर्लिङ्गैरधिगमः क्रियत इत्यर्थः।।३।।

आह—किं लक्षणत्रयमेवास्य युक्तस्योच्यते? न यस्मादाह—

अजः।।४।।

अत्र अज इत्यर्थान्तरप्रादुर्भावप्रतिषेधोऽभिधीयते। अत्रार्थान्तरं नाम शब्दस्पर्शरूप-रसगन्धान्तरम् अध्ययनध्यानस्मरणादयः (च)। तेषु न जायत इति 'अजः'।।४।।

आह—किं लक्षणचतुष्कमेवास्य युक्तस्योच्यते? न। यस्मादाह—

मैत्रः।।५।।

रस लेने वाला, गन्ध लेने वाला, मानने वाला, बोलने वाला और जानने वाला है।'' कहा गया है— ''पुरुष, चेतन, भोक्ता, क्षेत्रज्ञ, शरीरवाला, छोटा, वेद, अमृत, साक्षी, जीवात्मा, परिभू, पर आदि आत्मा के नाम से जाने जाते हैं। उसका ज्ञान हम सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और चैतन्यादि स्वरूपों से करते हैं।।३।।

प्रश्न करते हैं— क्या इन्हीं तीन लक्षणों से युक्त साधक की पहचान करते हैं? उत्तर देते हैं— नहीं। और भी लक्षण हैं— जैसा कि—

सूत्रानुवाद— ईश्वर रूप विषय को छोड़कर दूसरे संसारी विषयों को नहीं ग्रहण करता अर्थात् दूसरे विषय उनमें उत्पन्न नहीं होते। अर्थान्तर से तात्पर्य है— साधक में संसारी विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध उत्पन्न नहीं होते। अतः अज कहलाता है।।४।।

प्रश्न है?— क्या युक्त साधक के ये ही चार स्वरूप हैं? उत्तर देते हैं— नहीं। और भी हैं— जैसे—

सूत्रानुवाद— साधक में समता होती है, जैसे सूर्य में समता होती है।

अत्र मैत्र इति समतायां भवति। यथा मैत्र आदित्यः। सर्वभूतस्थिते च महेश्वरे स्थितचित्त इच्छाद्वेषनिवृत्तोऽप्रवृत्तिमान् मैत्र इत्युच्यते। तस्मात् कार्यकारणवानेव चित्तस्थितिसमकालमेवासङ्गादिभावेन जायते।।५।।

आह— अथ कथं पुनरेतद् गम्यते। यथा कार्यकरणवानेव चित्तस्थितिसमकालमेवासङ्गादिभावेन जायते? उच्यते–गम्यते। यस्मादाह—

अभिजायते।।६।।

अत्र अभिशब्दो विशेषणे। को विशेष इति चेत्? तदुच्यते। यस्मादयं सङ्गी अयोगी अनित्यात्मा अनजोऽमैत्रश्च भूत्वा असङ्गादिभावेन जायत इत्येष विशेषः। 'जायते' इति। जनी प्रादुर्भावे। तस्मात् कार्यकरणवानेव चित्तस्थितिसमकालमेवासङ्गादिभावेन युगपज्जायते। अवश्यादिवद् (अ.१, सू.२८) इत्यर्थः।।६।।

भाष्यानुवाद— यहाँ मैत्र शब्द समता अर्थ में प्रयुक्त है। मित्र अर्थात् सूर्य, उसका भाव हो जिसमें वह मैत्र है अर्थात् आदित्य है। व्यापक महेश्वर में जिसके चित्तवृत्तियों का निरोध हो चुका है, माहेश्वर में अवस्थान हुआ है, ऐसे साधक को मैत्र कहते हैं। अतः भगवान् के समान साधक को असङ्गादि भाव के द्वारा चित्त की स्थिति हो जाती है।।५।।

कहते हैं— कैसे ये जाना जाय कि साधक कार्यकरण को करने वाले के समान तथा तीनों कालों में एक रस के समान असङ्गादि भाव से चित्त की स्थिति हो जाती है— उत्तर देते हैं— जाना जाता है, जैसे—

सूत्रानुवाद— जो साधक पहले सङ्गी, अयोगी, अनित्यात्मा आदि था वही साधक अब असङ्गादि भाव से तद्रूप हो जाता है।

भाष्यानुवाद— सूत्र में अभि शब्द विशेषण है। क्या विशेषता है? उत्तर देते हैं— जिन इन्द्रियों की वृत्ति से सङ्गी, अयोगी, अनित्यात्मा, अनज और मैत्र था वही साधक इन्द्रियों को वश में करके असङ्गादि भाव को प्राप्त हो जाता है। जायते-जनी प्रादुर्भावे धातु से बना है। अतः कार्यकरणवान् के समान अर्थात् माहेश्वर के समान हो जाता है। साधक की चित्त की स्थिति असङ्गादि भाव से एक साथ हो जाती है। जैसे पहले कहा गया है कि वह 'अवश्य' होता है।।६।।

असङ्गादिभावे कोऽसावभ्युपायो येन जायते? उच्यते—

इन्द्रियाणामभिजयात्।।७।।

अत्र जितता जयः। तस्माज्जयादसङ्गतादि भवति। अत्र परिग्रहतयेश्वराणि इन्द्रियाणि बुद्ध्यादीनि वागन्तानि त्रयोदशकरणानि। तेषामभिजयादित्यर्थः। आह—कथं बुद्धि (?द्ध्यादि) सिद्धिरिति चेत्? तदुच्यते—सिद्धत्वात्। अत्र मतिबुद्धिपिधानस्थापनोद्देशाद् घटपटवत् सिद्धत्वाच्च बुद्धिः सिद्धा। तथा परोपदेशात् स्वात्मपरात्मप्रतिविभागदर्शनात् सुरोऽहं नरोऽहमिति भिन्नवृत्तित्वाच्चाहङ्कारः सिद्धः। तथा मनः प्रवर्तते मनोजवी मनोऽमन इति संकल्पविकल्पवृत्तिनानात्वं च सिद्धम्। एवं त्रिकालवृत्त्यन्तःकरणं पुरुषस्य व्याख्यातम्। तथा बुद्धीन्द्रियाणां श्रोतं व्याख्यातम्। परपरिवादादि (अ.३, सू.७) वचनाद् उच्चैरुभयथा प्रमुखे द्विरधिष्ठाने सन्निविष्टं समन्ताच्छब्दव्यञ्जनसमर्थं सिद्धम्। तथाततपोपदेशात्

कहते हैं— असङ्गादि भाव में कौन सा साधन करता है जिसे चित्तस्थिति हो जाती है। उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— इन्द्रियजित होने से असङ्गादि भाव प्राप्त हो जाते हैं।

भाष्यानुवाद— यहाँ जितने से जय कहा गया है। चित्तवृत्ति के निरोध से असङ्गादिभाव होते हैं। विषयों में आकृष्ट होने से ही जीव के तेरह करण कहे गये हैं। अतः उसको वश में करने पर योग हो जाता है। कहते हैं— कैसे समझा जायेगा कि ये सभी करण अपने-अपने कार्य में सिद्ध हैं? उत्तर देते हैं— किसी भी पदार्थ को निश्चित रूप से जानने के लिए बुद्धि ही होती है, बुद्धि ही घट पट के रूप में सिद्ध करती है तथा यह नहीं है, यह है ऐसा सिद्ध करती है। दूसरे के उपदेश से भी बुद्धि सिद्ध है, यही स्वात्म और परात्म में भेद कर मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ ऐसी भिन्न वृत्ति से अहङ्कार की सिद्धि करती है। उसी प्रकार मन की भी सिद्धि है क्योंकि मन वेगवान् है, संकल्प, विकल्प नाना प्रकार के वृत्तियों को अपनाता है, अतः सिद्ध है। इस प्रकार तीनों कालों में अन्तःकरण की वृत्ति का व्याख्यान तथा पुरुष का व्याख्यान हुआ। बुद्धि-इन्द्रियादियों का प्रवाह भी बताया गया। अब ज्ञानेन्द्रियाँ भी सिद्ध हैं इसको कहते हैं— 'दूसरे के तिरस्कारादि वचनों को सुनकर' ऐसा कहने से शब्द भी सिद्ध हुआ। शरीर के उपरी भाग में दोनों तरफ कर्ण हैं

(अ.२, सू.१६) त्वग् अन्तर्बहिश्च शरीरं व्याप्य सन्निविष्टा स्पर्शव्यञ्जनसमर्था सिद्धा। तथा मूत्रपुरीषदर्शनप्रतिषेधात् (अ.१, सू.१२) कृतान्नादिवचनाच्च (अ.४, सू.७) चक्षुः उच्चैरुभयथा प्रमुखे द्विरधिष्ठाने सन्निविष्टं घटरूपादि-व्यज्जनसमर्थं सिद्धम्। तथा मांसलवणोपदेशाद् (अ.५, सू.१६) जिह्वा तन्मुखे मांसपेश्यां सन्निविष्टा रसज्ञानजननसमर्था सिद्धा। तथा प्राणायामोपदेशाद् (अ.१, सू.१६) घ्राणं प्रमुखे उच्चैरुभयथा द्विरधिष्ठाने सन्निविष्टं गन्धग्रहणसमर्थं सिद्धम्। एवमधिकारिवृत्तिभिर्बुध्यत्येभिः पुरुष इति बुद्धीन्द्रियाणि। तथा कर्मेन्द्रियाणि। मण्टनविहरणोपदेशात् (अ.१, सू.१४,४,६) पादेन्द्रियमधस्ताद् द्विरधिष्ठाने सन्निविष्टं गमनक्रियासमर्थं सिद्धम्। तथा मूत्रपुरीषदर्शनप्रतिषेधाद् (अ.१, सू.१२) पाय्विंद्रियं गुह्यप्रदेशे सन्निविष्टम् उत्सर्गक्रियासमर्थं सिद्धम्। तथा स्त्रीप्रतिषेधाद् (अ.१, सू.१३) उपस्थेन्द्रियं त्रिवलीगुह्यप्रदेशसन्निविष्टमानन्द-

---

जिसमें चारों तरफ से आये हुए शब्दों का ज्ञान करता है। अतः शब्द करण भी सिद्ध है। उसी प्रकार अतितप के उपदेश से अर्थात् उष्ण, शीत आदि का ज्ञान पूरे शरीर के चर्म से होता है। यह ज्ञान बाहरी और भीतरी दोनों तरह से स्पर्श ज्ञान सिद्ध होता है। उसी प्रकार रूप करण की भी सिद्धि हैं, जैसे — मूत्र पुरीष दर्शन के निषेध वचन से, कृतान्न का ग्रहण आदि वचनों रूप करण की सिद्धि है। यह भी शरीर के उपरी भाग में जिसको चक्षु कहते हैं। ये भी दो भागों में हैं तथा घट पट रूप को ज्ञान कराता है, अतः यह भी सिद्ध है। 'रस' करण भी सिद्ध है, क्योंकि मांस लवण का उपदेश है। मुख में रहनेवाली जिह्वा से रस का ज्ञान सिद्ध होता है। घ्राणेन्द्रिय भी ऊपर में है और इसके भी दो भाग है, दोनों गन्ध ग्रहण करती हैं। अतः गन्ध भी सिद्ध है। इस प्रकार अधिकारी वृत्तियों के द्वारा पुरुष का अर्थात् बुद्धि आदि इन्द्रियों से ज्ञान होता है। उसी प्रकार कर्मेन्द्रियाँ भी अपने-अपने कार्य से सिद्ध हैं। मण्टन, विहरण आदि उपदेशों से पादेन्द्रिय भी सिद्ध है। यह शरीर के नीचले भाग में दो पैर के रूप में है। इससे आने जाने की क्रिया सिद्ध है। उसी प्रकार 'पायु', इन्द्रिय भी ''मूत्र पुरीषदर्शन'' के निषेध से सिद्ध है। यह इन्द्रिय गुह्यप्रदेश में स्थित है, इससे मलत्याग होता है, यह भी सिद्ध है। 'उपस्थ' इन्द्रिय भी ''स्त्री प्रतिषेध वचन से सिद्ध है। यह त्रिवली गुह्य प्रदेश में है, इससे मूत्र का परित्याग तथा आनन्दक्रिया भी सम्पन्न होती है। अतः यह भी

क्रियासमर्थं सिद्धम्। तथा अपि तत्कर्मोपदेशात् (अ.३, सू.१६) हस्तेन्द्रिय-मुच्चैरुभयथा द्विरधिष्ठाने भुजान्तर्देशे सन्निविष्टमादानक्रियासमर्थं सिद्धम्। तथा अपितद्भाषणोपदेशाद् (अ.३, सू.१७) वागिन्द्रियं वाक्तालुजिह्वादिषु स्थानेषु सन्निविष्टं वचनक्रियासमर्थं सिद्धम्। अत्र विकारतद्वृत्तिभिः कर्मोत्पत्तिः पुरुषे इति कर्मेन्द्रियाणि। एवमेतानि त्रयोदशकरणानीन्द्रियाणि सूत्रतो व्याख्यातानि। कस्मात्? इन्द्रियाणामिति सामान्यग्रहणाद् विकरणवत् सामान्यप्रतिषेधाच्च। इन्द्रियाणाम् इति षष्ठीबहुवचनम्। उक्तं हि—

आदानाद् ग्रहणात् त्यागाद् रङ्गणाद् गमनात् तथा।
इङ्गनाद् रवणाच्चैव तस्मादिन्द्रियमुच्यते।।

अभिजयाद् इति। अभिशब्दः अत्यन्तविजये वशीकरणे च। आक्रम्य वशीकर्तव्यानि। वायुकामक्रोधपाटलिपुत्रवत्। तस्मादकुशलेभ्यो व्यावर्तयित्वा कामतः कुशले योजितानि (यदा), तदा जितानि भवन्ति। तस्माद् उक्तम्—इन्द्रियाणामभिजयादिति। असङ्गादिजयनिमित्तत्वात् पञ्चमी द्रष्टव्या।।७।।

सिद्ध है। उसी प्रकार दो भागों में रहनेवाली हस्तेन्द्रिय, लेने देने में सिद्ध है क्योंकि 'अपितत्कर्मोपदेश' कथन से सिद्ध है। उसी प्रकार अतितद्भाषणोपदेश से वागिन्द्रिय भी सिद्ध है। स्थान विशेष से अर्थात् कण्ठ, तालु, जिह्वादि स्थानों से वाणी निकलती है अत; यह भी सिद्ध है। पुरुष में विकारवृत्तियों से कर्मोत्पत्ति होती है ये सिद्ध है। इस प्रकार त्रयोदश करणेन्द्रियों की व्याख्या सूत्र से सम्पन्न हुई। कैसे?— इन्द्रियों के ग्रहण और प्रतिषेध से करण सिद्ध हुए। इन्द्रियाणां, षष्ठी बहुवचन है। अर्थात् सबका पुरुष में सम्बन्ध है। इन्द्रिय की परिभाषा देते हैं— "आदान से, ग्रहण से, त्याग से, आनन्द से, गमन से, स्पर्श से, घर्षण से, इन्द्रिय कही जाती है।

अभि विशेषण का तात्पर्य है— अत्यन्त विजय और वशीकरण में। हर प्रकार से उसके ऊपर हो जाना। जैसे आक्रमण वायु का, काम का, क्रोध का तथा राजा का होता है वैसे ही साधक को इन्द्रियों पर आक्रमण करना चाहिए। गर्हित पदार्थों में गयी हुई वृत्तियों को ईश्वर में नियोजित करना ही जित का तात्पर्य है। इसलिये कहा गया है— "इन्द्रियाणामभिजयात्"। असङ्गादि भाव की प्राप्ति ही जय है, यहाँ निमित्त में पञ्चमी है।।७।।

आह—अन्यत्र सांख्ययोगादीनाम् असङ्गादियुक्ता मुक्ताः शान्तिं प्राप्ताः। निरभिलप्या मुक्ता इत्युच्यन्ते। मुक्त एव न युक्त इति क्व सिद्धम्? तदुच्यते—इह। यस्मादाह—

रुद्रः प्रोवाच तावत्।।८।।

अत्र रुद्र इति कारणापदेशो। रुद्रत्वं पूर्वोक्तम्। प्र इत्यभिधानविशुद्धौ। प्रसन्नेन्द्रियवत्। वच व्यक्तायां वाचि। प्रोवाच इति। एवं यत् सांख्यं योगश्च वर्णयति। असङ्गादियुक्ता मुक्ताः शान्तिं प्राप्ता इति, तदविशुद्धं तेषां दर्शनम्। तैमिरिकस्य चक्षुषश्चन्द्रदर्शनवत्। अयं तु युक्त एव न मुक्त इति विशुद्धमेतद्दर्शनं द्रष्टव्यम्। कस्मात्? सर्वज्ञवचनादविसंवादित्वाच्चैतद् गम्यम्। एवमेतन्नान्यथेत्यर्थः। किञ्चान्यदिदम् अथशब्दादि शिवान्तं प्रवचनं रुद्रप्रोक्तं तावत् सर्वतन्त्राणां श्रेष्ठम्। तस्मात् कारणशास्त्रयोः परप्रमाणभावोऽवधार्यत इत्यर्थः। अत्र श्लोको निर्वचनः।।८।।

कहते हैं— दूसरे दर्शन में अर्थात् साँख्य योगादि में जो असङ्गादि से युक्त हो जाते हैं वे मुक्त तथा शान्ति को प्राप्त कर जाते हैं। जिसके जीवन में कुछ भी अप्राप्य नहीं रह जाता अर्थात् सब कुछ प्राप्त हुआ मुक्त कहलाते हैं। वे मुक्त हैं युक्त नहीं हैं ये कहाँ सिद्ध है? उत्तर देते हैं— इस दर्शन में। जैसा कि कहा गया है—

सूत्रानुवाद— इस शास्त्र में रुद्र ने विशिष्ट रूप से कहा है।

भाष्यानुवाद— रुद्र अर्थात् कारण। रुद्र में रुद्रत्व पहले कहा गया है। प्र से विशुद्ध अर्थ है। प्रसन्न इन्द्रिय के समान अर्थात् दिव्यता को प्राप्त। वच् धातु कहने अर्थ में प्रयुक्त है। सांख्य और योग जिस असङ्गादि का वर्णन करता है वह विशुद्ध दर्शन नहीं है। अङ्गुली उपष्टम्भक चक्षु से चन्द्र दर्शन के समान है। यह साधक युक्त है न कि मुक्त है, अतः विशुद्ध दर्शन है। कैसे? रुद्र के कथन से सफल प्रवृत्ति है ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार यह अन्यथा नहीं और भी इस दर्शन में अथ से लेकर शिवम् सूत्र तक रुद्र का ही कथन है। अतः सभी शास्त्रों में यह शास्त्र श्रेष्ठ है। अतः कारण और शास्त्र में श्रेष्ठता का प्रमाण समझना चाहिए। इस शास्त्र में भगवान् का ही कथन है।।८।।

आह—किमेतानीन्द्रियाणि परिज्ञानमात्रादेव जितानि भवन्ति प्रधानवत्? तदुच्यते—न। ज्ञानेन वचनादिभिरेषां जयः कर्तव्यः, यस्मादेषां जये भगवता वसत्यर्थवृत्तिबलक्रियालाभाय वसता (?) इत्यतस्तज्जये वसत्यर्थ एव तावदुच्यते। यस्मादाह—

शून्यागारगुहावासी।।९।।

इति। अत्र शून्यमेवागारं शून्यागारम्। शून्यं विविक्तं निर्जनगमित्यर्थः। अगारम् इति गृहपर्यायः। अगारं गृहं वेश्म सदनमिति पर्यायः। गुहू संवरणे। प्रविष्टं साधकं आवरयति गोपयतीति गुहा। आह—आवरकत्वाविशेषाच्छून्यागार-गुहयोरविशेष इति चेत्, तदुच्यते—मृत्तृणकाष्ठादिकृतम् आगारम्, पर्वतगुहाद्या गुहा। तस्मान्नाविशेष इति। यथा सति विभुत्वे ज्ञत्वं साधर्म्यं पुरुषेश्वरयोः, सर्वज्ञत्वतो विशेषः। तस्मादायतनेऽविविक्तदोषं दृष्ट्वा शून्यागारे गुहायां वा यथोपपत्तितो विचार्य विविक्तं विवेच्य यन्मात्रस्थानासनशयनादिभिरुपजीवति, तन्मात्रं संस्करणमर्यादयोपयोगक्रियाभिनिविष्टेन वस्तव्यम्। वसतिसंयोगाद् गुहावासी भवति। पुलिनवासिवत्।।९।।

कहते हैं— भलिभाँति इन्द्रियों का ज्ञान हो जाना ही इन्द्रिय जित होता है? प्रधान अर्थात् प्रकृति के समान। उत्तर देते हैं— नहीं। जैसा—

सूत्रानुवाद— साधक को एकान्त स्थल या पर्वत गुहावासी होना चाहिए।

भाष्यानुवाद— शून्य अर्थात् जन रहित घर शून्यागार है। आगार का तात्पर्य घर से है। घर के पर्यायवाची शब्द-जैसे आगार, गृह, वेश्म, सदन है। गुहू संवरण अर्थ में है। प्रविष्ट साधक को जो छिपाता है वह गुहा शब्द से जाना जाता है। कहते हैं— आगार और गुहा में क्या अन्तर है? उत्तर देते हैं— मिट्टी, घास और काष्ठादि से बने घर को आगार कहते हैं। प्रकृति दत्त पर्वत के गुफाओं को गुहा कहते हैं। अतः दोनों समान हैं। दोनों निर्जन होने से एक समान है। जिस प्रकार पुरुष और ईश्वर, विभुत्व और ज्ञत्व का साधर्म्य है किन्तु पुरुष से ईश्वर में सर्वज्ञता विशेष है। इसी से साधक अपने आयतन से दूर हटकर शून्यागार और गुहा में जाकर अपनी साधना का विचार करके एक मात्र स्थान, आसन और शयनादि कार्द को करता है। एक मात्र संस्कार और मर्यादा को क्रियान्वित करने के लिये वास करता है। रहने के संयोग को ही गुहावासी कहते हैं। तटवासी होने के समान।।९।।

आह—तत् कथं ज्ञेयम्, तथा किं तानीन्द्रियाणि? तेषां जितानां वा किं लक्षणम्? तदुच्यते—

देवनित्यः।।१०।।

अत्र देवो भगवान्। तत्र यदास्य भगवति देवे नित्यता। कथम्? अध्ययनध्यानाभ्यां देवेऽधिकृतस्य प्राधान्येन निश्चलता वर्तते। स्वल्पतर-व्यवधानेप्यतियोगाभ्यास-निरन्तरप्राप्तिः। स्मृतिस्तु देवनित्यतेत्यर्थः।।१०।।

आह—देवनित्यतायाः किं लक्षणम्?। तदुच्यते—जितेन्द्रियत्वम्। यस्मादाह—

जितेन्द्रियः।।११।।

अत्र जितेन्द्रियत्वं नाम उत्सर्गनिग्रहयोग्यत्वम्। इन्द्रियाणि बुद्ध्यादीनि वागन्तानि त्रयोदश करणानि पूर्वोक्तानि। तानि यदा अकुशलेभ्यो व्यावर्तयित्वा कामतःकुशले योजितानि हतविषदर्वीकरवदवस्थितानि भवन्ति, तदा देवनित्यो जितेन्द्रिय इत्यर्थः।।११।।

कहते हैं— कैसे जानने योग्य है कि साधक जितेन्द्रिय है? इन्द्रियजित् का क्या स्वरूप है? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— जिस प्रकार भगवान् में नित्यता सदा रहती है उसी प्रकार साधक में भी नित्यता अर्थात् जितेन्द्रियता आ जाती है। कैसे? अध्ययन और ध्यान से निश्चलता आती है। थोड़ा सा व्यवधान होने पर भी अतियोगाभ्यास की निरन्तर प्राप्ति रहती है। सदा स्मृति रहना ही देवनित्यता है।।१०।।

कहते हैं— देवनित्यता का क्या स्वरूप है? उत्तर देते हैं— जितेन्द्रिय का होना। जैसा कि—

सूत्रानुवाद— सूत्र का अर्थ स्पष्ट है।

भाष्यानुवाद— यहाँ जितेन्द्रियता से तात्पर्य है, जन्म और लय की योग्यता। इन्द्रिय से तात्पर्य है, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और बुद्धि, मन अहंकार इस तेहर करणों को इन्द्रिय पद वाच्य है। जो पहले कहा जा चुका है। उन इन्द्रियों को कुमार्ग से हटाकर इच्छा पूर्वक सुमार्ग में लगाना ही जितेन्द्रियत्व है। जिस प्रकार हाथ की दर्वी विष से प्रभावित नहीं होती, तब देवनित्यता अर्थात् जितेन्द्रियता की प्राप्ति होती है।।११।।

आह—किं देवनित्यतैवास्य परो निष्ठायोग:?। उच्यते—न। यस्मादाह—

षण्मासान्नित्ययुक्तस्य।।१२।।

अथवान्यो दूरस्थ: सम्बन्ध:। यस्मादुक्तम्—

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थमपि तेन हि।
अर्थतोऽन्यसमानानामानन्तर्येऽप्यसङ्गति:।।

एवमिहापि दूरस्थ: सम्बन्ध:। कस्मात्?। इह पुरस्तादुक्तं विज्ञानानि चास्य प्रवर्तन्ते (अ.१, सू.२१) इति, एतैर्गुणैर्युक्त (अ.१, सू.३८) इति च। (एतत्?) कियता कालेनास्य ते गुणा: प्रवर्तन्ते? किं युक्तस्य, किं वियुक्तस्य?, किं युगपत्, क्रमशो वा? किं सकलस्य निष्कलस्य चेति? इत्येषामर्थानामनिर्वचनानां निर्वचनार्थमिदमारभ्यते। यस्मादाह—षष्मासान्नित्ययुक्तस्य। अत्र षट् इति संख्या।

कहते हैं— क्या देवनित्यता ही श्रेष्ठ निष्ठायोग है? उत्तर देते हैं— नहीं। जैसा कि—

सूत्रानुवाद— छ: महीने तक नित्य युक्त होकर साधन करना भी निष्ठा योग है।

भाष्यानुवाद— कहते हैं, इसमें अर्थात् जितेन्द्रियत्व में पहले से किये गये साधनों का भी संबन्ध है। क्योंकि कहा गया है— "जिसका जिसके साथ अर्थ का सम्बन्ध है उसमें दूरस्थ सम्बन्ध भी रहता है। दूसरे के समान अनन्तता होने पर भी अर्थ में असङ्गति पायी जाती है। अत: दूरस्थ सम्बन्ध अर्थोपपत्ति में कारण है। इसी प्रकार यहाँ भी दूरस्थ सम्बन्ध है। कैसे? पहले कहा जा चुका है कि माहेश्वर में योग होने पर दूरदर्शन, श्रवण, मनन इत्यादि विज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। वह साधक अजर, अमर और अव्याहत गति आदि की प्राप्ति कर लेता है। अत: दूरस्थ सम्बन्ध है। ये सभी गुण साधक को कितने दिनों में प्राप्त होते हैं? युक्त क्या है? वियुक्त क्या है? क्या एक ही साथ सभी गुणों की प्राप्ति होती है? या क्रम से। सकल का क्या स्वरूप है? निष्कल का क्या स्वरूप है? ये सभी अर्थों का निर्वचन न होने कारण उसी का निर्वचन के लिये यहाँ आरम्भ करते हैं। अत: षण्मासान्नित्ययुक्तस्य कहा। षट् शब्द संख्या बोधक है। मासान् से समय का बोध होता है। मनुष्य

मासान् इति कालनिर्देशः। मनुष्यगणनया त्रिंशद्दिवसो मासः। द्वादश मासाः संवत्सरः। द्वादश पक्षा अर्धसंवत्सरः। षण्मासानिति। तस्मात् षष्ठप्रथममासयोरभ्यन्तरे। नित्ययुक्तस्य। (नित्यं) सन्ततमविच्छिन्नमित्यर्थः। युक्त इति। आत्मेश्वरसंयोगो योगः। नित्ययुक्तस्य इति षष्ठी॥१२॥

आह—अस्य युक्तस्य किं भवति? तदुच्यते—

भूयिष्ठं सम्प्रवर्तते।।१३।।

अत्र भूयिष्ठम् इति क्रमे प्राये च भवति। यथा क्रमशो ददाति, आदित्यो वा गतो भूयिष्ठम्। तस्मात् सूच्यग्रेणोत्पलपत्रशतभेदनक्रमवत् क्रमाद् दूरदर्शनादयः प्रवर्तन्त इत्यर्थः। सम् इत्येकीभावे। निष्कलस्य कार्यकरणरहितस्येत्यर्थः। प्र इत्यादिकर्मण्यारम्भे भवति। युक्तोत्तरे प्रभावाद् गुणाः प्रवर्तन्ते इत्यर्थः। वर्तते कस्मिन्? दर्शनं दृश्ये श्रवणादि श्रव्यादिष्वित्यर्थः। तस्मात् षष्ठप्रथममासयोरभ्यन्तरे

की गणना से तीस दिनों का एक मास होता है। बारह मास का एक संवत्सर अर्थात् वर्ष होता है। बारह पक्षों को अर्ध संवत्सर अर्थात् छः मास कहते हैं। अतः एक से छः मास के अन्तर्गत है। नित्य युक्त का तात्पर्य है निरन्तर तैल धारा के समान युक्त रहना। जीव का ईश्वर के साथ सम्बन्ध ही योग है। नित्ययुक्तस्य में सम्बन्ध षष्ठी है॥१२॥

कहते हैं? — युक्त साधक क्या प्राप्त करता है? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— साधक महिमावान् हो जाता है।

भाष्यानुवाद— भूयिष्ठ शब्द से तात्पर्य है कि साधक क्रम से तप, योग आदि करता है। जिस प्रकार सूर्य भगवान् क्रम से अपने तेज को प्रकट करते हैं। इसलिये सूई के अग्रभाग से जैसे शत कमल पत्रों का भेदन होता है उसी प्रकार साधक को भी क्रम से दूरदर्शन श्रवण और प्रतिभा आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। सम् उपसर्ग से तात्पर्य है कि रुद्र की एकता को प्राप्त हो जाता है। निष्कल से तात्पर्य है कि साधक कार्यकरण से रहित हो जाता है। प्र से तात्पर्य है कर्म में तत्पर होना। युक्त होने के पश्चात् भगवान् के प्रसाद से सभी गुण अपना कार्य करने लग जाते हैं। किसमें गुण अपना कार्य करते हैं? उत्तर देते हैं— दर्शन, दृश्य, श्रवण और श्रव्यादियों में अपना कार्य करते हैं। अतः प्रथम मास से छठवें मास तक नित्ययुक्त होने पर क्रम से गुण

नित्ययुक्तस्य क्रमशो गुणाः संप्रवर्तन्ते। कुतः? महेश्वरप्रसादात्। अशिवत्वसंज्ञके विनिवृत्ते शिवत्वप्रसादाभ्यां गुणाः प्रवर्तन्ते। गुणशब्दो दूरदर्शनादिवचनः॥१३॥

आह—कां वृत्तिमास्थाय शून्यागारे गुहायां वासः कार्यः? तदुच्यते—

भैक्ष्यम्॥१४॥

भिक्षाणां समूहो भैक्ष्यम्, कापोतवत्। तच्च नगरग्रामादिभ्यो गृहाद् गृहं पर्यटतो भक्ष्यभोज्यादीनामन्यतमं यत् प्राप्यते। कृतान्नादि (अ.४, सू.७) वचनाद् भैक्ष्यम्। भयक्षपणाद् भैक्ष्यम्। भिक्षावचनादभैक्ष्यप्रतिषेधः॥१४॥

आह—आधारात्तु कृत्वा संदेहः, अथ कुत्र तद् भैक्ष्यं ग्राह्यम्? तदुच्यते—पात्रे। यस्मादाह—

पात्रागतम्॥१५॥

प्रकट होते हैं। कहाँ से? महेश्वर की कृपा से। अमङ्गल के सिद्ध होने पर मङ्गल रूप भगवान् और उनकी कृपा से गुण प्रकट हो जाते हैं। गुण शब्द दूरदर्शन, श्रवण आदि का बोध कराता है॥१३॥

कहते हैं— किस वृत्ति को अपनाकर शून्यागार या गुहा में वास करना चाहिए? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— भिक्षावृत्ति अपनाकर गुहा में वास करना चाहिए।

भाष्यानुवाद— भिक्षा के समूह को भैक्ष्य कहते हैं। वह पाँच प्रकार का होता है, पहले अध्याय में बताया गया है। जैसे कपोतानां समूहः कापोतम् अर्थात् कबूतरों के समूह को कापोतम् कहते हैं। वह नगर और ग्रामों में जाकर एक-एक घर से भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय आदि जो ग्राह्य हो वही प्राप्त कर वास करना चाहिए। दूसरे के द्वारा उपार्जित अन्न को ग्रहण नहीं करना चाहिए, इस कथन से भैक्ष्य है। भय को दूर करे वह भी भैक्ष्य है। भिक्षा के वचन से अभक्ष्य का प्रतिषेध है॥१४॥

कहते हैं— भिक्षा पात्र को लेकर शङ्का होती है कि भैक्ष्य किस पात्र में ग्रहण करना चाहिए?

सूत्रानुवाद— पात्र में अनायास आयी हुई भिक्षा को ग्रहण करे।

अत्र भैक्ष्यवत् प्रसिद्धं पात्रम्। अलाबुदारुवस्त्रादीनामन्यतमं यत् प्राप्यते, तत् खलु हिंसास्तेयादिरहितेन क्रमेणाहारेयत्पर्याप्तं ग्राह्यम्। तस्मिन् तदफलके पात्रे आगतं पात्रागतमित्यर्थः॥१५॥

आह—ब्रह्मचारिकल्पे मधुमांसलवणवर्जमिति। तत् किं मधुमांसादीन्येकान्तेनैव दुष्टानीति? तदुच्यते—न। यस्मादाह—

मांसमदुष्यं लवणेन वा॥१६॥

तत्र भैक्ष्यवत् प्रसिद्धं मांसम्। यस्य माहिषवाराहादीनामन्यतमं यत् प्राप्यते तत् खलु, हिंसास्तेयरहितत्वात्। लवणनेन वा। अत्र लवणं नाम सैन्धवसौवर्चलाद्यं मांसवत् प्रसिद्धम् तदेतन्मांससमसंसृष्टं वा भैक्ष्यविधिना प्राप्तम्। अदुष्यम् अकुत्सितम् अगर्हितमित्यर्थः। वा विकल्पे। मांसेन वा लवणेन वा उभाभ्यामपि साक्षाद्वा अदुष्यमित्यर्थः॥१६॥

भाष्यानुवाद— भैक्ष्य के समान पात्र भी प्रसिद्ध है। अलाबु, पात्र, दारु यानी लकड़ी के बने पात्र या वस्त्रादियों जो प्राप्त हो उस पात्र में भिक्षा लेनी चाहिए॥१५॥

कहते हैं— ब्रह्मचारी अवस्था में मधु, मांस, लवण आदि का प्रयोग निषिद्ध माना गया है, तो क्या मधु, मांस आदि स्थायी रूप से गर्हित हैं? उत्तर देते हैं— नहीं। जैसा कि कहा गया है—

सूत्रानुवाद— इस पाशुपत सिद्धान्त के अनुसार मांस या लवण दुषित नहीं है।

भाष्यानुवाद— वहाँ भिक्षा के समान ही मांस भी प्रसिद्ध है। महिष, वाराह आदि मांसों में जो उत्तम मांस प्राप्त हो जाय, किन्तु चोरी और हिंसा से रहित हो, ऐसा मांस ग्राह्य है। यहाँ लवण से तात्पर्य है जो सिन्धु नदी से प्राप्त हो, सुन्दर हो वह मांस के समान प्रसिद्ध है। मांस के समान मिला हुआ भैक्ष्य विधि से प्राप्त भिक्षा दुषित या निन्दित नहीं कहा गया है। वा का अर्थ विकल्प है। मांस हो या लवण हो या दोनों हो वह निन्दित नहीं हैं॥१६॥

आह—भैक्ष्यालाभकालेऽपर्याप्तिकाले वा किमनेन कर्तव्यम्? तदुच्यते—अप: पीत्वा स्थेयम्। यस्मादाह—

आपो वापि यथाकालमश्नीयादनुपूर्वशः।।१७।।

अत्र आङ् आप: आप:। आङ् इति। संवृतपरिपूतादिमर्यादामधिकुरुते, कृतान्नोत्सृष्टवद् अपदान्तरितत्वात्। द्वितीयास्थाने प्रथमा द्रष्टव्या। आपोऽत्र लोकादि-प्रसिद्धा:। तृणादिव्यावृत्तमुदकमित्यर्थ:। वा विभागे। अन्यद् भैक्ष्यम् अन्या आप इति। अपिशब्द: सम्भावने। अप्यप: पीत्वा स्थेयम्, न तु शास्त्रव्यपेतेन क्रमेण वृत्त्यर्जनं कर्तव्यमित्यर्थ:। यथा इतिशब्द: समानार्थे। यथा भैक्ष्योपदेशं कृत्वा योगकर्मण्युद्यम: कर्तव्य इति व्याख्यातम्, तथा अप: पीत्वेति। कालोऽत्र द्विविध:। अलाभकाल:, अपर्याप्तिकालश्च। तत्र यदा ग्रामं नगरं वा कृत्स्नमटित्वा न किञ्चिदासादायति, स: अलाभकाल:। अपर्याप्तिकालो नाम यदा भिक्षां भिक्षाद्वयं वा आसादयति, तदा अप: पीत्वापि स्थेयम्।

कहते है।— भिक्षा की प्राप्ति न होने पर या पर्याप्त न होने पर साधक को क्या करना चाहिए? उत्तर देते हैं– जल पीकर रहना चाहिए। क्योंकि कहा गया है—

सूत्रानुवाद— भिक्षा के न मिलने पर अथवा पूर्ण न मिलने पर अपनी मर्यादा में रहकर केवल जल पीकर रहे।

भाष्यानुवाद— यहाँ आप में जो आङ् उपसर्ग है वह मर्यादा अर्थ में है। श्रेष्ठ और मर्यादादि का द्योतक है। श्रेष्ठ और बनाया हुआ अन्न जो पहले कहा जा चुका है उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। द्वितीया के स्थान पर प्रथमा समझें। यहाँ जल से जो लोक में प्रसिद्ध है वही ग्रहण करें। खर, पात से रहित जल से तात्पर्य है। वा विभाग अर्थ में है। भैक्ष्य या जल इस तरह विभाग समझना चाहिए। अपि शब्द सम्भावना अर्थ में प्रयुक्त है। जल पीकर भी साधक रहे, किन्तु शास्त्र विरुद्ध वृत्ति का संग्रह न करे। सूत्र में यथा शब्द समान अर्थ के लिये है। जिस प्रकार भैक्ष्य ग्रहण में विधि है और योग कर्म का उपदेश है वैसे ही जल पीकर योग कर्म करे। काल के दो भेद हैं। एक अलाभ काल दूसरा अपर्याप्त काल। यहाँ जब ग्राम या नगर में सभी जगह घूमने पर भी नहीं कुछ मिलता है, तो वह अलाभ काल है। दूसरा काल का तात्पर्य है कि थोड़ी भिक्षा प्राप्त है तो जल पीकर ही रहना चाहिए। कहते

आह—एवं स्थितेन किमनेन कर्तव्यम्?। तदुच्यते—उपयोक्तव्यम्। यस्मादाह—अश्नीयादनुपूर्वशः इति। अश्नीयादिति योगक्रियानुपरोधेनाहारलाघवमर्यादामधिकुरुते। अश भोजने। अश्नीयादनुपूर्वशः। अनुपृष्ठकर्मक्रियायाम्। अनुपूर्वशः इति अतिक्रान्तापेक्षणे प्रकारवचने च। यथापूर्वं ग्रामादि प्रविश्य भैक्ष्यार्जनं कृत्वालाभकाले अपर्याप्तिकाले वा तदनु पश्चादपः पीत्वा स्थेयमिति कृत्वा भगवता एतदुक्तम्–अश्नीयादनुपूर्वश इति। अत्र श्लोको निर्वचनः।।१७।।

आह—शून्यागारगुहावस्थस्येन्द्रियजयेन वर्ततोऽस्य बलं किं चिन्त्यते? किम-कलुषत्वमेव? तदुच्यते—न। यस्मादाह—

गोधर्मा मृगधर्मा वा।।१८।।

अत्र गोर्लोकादिप्रसिद्धो मृगवत् खुरककुदविषाणसास्नादिमानिति। तथा मृगोऽपि गोद्रव्यवल्लोकादिप्रसिद्धः कृष्णमृगादीनामन्यतमः। तयोस्तु सति धर्मबहुत्वे

हैं— ऐसा होने पर साधक को क्या करना चाहिए? उत्तर देते हैं— अपना योग कर्म करना चाहिए। क्योंकि कहा गया है— पहले की भाँति भोजन करे, जिससे योग क्रिया में आहार की न्यूनता से त्रुटि न होवे। अश् धातु भोजन अर्थ में है। अनु शब्द कर्म से सम्बन्धित है। अनुपूर्वशः का तात्पर्य है— मर्यादा में रहकर योग करे। जैसे पहले ग्रामदियों में प्रवेश करके भिक्षार्जन में जिस प्रकार अप्राप्ति या अपर्याप्त रहता था, उसके बाद जल पीकर अपना योग कर्म करने का उपदेश था उसी प्रकार भगवान् ने अश्नीयादनुपूर्वशः कहा है। यहाँ श्लोक की व्याख्या समाप्त हुई।।१७।।

कहते हैं— शून्यागार, गुहावासी और इन्द्रिय जय के होते हुए साधक को कौन सा बल प्राप्त होता है? क्या पवित्रता ही प्राप्त होती है? उत्तर देते हैं— नहीं। जैसा कि कहा गया है—

सूत्रानुवाद— जिस प्रकार लोक में गौ अपने धर्म से प्रसिद्ध है या मृग अपने धर्म से प्रसिद्ध है उसी प्रकार साधक भी अपने धर्म से प्रसिद्ध हो जाता है।

भाष्यानुवाद— गौ अपने लक्षणों से जिस प्रकार प्रसिद्ध है अर्थात् खुर, डील, सिंघ और ललरी जिसका स्वरूप है अथवा मृग अपने स्वरूप से

समानो धर्मी गृह्यते, आध्यात्मिकादिद्वन्द्वसहिष्णुत्वम्। तदुत्तरत्र वक्ष्यामः। गोमृगधर्मग्रहणं तु परस्परविशेषणार्थम्। वाशब्दो विकल्पार्थः। क्रियासामान्यदृष्ट्या रौद्रीबहुरूपीवदेकधर्मेण चानेकधर्मेण वा स्थेयमित्यर्थः॥१८॥

आह—केन बलेनास्य कार्यनिष्पत्तिः?। तदुच्यते—

अद्भिरेव शुचिर्भवेत्॥१९॥

अत्र अद्भिः आङ् इव अद्भिरेव। आपो जलमित्यादिप्रसिद्धाः पूर्वोक्ताः। अद्भिरिति तृतीया। आङ् इति पूर्वप्रसिद्धमात्रादिमर्यादामधिकुरुते। गोमृगवद् द्वन्द्व-सहिष्णुत्वमर्यादायां च। इव इति उपमायाम्। यथा अद्भिश्च मृद्भिश्च प्रक्षालितानि वस्त्रादीनि शुद्धानि भवन्ति, तद्वत्॥१९॥

प्रसिद्ध है, उसमें भी कृष्णमृग जिस प्रकार श्रेष्ठ है वैसे ही साधक अपने स्वरूप से प्रसिद्ध हो जाता है। दोनों के धर्म में विभिन्नता और अनेकता होने पर भी पशुधर्मी से जाना जाता है। अर्थात् दोनों में सुखदुःख की सहिष्णुता समान है, अतः एकधर्मी वा अनेकधर्मी कहे जाते हैं। इसके सम्बन्ध में आगे कहेंगे। गो मृग का धर्म परस्पर विशेषण रूप में है। वा शब्द विकल्पार्थक है। सामान्य क्रिया की दृष्टि से रौद्री बहुरूपी के समान एक धर्मी या अनेक धर्मी होकर साधक को रहना चाहिए॥१८॥

कहते हैं— किस बल के द्वारा साधक की कार्यसिद्धि होती है? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— जिस प्रकार जल और मृतिका से वस्त्र शुद्ध होता है वैसे ही जल पीकर रहने वाला साधक पवित्र हो जाता है।

भाष्यानुवाद— यहाँ भी आङ् उपसर्ग मर्यादा के समान जल भी मर्यादा अर्थ में है। आप अर्थात् जल रूढ़ अर्थ में है। अद्भिः में तृतीया बहुवचन है। पूर्व प्रसिद्ध मात्रादि मर्यादा अर्थ में है। गो मृग के समान द्वन्द्वों के सहने में मर्यादा है। साधक के लिये गो मृग उपमा है। जिस प्रकार जल और मृत्तिका से धोया हुआ वस्त्र शुद्ध माना जाता है उसी प्रकार जल पान से साधक शुद्ध हो जाता है॥१९॥

गोमृगधर्मित्वेन बलेन शुचिर्भवतीति? उच्यते—न। यस्मादाह—गोमृगयोरकुशलधर्मप्रतिषेधं कुशलधर्मे च नियोगं सिद्धशक्तिप्रशंसयाऽसिद्धयशक्तिप्रतिषेधं च वक्ष्यामः। तदाह—

सिद्धयोगी न लिप्यते कर्मणा पातकेन वा।।२०।।

असिद्धस्तु सर्वथापि वर्तमानो लिप्यत इत्यर्थः। अतो योगी सिद्ध इत्येवं प्राप्ते सुखमुखोच्चारणार्थमुक्तं सिद्धयोगी इति। अत्र योगो नामात्मेश्वरयोर्योगः। तेनायं योगी। सिद्धो नाम दर्शनाद्यैश्वर्यं प्राप्तः। स खलु वशीकरणावेशनपालनादिप्रवीणः। न लिप्यते न संयुज्यत इत्यर्थः। आह—केन न लिप्यते? तदुच्यते—कर्मणा। अत्र कर्मणेत्युच्यते। कस्मात्? कृतकत्वात्। कर्मणेति तृतीया। इष्टस्थानशरीरेन्द्रियविषयसम्बन्धकृतेन कर्मणा न लिप्यते, न संयुज्यत इत्यर्थः। आह—अनिन्दितेन शुभेन कर्मणा न संयुज्यत इत्युच्यते, आहो अथ किमशुभेन कर्मणा लिप्यते नेति? तदुच्यते—न। यस्मादाह—पातकेन। अत्र पापाख्येन पातकेन वानिष्टस्थान-शरीरेन्द्रियविषयगतोऽशुभं भुङ्क्ते, तेनाप्यशुभेन कर्मणा

कहते हैं— गो मृग रूपी धर्मी वाले धर्म बल से क्या साधक पवित्र हो जाता है? उत्तर देते हैं— नहीं। गो मृग के अकुशल धर्म का प्रतिषेध तथा कुशल धर्म के ग्रहण में तात्पर्य है। सिद्ध शक्ति के प्रशंसा से असिद्धशक्ति का प्रतिषेध हो जाता है, इसको आगे बतायेंगे।

सूत्रानुवाद— सिद्ध योगी न कर्मफल में लिप्त होता है न अनिष्ट कर्मफल में।

भाष्यानुवाद— जो साधक सिद्ध नहीं है वह तो यज्ञादि कर्मफल में लिप्त हो जाता है। इसलिये सूत्र में सिद्ध योगी कहा गया है, जो आत्यन्तिक सुख प्राप्त करता है वही सिद्धयोगी है। योग का तात्पर्य है आत्मा और ईश्वर का योग होना अर्थात् सभी चित्तवृत्तियों का उसमें निरोध होना योग है। इसलिये योगी है। सिद्ध से तात्पर्य है— सभी सिद्धयों की प्राप्ति जिसको हो जाती है वही सिद्धयोगी है। वह सिद्धयोगी, वशीकरण विद्या, परकाय प्रवेश, पालन आदि सिद्धियों में दक्ष होते हुए भी लोक मर्यादा में लिप्त नहीं होता। कहते हैं— किससे लिप्त नहीं होता है? उत्तर देते हैं— कर्मणा अर्थात् कर्मफल में लिप्त नहीं होता। क्योंकि कृतकत्व है अर्थात् कृत वस्तु नाशवान होती है। कर्मणा में तृतीया है। स्वर्गादि सुख, शरीरेन्द्रिय का विषय होने से कृत सम्बन्ध

न लिप्यते न युज्यत इत्यर्थः। वा विकल्पे। पातकेन वा अपातकेन वा समस्ताभ्यां वा वशीकरणावेशनपालनादिषु प्रवर्तमानो न लिप्यते न संयुज्यत इत्यर्थः कस्मात्? सिद्धसामर्थ्यात्। असिद्धश्चायं योगी ब्राह्मणो गोमृगधर्मावस्थो यदि सर्वथापि गोमृगवत् प्रवर्तते, ततो लिप्यते। तस्माद् गोमृगयोरकुशलधर्मो न ग्राह्यः। कुशलधर्मश्च स्वाध्यात्मिकादिद्वन्द्वसहिष्णुत्वं परिगृह्यते। तेनायं शुचिर्भवति। आह—किमस्याशौचम्? तदुच्यते—द्वन्द्वैर्योगव्यासङ्गकरैः कामक्रोधशिरोरोगादि-निमित्तैः शीतादिभिरन्यैर्वा। न लिप्यते न संयुज्यत इत्यर्थः। कस्मात्? प्राप्तबलत्वादित्यर्थः। अत्र श्लोको निर्वचनः॥२०॥

आह—शून्यागारगुहावस्थस्येन्द्रियजये वर्ततः काः क्रियाः कर्तव्याः? किं स्नानहसिताद्याः? क्राथनस्पन्दनमण्टनाद्या वा? तदुच्यते—न। यस्मादाह—

है, अतः फल सम्बन्ध भी अनित्य होने से योगी लिप्त नहीं होता। कहते हैं— क्या सिद्ध योगी शुभ कर्मफल में लिप्त नहीं होता या अशुभ कर्मफल में लिप्त नहीं होता। उत्तर देते हैं— दोनों में लिप्त नहीं होता। क्योंकि सूत्र में कहा गया है, 'पातकेन वा' अर्थात् पापकर्मफल से दुःख की प्राप्ति तथा शरीरेन्द्रिय विषयों से अशुभ फल की प्राप्ति होती है किन्तु सिद्धयोगी इष्टानिष्टरूप फल में लिप्त नहीं होता। वा का अर्थ विकल्प है। शुभ या अशुभ तथा सभी सिद्धियों के फल में आसक्त नहीं होता। कैसे? सिद्धि के सामर्थ्य से। असिद्ध योगी यदि गो, मृग के समान धर्मावलम्बी है तब तो वह कर्म में आसक्त हो जायेगा, इसलिये कहा गया है कि गो, मृग के अकुशल धर्म को न अपनावे। कुशल धर्म को ही योगी ग्रहण करे। कुशल धर्म से तात्पर्य है कि जिस प्रकार गो, मृग में दुःख सुख द्वन्द्वों में सहिष्णुता रहती है उसी प्रकार योगी अपने तापत्रय को सहन करे। ऐसा होने से गो, मृग के समान पवित्र हो जाता है। प्रश्न है— अपवित्रता क्या है? उत्तर देते हैं— द्वन्द्वों से युक्त होना, काम, क्रोध, व्याधि, शीत, तापादि से युक्त होना अपवित्रता है। अतः इन सबों से जो प्रभावित नहीं होता वह सिद्ध योगी है। कैसे? उत्तर देते हैं— सिद्धयोगी आत्मबली होता है। इस प्रकार सूत्र का निर्वचन हुआ॥२०॥

कहते हैं— कि इन्द्रियजयी योगी निर्जन प्रदेश में या गुफा में किन क्रियाओं को करता हुआ निवास करे? क्या जो पहले बताया गया है हसितादि क्रिया वह करे या क्रान्थन-स्पन्दन, मण्टनादि करे? उत्तर देते हैं— ये सब क्रियाओं को न करे। जैसा कि—

ऋचमिष्टामधीयीत गायत्रीमात्मयन्त्रित:।।२१।।

अत्र ऋचम् ऋचामित्यप्यदुष्ट: पाठ:। अत्र ऋचा नामाघोरा। कथं गम्यते? ऋङ्मध्यात्। सद्योजाततत्पुरुषेशानवदर्चिवर्चगी:(?)। इष्टा चेयम्, तत्र तत्र जप्तव्यत्वेन गुणीकृतत्वात्। पूर्वोत्तरसूत्रेषु जप्तव्यत्वेन गायत्र्या सहाध्यानादाशु-भावसमाध्यासादनाच्च इष्टा। अध्ययनम् इति जप्यपर्याय:। ईत इत्याज्ञायां नियोगे च। मानसमेवाऽधीयीतेत्यर्थ:। आह—किं ऋचैवैकाध्येतव्या? उच्यते—न। यस्मादाह—गायत्रीम् इति। गायत्री नाम तत्पुरुषा। निरुक्तमस्या: पूर्वोक्तम्। मानसमेवाधीयीतेत्यर्थ:। आह—कीदृशोऽधीयीतेति? तदुच्यते—आत्मयन्त्रित:। आत्मयन्त्रणमिति प्रत्याहारपर्याय:। आत्मेति क्षेत्रज्ञ उच्यते। आत्मत्वमस्य चैतन्यम्। व्याप्तव्यं कार्यं करणं विषयाश्च। आत्मयन्त्रणमित्यत्र सति त्रिके उच्यते। यन्त्रणं नाम—यथायमात्मभावो ब्रह्मण्यक्षरपदपङ्क्त्यां युक्तो वर्तते,

---

सूत्रानुवाद— सिद्धयोगी को आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति हेतु गायत्री मन्त्र के साथ ऋचाओं को चिन्तन करना चाहिए जिससे प्रकाश से सदा प्रकाशित हो जाय।

भाष्यानुवाद— ऋचम् या ऋचाम् पाठ भी शुद्ध है। यहाँ ऋचा से अघोरा का तात्पर्य है। कैसे समझा जाय? उत्तर देते हैं— ऋचा के जप से। जिस प्रकार बहुरूपी रौद्री में, सद्योजात, तत्पुरुष, ईशान का अर्चन तेज वृद्धि के लिये है वैसे ही ऋचा का जप तेज को बढ़ाने के लिये है। इष्टाम् से तात्पर्य है— शून्यागार और गुहा में जप से जप का माहात्म्य बढ़ जाता है। पहले के सूत्रों की अपेक्षा गायत्री के ऋचाओं के जप से बहुत शीघ्र ही ध्येय की प्राप्ति हो जाती है। अध्ययन शब्द जप का पर्याय है। विधिलिङ् का ईत, आज्ञा और क्रिया में युक्त है। मानसी जप करता रहे, यही क्रिया है। प्रश्न है?— ऋचा का ही केवल जप करें? उत्तर देते हैं— नहीं। गायत्री मन्त्र के साथ जप करें। गायत्री का तात्पर्य, तत्पुरुषा भेद से है। जो पहले कहा जा चुका है। मानसिक जप करे। कहते हैं कैसा जप करे? उत्तर देते हैं— अपने में निरोध के लिये। आत्मत्व ही चैतन्य है। कार्य, करण और विषयों को अपने में निरोध करे। इसी त्रिक् को आत्मनियन्त्रित करे। यन्त्रण से तात्पर्य है— अक्षर ब्रह्म से युक्त होकर रहने पर आत्मयन्त्रित होता है। कैसे? जैसे

तदात्मा यन्त्रितो भवति। कथम्? नृत्यप्रसक्तचित्तदृष्टान्तात्। कस्मात्? आत्मात्मभावयोरव्युच्छेदात्। गुणगुणिनोरपि तथा युगपद्भावः। कथम्? यष्टुं प्रवृत्तौ यन्त्रयितुं च प्रवृत्त एव भवति। भिक्षुवत्। तस्माद् यन्त्रणमेवैष प्रत्याहार इति॥२१॥

आह—अत्र गायत्रीबहुत्वात् सन्देहः। कथमवगम्यते ऋचा अघोरेण वा तत्पुरुषेणेति? उच्यते—गम्यते। यस्मादाह—

रौद्रीं वा बहुरूपीं वा॥२२॥

अत्र रौद्री नाम तत्पुरुषा। निरुक्तमस्याः पूर्वोक्तम्। वाशब्दो रौद्रीबहुरूप्योः प्रतिविभागे द्रष्टव्यः। बहुरूपी नामाघोरा। वा विकल्पे। तुल्यफलत्वात्। वेत्यनैका चैका वा। आत्मयन्त्रितोऽधीयीत इत्यर्थः॥२२॥

आह—आत्मयन्त्रितस्याधीयतः का कार्यनिष्पत्तिः? तदुच्यते—

अतो योगः प्रवर्तते॥२३॥

नृत्य में लगा चित्त यन्त्रित होता है। किससे? आत्मभाव का अविच्छेद से। जैसे गुणों में गुणसक्त रहता है। क्यों? उत्तर देते हैं— यज्ञ के लिये प्रवृत्त व्यक्ति अपने को यन्त्रित करने में समर्थ हो जाता है। जैसे— भिक्षुक। अपने को ध्येय में प्रवृत्त करना ही प्रत्याहार है॥२१॥

कहते हैं— अनेक गायत्री मंत्र होने के कारण कैसे समझा जायेगा कि यह ऋचा अघोरा या तत्पुरुष है? उत्तर देते हैं — ज्ञात होगा। जैसा कि कहा गया है–

सूत्रानुवाद— रौद्री अथवा बहुरूपी का तात्पर्य पहले भी स्पष्ट किया गया है कि अघोरा, तत्पुरुषा, सद्योजातादि है।

भाष्यानुवाद— यहाँ रौद्री का तात्पर्य तत्पुरुषा है। इसका अर्थ कहा जा चुका है। वा शब्द विकल्पार्थक है। बहुरूपी का तात्पर्य अघोरा से है। दोनों फल एक है। वा से अनेक और एक का ग्रहण है। इन ऋचाओं से अपने को यन्त्रित करे॥२२॥

कहते हैं— आत्मयन्त्रित होकर जप करने से क्या फल प्राप्त होता है? उत्तर देते हैं–

सूत्रानुवाद— ऐसा करने से भगवान् से योग हो जाता है।

अत्र 'अतः' इति कारणापदेशो। आत्मयन्त्रितोऽधीयीतेत्यर्थः। तस्मादनेन कारणेन हेतुना निमित्तेनेत्यर्थः। योग इति आत्मेश्वरसंयोगो योग इति मन्तव्यः। प्र इत्यादिकर्मणि। 'प्रवर्तते' इत्यस्य पूर्वोक्तोऽर्थः। अत्र श्लोको निर्वचनः॥२३॥

आह—ऋचमधीयता ब्रह्मण्यक्षरपदपङ्क्त्यां किं युक्तेनैव स्थेयम्? आहोस्विद् दृष्टा अस्यान्या सूक्ष्मतरा उपासना क्रियाध्याननमःस्तव्यम्? उच्यते—दृष्टा। यस्मादाह—

ओङ्कारमभिध्यायीत॥२४॥

अत्र ओम् इत्येष जप्यपर्यायो वामदेवादिवत्। कारशब्दोऽवधारणे द्रष्टव्यः। किं कारणम्? उक्तं हि—

प्रणवे नित्ययुक्तस्य व्याहृतीषु च सप्तसु।
त्रिपदायां च गायत्र्यां न मृत्युर्विन्दते परम्॥

इत्यत ओङ्कार एवावधार्यते ध्येयत्वेन न तु गायत्र्यादयः। अभिरध्यासे। ओङ्कार-सन्निकृष्टचित्तेन भवितव्यम्। ध्यै चिन्तायाम्। ध्यानं चिन्तनमित्यर्थः। उक्तं हि—

भाष्यानुवाद— सूत्र में अतः शब्द पशुपति के लिये है। पशुपति में अपने को नियन्त्रित करे। इसलिये इस कारण को निमित्त कारण कहते हैं। योग से तात्पर्य है, जीव और ईश्वर सम्बन्ध। प्र से विशिष्टता के साथ योग होता है, तात्पर्य है॥२३॥

कहते हैं— ऋचाओं को जपते हुए ब्रह्म में तथा अक्षर पद पंक्तियों में युक्त होकर स्थित हो जाय? या इन ऋचाओं को दूसरी कोई विशिष्ट उपासना में जैसे स्तुति, नमन ध्यान आदि भी क्रिया करे? क्योंकि ऐसी भी क्रियायें देखी गयी हैं। उत्तर देते हैं— हाँ। दूसरी क्रियाएँ भी देखी गयी हैं। जैसे—

सूत्रानुवाद— ओम का भी जप करें।

भाष्यानुवाद— ओम् शब्द भी जप के योग्य ही है। जैसे वामदेवादि हैं। कार शब्द निश्चय अर्थ में है। कारण क्या है? कहा गया है— ओङ्कार का दूसरा नाम प्रणव है। कहते हैं कि प्रणव युक्त सप्त व्याहृति अर्थात् ॐ भूर्भुवः स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् के साथ त्रिपदा गायत्री का जप और ध्यान करने से साधक मृत्यु को जीत लेता है, तथा परमात्मा को प्राप्त कर जाता

ध्यै चिन्तालक्षणं ध्यानं ब्रह्म चोङ्कारलक्षणम्।
धीयते लीयते वापि तस्माद् ध्यानमिति स्मृतम्।।

मुहूर्तार्धं मुहूर्तं वा प्राणायामान्तरेऽपि वा।
ध्येयं चिन्तयमानस्तु पापं क्षपयते नरः।।

ईत इत्याज्ञायां नियोगे च। ओङ्कार एव ध्येयो नान्य इत्यर्थः।।२४।।

आह—ओङ्कारो ध्येयः। को वा ध्यानदेशः? कस्मिन् वा देशे धारणा कर्तव्या? ध्यायमानेन वा किं कर्तव्यम्? तदुच्यते—

हृदि कुर्वीत धारणाम्।।२५।।

अत्र 'हृदि' इत्यात्मपर्यायः। कस्मात्? पूर्वोत्तरसामर्थ्यात्। योऽर्थो यत्र मिलति स तत्र स्थापयितव्यः, स एवार्थो धारयितव्यः। किञ्च, वेदप्रामाण्यादुक्तम्—

है। ओङ्कार ही कारण है, वही ध्येय है न कि गायत्री। ओङ्कार से युक्त चित्त ही परमात्मा की प्राप्ति है। ध्यै धातु चिन्तन अर्थ में है, अर्थात् सदा चिन्तन में लगा रहे। चिन्तन करना, ध्यान करना या उसमें लीन हो जाना ये सभी ब्रह्मा, विष्णु, महेश यानी ओङ्कार के लक्षण हैं। जो साधक प्राणायाम के माध्यम से मुहूर्त्त या अर्धमुहूर्त्त भी ध्येय का चिन्तन करता है वह निश्चय ही सम्पूर्ण पापों को नष्ट कर देता है। अतः ओङ्कार का ही ध्यान करे।।२४।।

कहते हैं—ओङ्कार ही ध्येय है तो ध्यान का स्थान क्या है? अथवा किस प्रदेश में धारणा करे। ध्यान करते हुए कौन सी क्रिया करे? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— ध्येय की धारणा हृदय में करे।

भाष्यानुवाद— यहाँ हृदय आत्मा का पर्याय है। कैसे? पूर्वोत्तर के सामर्थ्य से। जो अर्थ जहाँ मिलता है, उस अर्थ को वहाँ स्थापित करना चाहिए।

इसमें वेद प्रामाण्य है— जैसा कि कहा गया है— अङ्ग से अङ्ग की उत्पत्ति होती है, हृदय से आत्मा जाना जाता है, आत्मा से पुत्र जाना जाता है, वही जीव भी है, सीमा भी है।

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायते।
आत्मा वै पुत्रजानासि स जीव शरदः शतम्।।

अन्यत्रापि—

आत्मा वै जायते पुत्र आत्मा वै आत्मनः पिता।
आत्मप्रजो भविष्यामि परमं हृदयं हि सः।।

अतो हृदयमात्मेत्युक्तम्।

[यादृशं] कुरुते भावं बुद्धिरध्यवसायिनाम्।
हृदयं प्रियाप्रिये वेत्ति त्रिविधा करणस्थितिः।।

तथा लोकेऽपि सन्ति वक्तार:—हृदयं ते ज्ञास्यति। किमुक्तं भवति। आत्मा ते ज्ञास्यतीति। अतोऽवगम्यते हृदीत्यात्मपर्याय:। हृदीति औपश्लेषिकं सन्निधानम्। अत्र तु ओङ्कारो धार्यो नात्मा, किन्तु य एवात्मन्यात्मभाव:, तस्योङ्कारात् प्रच्युतस्य विषयेभ्यो वृत्तिविकारमात्रेण गतस्य प्रत्यानयनं प्रत्याहार:। प्रत्याहृत्य हृदि धारणा कर्तव्या। धार्यं चोऽङ्कारानुचिन्तनम्। तत्रैव सुदीर्घकालमवस्थानमध्ययनम्। तद्धारणाहितं परं ध्यानम्। निष्ठायोगस्तु स्थापयित्वेति (अ.५, सू.३८) वक्ष्याम:। कुर्वीत इति। डुकृञ् करणे। तस्य सप्तम्यन्ते कुर्वीतेति

और भी कहा गया है— आत्मा ही पुत्र है, आत्मा ही पिता है, मैं आत्म प्रण होऊँ इस प्रकार हृदय को ही कहते हैं। अत: आत्मा ही हृदय है।

तीन प्रकार से क्रिया होती है— पहले कल्पना, उसके बाद निश्चयात्मिका बुद्धि, तीसरे में इष्टानिष्ट का ज्ञान।

लोक में भी कहने वाले कहते हैं कि— तुम्हारा हृदय जानेगा। इसका तात्पर्य है कि तुम्हारी आत्मा जानेगी। अत: हृदय आत्मा का पर्याय है। हृदि में औपश्लेषिक अधिकरण है। अत: ओङ्कार का ही धारणा करे। आंत्मा का नहीं। किन्तु आत्मा में ही आत्मभाव है। उस ओङ्कार से पृथग् विषयवृत्तियों का प्रत्याहार अर्थात् वृत्तिविकारों से दूर हटकर धारणा करे। धारण करने योग्य ओङ्कार का चिन्तन करे। उसमें दृढ़भूमि के लिये बहुत दिनों तक चिन्तन करे। वही धारणा स्थित और श्रेष्ठ ध्यान कहा जायेगा। निष्ठा के साथ रुद्र में योग करें इसकी व्याख्या आगे करेंगे। डुकृञ् करणे धातु से सप्तमी में कुर्वीते रूप होता है अर्थात् हृदय में धारण करे। ईत का तात्पर्य है आज्ञा और

भवति। हृदि धारणा कर्तव्या। ईत इत्याज्ञायां नियोगे च। पादजानुकटिनासिकादिस्थानेषु धारणाकर्तव्यताप्रतिषेधार्थो नियोगः। हृदि धार्या, नान्यत्रेत्यर्थः॥२५॥

आह—ओङ्कारः किं परमम् विष्णुरुमा कुमारश्च, चतस्रोऽर्धमात्रा वा? उत समानपुरुष इति? उच्यते—न। यस्मादाह—

ऋषिर्विप्रो महानेषः॥२६॥

अत्र 'ऋषिः' इत्येतद् भगवतो नामधेयम्। ऋषिः कस्मात्? ऋषिः क्रियायाम्। ऋषित्वं नाम क्रियाशंसनादृषिः, तथा कृत्स्नं कार्यं विद्याद्यमीशत इत्यत ऋषिः। तथा विप्रः कस्मात्? विद ज्ञाने। विप्रत्वं नाम ज्ञानशक्तिः व्याप्तमनेन भगवता ज्ञानशक्त्या कृत्स्नं ज्ञेयमित्यतो विप्र इति। तथा महान् इत्यभ्यधिकत्वे। यदेतद् दृक्क्रियालक्षणमस्त्यनागन्तुकमकृतकमैश्वर्यं तद्गुणसद्भावः, सतत्त्वं तत्त्वधर्मः, तदकृतकं पुरुषचैतन्यवत्, तन्नान्यस्येत्यतोऽभ्यधिक उत्कृष्टोऽतिरिक्तश्चेति महान्। 'एषः' इति प्रत्यक्षे। एष यो मया पूर्वमोमिति

नियोग अर्थ में है। अङ्गों के अन्य भागों धारणा का प्रतिषेध है। हृदय में ही धारणा करे, दूसरी जगह नहीं, इसी में तात्पर्य है॥२५॥

कहते हैं— ओङ्कार का ध्यान ही परमश्रेष्ठ है? या विष्णु, उमा, कुमार का भी ध्यान परम है? या ओङ्कार से न्यून है? अथवा सभी चारों समान हैं? उत्तर देते हैं—नहीं। जैसा कि सूत्र है—

सूत्रानुवाद— ज्ञान, इच्छा और क्रियारूप भगवान् ही महान् है।

भाष्यानुवाद— यहाँ ऋषि शब्द भगवान् का पर्यायवाची शब्द है। ऋषि क्यो कहा जाता है? जो कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थं है वही ऋषि अर्थात् भगवान् है। क्रियावान् को ही ऋषि कहते हैं। विद्यादि सम्पूर्ण कार्यों को करने में समर्थवान् को ऋषि कहते हैं। तो विप्र का क्या तात्पर्य है? विद्ज्ञाने से निष्पन्न विप्र शब्द है, जिसका अर्थ ज्ञान शक्ति है। सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थ भगवान् की ज्ञान शक्ति से व्याप्त है अतः विप्र है। महान् शब्द अतिशयता का बोधक है। महान् कैसे हैं— बताते हैं। यह दृक् क्रिया लक्षणों से युक्त है। आगन्तुक नहीं है। अर्थात् व्यापक है। अकृतक है अर्थात् स्वयंभू है। ऐश्वर्यवान् है। सभी गुण सनातन है। वह तत्त्वरूप है। तत्त्वधर्म है। ज्ञानवान् पुरुष के समान अकृतक है। इससे श्रेष्ठ दूसरा नहीं है। अतः सबसे उत्कृष्ट है और अतिरिक्त

श्रोत्रप्रत्यक्षीकृतोऽर्थः, असौ विष्णूमाकुमारादीनामन्यतमो न भवति। कस्मात्? ऋषित्वाद् विप्रत्वाद् महत्त्वाच्चेत्यर्थः॥२६॥

आह—ऋषित्वं विप्रत्वं च कीदृशे महेश्वरे चिन्तनीयम्? कीदृशो वा ओङ्कारो ध्येयः? तदुच्यते—

वाग्विशुद्धः॥२७॥

अत्रापि 'वाग्विशुद्धः' इत्यपि भगवतो नामधेयम्। न अमी इत्यन्यो भगवान्। स यथा ह्यथो हित्वा वाणीं मनसा सह रूपरसगन्धविद्यापुरुषादिपरो निष्कलो ध्येयः। यस्मादुक्तम्—

आकृतिमपि परिहृत्य ध्यानं नित्यं परे रुद्रे।
येन प्राप्तं योगे मुहूर्तमपि तत् परो योगः॥

परमयोग इत्यर्थः॥२७॥

आह–अथ यथायं बालवन्निष्कलस्तथा किं समानपुरुषः? तदुच्यते–न। यस्मादाह—तदाप्ययम्—

है। एष शब्द प्रत्यक्ष है। वह विष्णु, उमा, कुमार से भिन्न नहीं है। कैसे? उत्तर देते हैं— वह द्रष्टा, ज्ञानवान् और महान् है॥२६॥

कहते हैं— किस महेश्वर का ध्यान करना चाहिए? ऋषित्व या विप्रत्व या ओङ्कार रूप का ध्यान करना चाहिए? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— वाग् विशुद्ध अर्थात् जिसकी वाणी सनातनी है, ऐसे वाग् विशुद्ध भगवान् का ध्यान करना चाहिए।

भाष्यानुवाद— यहाँ भी वाग् विशुद्ध नाम भगवान् का है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा भगवान् नहीं होता। वह अनादि वाणी रूप जो रूपरसगन्ध विद्यादि पुरुष से श्रेष्ठ निर्गुण भगवान् का ध्यान करना चाहिए। जैसा कि कहा गया है— नित्य और सबसे श्रेष्ठ रुद्र के स्वरूप को भी त्यागकर ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार के योग यदि एक मुहूर्त भी होता है तो वह श्रेष्ठ य़ोग कहलाता है। उसी को परमयोग कहते हैं॥२७॥

कहते हैं— जिस प्रकार बालक निष्कल होता है अर्थात् दोष गुण से रहित होता है वैसे निष्कल का ध्यान करे या पुरुष जो द्रष्टा, मन्ता, ज्ञाता है उसके समान भगवान् का ध्यान करे? उत्तर देते हैं— नहीं। कहा गया है—

महेश्वरः।।२८।।

अत्रानाद्यज्ञानाद्यतिना(?) ऋषित्वविप्रत्वसंज्ञकेन महता ऐश्वर्येण महेश्वर इति सिद्धम्। इह तु यदायं वाग्विशुद्धो निष्कलस्तदा किं समानपुरुषवदनीश्वर इत्यस्य संशयस्य संव्युदासार्थमुच्यते 'महेश्वरः' इति। यस्मादस्यैश्वर्यं निष्कलस्यापि स्वगुणसद्भावः सतत्त्वं तत्त्वधर्मः, तदकृतकत्वं पुरुषचैतन्यवत्। अतस्तदाप्ययं महानेवेश्वरो महेश्वरः। तस्मादकृतक एव महच्छब्द इत्यतो महेश्वर इति।

एवमोङ्कारमिति ध्येयमुक्तम्। ध्येयगुणीकरणमुक्तम् ऋषिर्विप्रो महानेष इति। ध्येयावधारणमुक्तं वाग्विशुद्धो निष्कल इति। ध्येयशक्तिप्रशंसा चोक्ता महेश्वर इति। एवं यस्मादिन्द्रियजये वर्तते, अतो वसत्यर्थवृत्तिबलक्रियालाभादयश्च व्याख्याता इति।।२८।।

अत्रोऽत्र युक्तं वक्तुम्–शून्यागारगुहाप्रकरणं परिसमाप्तमिति।।

आह—शून्यागारगुहायां यदा जितानीन्द्रियाणि देवनित्यता च प्राप्ता भवति, तदा किं तदेव भैक्ष्यं वृत्तिमास्थाय तत्रैवानेन दुःखान्तप्राप्तेः स्थेयम्?

सूत्रानुवाद— अनीश्वर पुरुष का ध्यान न कर जो अनादि, ज्ञानी, ऋषित्व, विप्रत्व और महान् ऐश्वर्यवान् है उसका ध्यान करना चाहिए।

भाष्यानुवाद— यहाँ जो वाग् विशुद्ध निष्कल भगवान् का कथन है वह अनीश्वर पुरुष के संदेह निवारण के लिये है। ऐश्वर्य निष्कल होने पर भी भगवान् के गुणों की सत्ता व्यापक है, वही तत्त्व है और वही तत्त्वधर्म है। चैतन्य पुरुष के समान अकृतक है। अतः महान् ईश्वर है। इसलिये अकृतक शब्द महान् का पर्याय है।

इस प्रकार ओङ्कार ही ध्यान करने योग्य है। गुणी ही ध्येय है। ऋषि, विप्र और तात्पर्य चिन्तन से है जो वाग् विशुद्ध और निष्कल है। जिसकी प्रशंसा है वही महेश्वर है। जो इन्द्रियजयी है उसी में अर्थवृत्ति, बल, क्रिया, लाभादि गुण हैं जिसकी व्याख्या हो चुकी है।।२८।।

यहाँ शून्यागार गुहा प्रकरण समाप्त हुआ।

कहते हैं— शून्यागार या गुहा में रहकर इन्द्रियजयी और देवनित्यता को जिस सिद्धयोगी ने प्राप्त किया है वह सिद्धयोगी पूर्व के तरह भैक्ष्यवृत्ति

आहोस्विद् दृष्टोऽस्यापि वसत्यर्थो वृत्तिर्बलक्रियालाभाश्चेति?। उच्यते—दृष्टः। यस्मादाह—

श्मशानवासी।।२९।।

आह—शून्यागारगुहामुत्सृज्य प्रयोजनाभावात् श्मशाने संक्रान्तिरयुक्तेति चेत्? तदुच्यते—न। योगव्यासङ्गपरिहारार्थत्वात्। इहावस्थानादवस्थानं प्राप्य ब्राह्मणस्य सर्वत्र वसत्यर्थवृत्तिबलक्रियालाभादयोऽयुतसिद्धा वक्तव्याः। तत्रादिधर्मा अप्यस्य तावदायतने वसत्यर्थः। वृत्तिर्भैक्ष्यं बलमष्टाङ्गं ब्रह्मचर्यं क्रियाः स्नानहसिताद्याः। स्नानं कलुषापोहः, शुद्धिः ज्ञानावाप्तिः अकलुषत्वं च लाभा इति। तथा असन्मान (अ.४, सू.९) परिभवोपदेशाद् (अ.३, सू.५) आयतने वसत्यर्थः, वृत्तिरुत्सृष्टं बलमकलुषत्वम् इन्द्रियद्वारपिधानं च क्रिया इन्द्रियाणि पिधाय (अ.४, सू.४) उन्मत्तवदवस्थानं पापक्षयाच्छुद्धिः, लाभस्तु कृत्स्नो धर्मस्तुल्येन्द्रियजये वर्तते। तथा वसत्यर्थः शून्यागारगुहा वृत्तिर्भैक्ष्यं बलं गोमृगयोः सहधर्मित्वं क्रिया अध्ययनध्यानाद्या अजितेन्द्रियवृत्तितापोहः शुद्धिः लाभस्तु देवनित्यता जितेन्द्रियत्वं चेति। तथेहापि श्मशाने वसत्यर्थः, वसन्

अपनाकर जब तक मोक्ष न हो तब तक वहीं स्थित रहे? अथवा उस योगी में क्या सभी मोक्ष के उपाय बल क्रिया लाभ आदि देखे जाते हैं? उत्तर देते हैं— सभी गुण देखने में आते हैं। जैसा कि—

सूत्रानुवाद— सारे गुणों से युक्त होने पर भी सिद्ध श्मशान वासी है अर्थात् सारी इषणाओं से मुक्त है।

भाष्यानुवाद— कहते हैं— शून्यागार, गुहा को छोड़कर श्मशान पर निष्प्रयोजन वास करना अयुक्त है, ऐसा कहना उचित नहीं है। योग का कथञ्चित् वियोग न हो इसके लिये श्मशान वासी होते हैं। श्मशानवासी होने पर सिद्ध में सारी सिद्धियाँ परिलक्षित होती हैं। साधकावस्था में अपने आयतन में रहकर अष्टाङ्गयोग, भैक्ष्यवृत्ति, ब्रह्मचर्य, स्नान, हसितादि क्रिया, स्नान, कलुष मार्जन, शुद्धि, ज्ञान की प्राप्ति मानापमानादि मार्ग, परिभवादि की प्राप्ति अपनी मर्यादा में रहकर ही अपनी शक्ति की प्राप्ति निर्मलता, इन्द्रियजयी, उन्मत्तवद् वास, पापक्षय, शुद्धि, लाभ, सम्पूर्ण धर्म इन्द्रियजय में विद्यमान है। उसी प्रकार शून्यागार, गुहा में रहकर जो प्रयोजन सिद्ध होता है तथा गो मृग धर्म की सिद्धि, अध्ययन, ध्यान आदि की सिद्धि

धर्मात्मा यथालब्धमिति वृत्तिः क्रिया स्मृतिर् अस्मृत्यपोहः शुद्धिः लाभस्तु सायुज्यम्। तथोत्तरत्र ऋषिरिति वसत्यर्थः, बलप्रमादः प्रसाद उपायो दुःखापोहः शुद्धिः गुणावाप्तिश्च लाभ इति। तथोक्तं च—

पञ्च लाभात् मलान् पञ्च पञ्चोपायान् विशेषतः।
यस्तु बुध्यति पञ्चार्थे स विद्वान् नात्र संशयः।।
प्रथमो विद्यालाभस्तपसो लाभोऽथ देवनित्यत्वम्।
योगो गुणप्रवृत्तिर्लाभाः पञ्चेह विज्ञेयाः।।
अज्ञानमधर्मश्च विषयाभ्यासः स्थितेरलाभश्च।
अनैश्वर्यं च मला विज्ञेयाः पञ्च पञ्चार्थे।।
वासो ध्यानमखिलकरणनिरोधस्तथा स्मृतिश्चैव।
प्रसाद इति चोपाया विज्ञेयाः पञ्च पञ्चार्थे।।
वासार्थो लोकश्च शून्यागारं तथा श्मशानं च।
रुद्रश्च पञ्च देशा नियतं सिद्ध्यर्थमाख्याताः।।

अजितेन्द्रियता की सिद्धि, देवनित्यता जितेन्द्रियत्व की सिद्धि होती है। उसी प्रकार श्मशान में रहते हुए जो प्राप्त नहीं है उसको प्राप्त करना तथा सतत स्मृति रखना, अस्मृति को दूर करना, दुःखान्त को प्राप्त करना या सायुज्य मुक्ति प्राप्त करना लक्ष्य होता है। उसी प्रकार उत्तरोत्तर क्रम से ऋषित्व, बल, अप्रमाद, प्रसन्नता, दुःख का अन्त, शुद्धि आदि गुण की प्राप्ति होती है।

पञ्च लाभों को, पञ्च मलों को, पञ्च उपायों को पञ्चार्थ में जो जानता है वह विद्वान् है इसमें कोई संदेह नहीं है।

लाभों में प्रथम विद्या लाभ है, द्वितीय तपस्या का लाभ है, तृतीय देवनित्यता का लाभ है, चतुर्थ योग लाभ है पञ्चम गुणी होने का लाभ है।

पाँच मलों में प्रथम अज्ञानता, द्वितीय विषयासक्ति, तृतीय अस्थिरता, चतुर्थ अनैश्वर्य पाँचवाँ अधर्म इस पञ्चार्थ में मल कहे गये हैं।

इस पञ्चार्थ में पाँच उपाय हैं— प्रथम गुहावास, द्वितीय ध्यान, तृतीय सम्पूर्ण त्रयोदश करणों का निरोध, स्मृति, पाँचवाँ प्रसाद है।

सिद्धि के लिये निश्चित पाँच स्थान हैं— प्रथम आयतन वास, लोक वास, शून्यागार वास, श्मशान वास, रुद्र में वास। इसलिये युक्त कहा गया है। वही पहले श्मशान वासी का सम्बन्ध कहा गया है।

तस्माद्युक्तमुक्तम्। स एव प्रागुक्त: सम्बन्ध: श्मशानवासी इति। अत्र श्मशानं नाम—यदेतल्लोकादिप्रसिद्धं लौकिकानां मृतानि शवानि परित्यजन्ति तत्। शव-सम्बन्धात् श्मशानम्। तस्मिन्नाकाशे वृक्षमूले यथानभिष्वङ्गमर्यादया जितद्वन्द्वेन स्मृतिक्रियानिविष्टेन वस्तव्यम्। वसतिसंयोगात् श्मशानवासी भवति, पुलिनवासि-वदित्यर्थ:॥२९॥

आह—किमस्य गोमृगयो: सहधर्मित्वमेव बलम्? तदुच्यते—न। यस्मादाह—

धर्मात्मा॥३०॥

अत्र धर्मो नाम—य एष यमनियमपूर्वकोऽभिव्यक्तो माहात्म्यादिधर्म:, स पूर्वोक्त:। सोऽस्यात्मनि प्रचित:। तेन धर्मेण धर्मात्मा भवतीत्यर्थ:॥३०॥

आह—किमस्य भैक्ष्यमेव वृत्ति:? उच्यते—न। यस्मादाह—

यथालब्धोपजीवक:॥३१॥

यहाँ श्मशान से तात्पर्य है— जिस स्थान पर मृत व्यक्ति को छोड़ा जाता है वही लोक में श्मशान कहा जाता है। शव के सम्बन्ध से श्मशान कहा जाता है। उसी के आकाश में या वृक्ष के मूल में अपनी मर्यादा की रक्षा करते हुए सारे द्वन्द्वों को जितकर चिन्तन करते हुए वास करना चाहिए। वास सम्बन्ध से श्मशानवासी कहते हैं जैसे तटवासी कहते हैं॥२९॥

कहते हैं— क्या गो मृग धर्म का जो बल है वही धर्मबल सिद्धों में है? उत्तर देते हैं— नहीं। कहा गया है—

सूत्रानुवाद— गो मृग धर्म के अतिरिक्त सिद्ध को धर्म बल है।

भाष्यानुवाद— धर्म से तात्पर्य है अष्टाङ्गयोग की प्राप्ति तथा इससे प्राप्त महानता आदि धर्म से है। सिद्ध के आत्मा में सभी धर्म स्थित हैं। उसी धर्म से धर्मात्मा कहा जाता है॥३०॥

कहते हैं— क्या साधक को केवल भिक्षावृत्ति ही है? उत्तर देते हैं— नहीं। जैसा कि—

सूत्रानुवाद— जीवन को सुरक्षित रखने के लिये बिना माँगे जो कुछ अन्न प्राप्त हो जाय, श्मशान में रहकर ही जीवनवृत्ति को चलावे।

अत्र 'यथा' इति समानार्थे। अम्लादिषु, जितेन्द्रियत्वात्। लब्धम् आसादितमप्रार्थितमित्यर्थः। 'उप' इति समीपधारणे। तद् यथालब्धमन्नपानं श्मशानादनिर्गच्छता। दिवसे दिवसे जीवनाय स्थित्यर्थं तदुपजीवन् यथालब्धोपजीवको भवतीत्यर्थः।।३१।।

आह—किं जीवनमेव परो लाभ इति? उच्यते—न। यस्मादाह—

लभते रुद्रसायुज्यम्।।३२।।

अत्र 'लभते' विन्दते, आसादयतीत्यर्थः। रुद्र इति कारणापदेशो। रुद्रस्य रुद्रत्वं पूर्वोक्तम्। साक्षाद् रुद्रेण सह संयोगः सायुज्यम्। भावग्रहणमात्मेश्वराभ्यामन्यत्र प्रतिषेधार्थम्। योगस्य सम्यक्त्वं सायुज्यमिति योगपर्यायोऽवगम्यते। धर्मात्म- (अ.५, सू.३१)वचनादतिगत्यानन्त्यवदित्यर्थः।।३२।।

आह—तत् केनोपायेन लभते? किमध्ययनध्यानाभ्यामेव? तदुच्यते—न। यस्मादाह—

भाष्यानुवाद— यथा शब्द समानार्थक है। अर्थात् योगी के अनुकूल भोजन होना चाहिए, क्योंकि जितेन्द्रियता की प्रधानता रहती है। लब्ध से तात्पर्य है। अयाचित वृत्ति से जीवन का निर्वहन। उप अर्थात् समीप। इस प्रकार अन्न-जल की प्राप्ति से अपने जीवन को चलाना यथोपलब्धोपजीवक होता है।।३१।।

कहते हैं— जीवन को रखना ही परम लक्ष्य है? उत्तर देते हैं— नहीं। जैसा कि कहा गया है—

सूत्रानुवाद— सिद्ध रुद्र सायुज्य को प्राप्त करता है।

भाष्यानुवाद— रुद्र जो परमध्येय हैं उनकी प्राप्ति हो जाती है। रुद्र के रुद्रत्व को पहले कहा जा चुका है। रुद्र के साक्षात् संयोग हो जाना सायुज्य है। आत्मा और ईश्वर का सम्बन्ध ही ग्रहण करना चाहिए। दूसरे का प्रतिषेध है। योग का तात्पर्य है कि सम्यक् रुप से युक्त हो जाना। सायुज्य शब्द योग का पर्याय है। धर्मात्मा की उक्ति अर्थात् जिसकी प्राप्ति से प्राप्त करना शेष न हो तथा आनन्त्य की प्राप्ति से तात्पर्य है।।३२।।

कहते हैं— वह रुद्र किस साधन से प्राप्त होते हैं? क्या ध्यान और अध्ययन ही कारण है? उत्तर देते हैं— नहीं। जैसा कहा गया है—

सदा रुद्रमनुस्मरेत्।।३३।।

अत्र सदा नित्यं सततमव्युच्छिन्नमिति। रुद्रमिति कारणापदेशे। रुद्रस्य रुद्रत्वं पूर्वोक्तम्। रुद्रमिति द्वितीया कर्मणि। अनु पृष्ठकर्मक्रियायाम्। पूर्वोक्तो ध्येयोऽर्थः सततमनुस्मर्तव्यः। स्मृतिः चिन्तायाम्। ऊष्मवदवस्थितस्य कर्मणश्च्युति-हेतोः क्षपणार्थं सततमुनस्मर्तव्यः। स्मृतितस्तु देवनित्यतेत्यर्थः। ततः क्षीणे कर्मणि तद्दोषहेतुजालमूलविशिष्टस्य प्रत्यासैक(?)निमित्ताभावात् सायुज्यप्राप्तौ न पुनः संसारः। अत्र श्लोको निर्वचनः।।३३।।

आह—अज्ञानकलुषपापवासनादिप्रसङ्गप्रसरणसम्भवात् सन्देहः। (किं) सूक्ष्म-वदवस्थिते कर्मणि क्षीणेऽत्यन्तविशुद्धः सायुज्यमासादयति आहोस्विदविशुद्ध इति? उच्यते—विशुद्धः। यस्मादाह—

छित्त्वा दोषाणां हेतुजालस्य मूलम्।।३४।।

सूत्रानुवाद— सिद्ध को सदा रुद्र का चिन्तन करना चाहिए।

भाष्यानुवाद— यहाँ सदा नित्य, निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। रुद्र ही कारण हैं। रुद्र का रुद्रत्व कहा जा चुका है। रुद्र में कर्म है। क्रिया का आधार रुद्र है। ध्येय का अर्थ जो पहले कहा गया है कि निरन्तर चिन्तन करना। स्मृति का अर्थ चिन्तन होता है। प्राण के समान स्थित तथा कर्म की च्युति के विनाश के लिये सदा चिन्तन करना चाहिए। स्मृति तो देवनित्यता है। सभी कर्मों के नाश हो जाने पर या कर्म संस्कार के मूल का नाश हो जाने पर सायुज्य की प्राप्ति हो जाती है, वह पुनः कभी संसार में नहीं आता। इसकी व्याख्या पूर्ण हुई।।३३।।

कहते हैं— अज्ञान, कलुष, पाप वासनाओं के बाहुल्य से सायुज्य में संदेह उत्पन्न हो रहा है, तो क्या सूक्ष्म कर्माशय के नष्ट होने पर अत्यन्त विशुद्ध होकर सायुज्य की प्राप्ति संभव है? या अविशुद्धावस्था में ही? उत्तर देते हैं— विशुद्ध होने पर ही सायुज्य की प्राप्ति होती है। जैसा कि—

सूत्रानुवाद— दोषों का कारण तथा कर्मजालों का मूल जब नष्ट हो जाता है तब विशुद्ध होता है, तत्पश्चात् सायुज्य की प्राप्ति होती है।

अत्र व्युत्क्रमाभिधानाच्छेदः क्रमशो योजनीयः। यन्त्रधारणात्मकश्छेदो द्रष्टव्यः। किमर्थम्? सूक्ष्मवदवस्थितस्य कर्मणः क्षयार्थं वसत्यर्थादिनिर्देशार्थत्वात्। किञ्च, अर्थानामनिर्वचनार्थत्वात् तत्र जप एव केवलोऽभिहितः, इह तु यत इन्द्रियाणि जेतव्यानि, यो जेता, यया जेतव्यानि, यथा जेतव्यानि, यत्प्रयोजनं जेतव्यानि यस्मिंश्च जिते जितानि भवन्ति, तद् वक्ष्यामः। तथा यत आत्मा छेत्तव्यः, छेत्तारं छेदकरणं छेदप्रयोजनं छेद्यं छित्तिं यस्मिन् छिन्ने छिन्नं भवति, तद् वक्ष्यामः। तदुच्यते—छित्त्वा। अत्र छेदो नाम आत्मभावविश्लेषणमात्रम्। विच्छेदवचनाद्, गम्यते। 'त्वा' इति शून्यागारगुहावस्थितस्याध्ययनध्यान-धारणयन्त्रणादिकं गम्यते। आह—किं तत्? केभ्यो वा छेत्तव्यम्? तदुच्यते—दोषाणां हेतुजालस्य मूलम् इति। अत्र दोषाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। कस्मात्? कामार्जनादिमूलत्वात्। यस्मादुक्तम्—

कामः क्रोधस्तथा लोभो भयं स्वप्नश्च पञ्चमः।
रोगो .... द्वेषश्च .... मोहश्च।।

तथा अर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादयो दोषाः। अर्जनं नाम प्रतिग्रहजयक्रय-विक्रयनिर्वे(वे)श्यादिषु वर्णिनां विषयार्जनोपायाः। एतेषु च विषयाणामर्जने

भाष्यानुवाद— अज्ञानादि सभी क्रम से नष्ट होने पर विशुद्धता आयेगी। आसक्ति का नष्ट होना च्छेद से तात्पर्य है। किसलिये? सूक्ष्म कर्माशयों के नष्ट हुए बिना आत्यन्तिक योग होना संभव नहीं होता है। क्योंकि सभी वासनाओं को नष्ट करने के लिये जप करने को कहा गया है। यहाँ तो जप से इन्द्रियों को जीतना, जो जीतने वाला, जिन साधनों से जीता गया, मर्यादा में रहकर जीता गया, ये सभी के जीत में ही जीत है। वह आगे कहेंगे। उसी प्रकार मन को विषयों से दूर करना, दूर करने वाले को, दूर करने के उपायों को और उसके उद्देश्यों को जो छेद्य हैं जिसके छिन्न होने पर ही छिन्न कहा जाता है यह भी आगे कहेंगे। सूत्र में छित्वा शब्द का तात्पर्य है कि महेश्वर के अतिरिक्त सभी भावों को विच्छेद हो जाय। त्वा से तात्पर्य है—शून्यागार या गुहावास करके अध्ययन ध्यान, धारणा, यन्त्रणादिकों को समझना चाहिए। अर्थात् साधक निर्विकल्पक होने पर ही सायुज्य की प्राप्ति कर सकता है। यह क्या है? किससे छेदन होता है? उत्तर देते हैं— **दोषाणां हेतु जालस्य मूलम्।** अर्थात् दोष जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध हैं क्योंकि

वर्ततात्मपीडा परपीडा वा अवर्जनीये भवतः। तत्र यद्यात्मानं पीडयति, तेन इहैव लोके दुःखी भवति। स्यात् परं पीडयति, तत्राप्यस्याधर्मो दुःखादिफलः संचीयते। तच्च दुःखं नान्योऽनुभवति, कर्तैवानुभवति। अपि च किम्पाकफलोपमा विषयाः। तद्यथा श्रूयते—"लवणसागरसन्निकर्षे कालयवनद्वीपे किम्पाका नाम विषयवृक्षाः। तत्फलान्यास्वादेनामृतोपमानि च केचिदज्ञानाद् गुडवद् भक्षयन्ति। भक्षितानि च तानि मूर्छां छर्दिं च जनयन्ति। तत्तीव्रदुःखाभिभूताः पञ्चत्वमापुः।"

श्रुत्वा तु सुहृदां वाक्यं यो नरो ह्यवमन्यते।
स दह्यते विपाकान्ते किम्पाकैरिव भक्षितैः।।

इन्हीं के द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह का मूल उत्पन्न होता है अतः इन सबों को दूर करके विशुद्ध होवे।

क्योंकि कहा गया है— काम, क्रोध, लोभ, भय, स्वप्न, ये दोषों के मूल हैं। काम से राग, क्रोध से द्वेष, लोभ से मोह उत्पन्न होता है।

उसी प्रकार अर्जन, रक्षण, आसक्ति, हिंसादि भी दोष कहे गये हैं। अर्जन से र्तापर्य है धन संग्रह करना, संग्रह करके क्रय-विक्रय करना, क्रय-विक्रय के धर्मों को अपनाना आदि कर्मों को करने से आत्म पीड़ा और पर पीड़ा को साधक अपनाये बिना नहीं रक सकता। यदि ऐसा करता है तो अपने को पिड़ित करता है, इस पीड़ा से इसी लोक में दुःखी हो जाता है, अधर्म से दुःखादियों का फल संचित करता है। वह दुःख दूसरा नहीं भोगता बल्कि कर्ता ही भोगता है और भी कहते हैं— शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि जो विषय हैं किम्पाकफल के समान हैं। सुना जाता है कि खारसमुद्र के तट पर यवनद्वीप में किम्पाक नामक विषयरूपी वृक्ष है। उसके फल खाने में अमृत के समान मधुर लगते हैं किन्तु जो अज्ञानी उस फल का स्वाद ग्रहण करता है वह खाने के बाद ही मूर्छित हो जाता है। बहुत दुःख अनुभव करता हुआ अन्त में उसका प्राणान्त हो जाता है।

क्योंकि कहा गया है— जो व्यक्ति हितैषियों के कथन का आदर नहीं करता वह दुःखी होता है। वह किम्पाक फल के भक्षण के समान कर्मफल को भोगने के बाद दुःखी होता है।

एवं किम्पाकफलोपमा विषयाः सेव्यमानाः सुखं जनयन्ति। परिणामे संसारे जन्मनिमित्तत्वाद् दुःखानि प्रतिपद्यन्ते। इत्येवं विषयाणामर्जने दोषं ज्ञात्वा विरज्यते शतानां सहस्राणां वा यदि कश्चित्। तथाऽन्यः कथम्? अस्त्वेष विषयाणामर्जने दोषः। स भवतु तेषाम्। न वयं तत् प्रतिषेधयामः। अयं त्वन्यः कष्टो विषयदोषः। कश्चासाविति? उच्यते—रक्षणदोषः। अर्जितानामप्येषामवश्यमेवोद्यतायुधेन रक्षा विधातव्या। कस्मात्? नृपदहनतस्करदायादसाधारणफलत्वात्, तत्रात्मपीडा। परपीडायां च यथोक्तः। उक्तं हि—

स्वद्रव्यं पुरुषं चौराः स्वमांसं पिशिताशिनः।
क्लेषयन्ति यथा घोरास्तथाहि विषया नरम्।।
क्लेशं समनुभुङ्क्ते च विषयाणां परिग्रहाम्।
तेषामेव परित्यागात् सर्वक्लेशक्षयो भवेत्।।
आत्मदुःखोपघातार्थं त्यागधर्मं समाचरेत्।
नापरित्यज्य विषयान् विषयी सुखमेधते।।

जिस प्रकार संसार में विषयों का उपभोग सुख देता है, परिणामतः दुःख ही दुःख मालूम होता है। विषयों के सेवन से ही जन्म-मरण के चक्र में मनुष्य फँसा रहता है। इसी प्रकार विषयों के संग्रह में दोष कहा गया है। जो मनुष्य विषयों को दोष समझकर सेवन नहीं करता वही श्रेष्ठ है। सैकड़ों हजारों में कोई एक ही विषयों से विरक्त होता है। कहते हैं— दूसरे कैसे होते हैं? विषयों के अर्जन में दोष हैं, होता रहे, मैं उसका निषेध नहीं करता? विषय संग्रह दोष का कष्ट क्या है? उत्तर देते हैं— उसकी रक्षा में दोष है। संगृहीत विषयों की रक्षा एक सजग प्रहरी के समान होनी चाहिए। जैसे राजा के कोष की रक्षा असाधारण फल को देने वाला होता है वैसे ही रक्षा करनी चाहिए अर्थात् विषयों को प्राप्त कर आसक्त नहीं होना चाहिए, अपितु जो प्राप्त हैं उसकी रक्षा होनी चाहिए।

कहा गया है— जिस प्रकार क्रूर व्यक्ति मांस भक्षण, द्रव्यापहरण करने वाला दुःख देता है उसी प्रकार विषय मनुष्यों को दुःख देते हैं। विषयों के सञ्चय से क्लेशों का ही उपभोग होता है, अतः विषयों के त्याग से ही क्लेशों का नाश होता है। आत्मदुःख की निवृत्ति के लिये त्याग धर्म को अपनाना चाहिए। विषयों के त्याग के बिना विषयी सुख की प्राप्ति नहीं कर सकता।

विषयाणामर्जनमादौ दोषं ज्ञात्वा विरज्यते शतानां सहस्त्राणां वा यदि कश्चित्। तथा अन्यः कथम्? अस्त्वेष विषयाणामार्जनरक्षणादौ दोषौ भवतस्तेषाम्। न वयं तौ प्रतिषेधयामः। अयं त्वन्यः कष्टतरो (रदो) विषयाणां दोषः। कश्चासाविति? उच्यते—क्षयो दोषः। अर्जितानां सुरक्षितानाप्येषामवश्यमेवाभ्युपगन्तव्यः (क्षयः)। विषयक्षये च पुनर्विषयिणां तीव्रदुःखमभिव्यज्यते। मत्स्यादिवद् यथोदकक्षये नदीनाम्, तद्वत्। तस्मादशोभनम्। उक्तं हि—

त्रय एव ह्रदा दुर्गाः सर्वभूतापहारिणः।
स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यं तेषु जाग्रथ ब्राह्मणाः!।।

नास्ति ज्ञानसमं चक्षुर्नास्ति क्रोधसमो रिपुः।
नास्ति लोभसमं दुःखं नास्ति त्यागात् परं सुखम्।।

इतिं। एवं विषयाणां क्षयदोषं ज्ञात्वा विरज्यते शतानां सहस्त्राणां वा यदि कश्चित्। तथान्यः कथम्? इति। सन्त्येते विषयदोषाः। अयमन्यतरः कष्टतरो दोषः। कश्चासाविति? उच्यते—सङ्गदोषः। यदि तावदर्जनं क्रियते रक्षणं च

सैकड़ों हजारों में एक ही व्यक्ति विषयों के अर्जन और रक्षण में दोष समझकर विरक्त होता है तो दूसरे कैसे हैं? कहते हैं— विषयों के रक्षण, अर्जन दोनों दोष हैं तो होवें, उसे हम निषेध नहीं करते। किन्तु उस दोष से बढ़कर क्या कष्ट होता है? उत्तर देते हैं— विषयों के क्षय का कष्ट होता है। देखा गया है— जो अर्जित है तथा सुरक्षित है फिर भी नष्ट होता है। उसके क्षय होने पर तीव्र दुःख की प्रतीति होती है। जिस प्रकार नदी के जल सूख जाने पर मछलियों की होती है। अतः अर्जन और रक्षण दोनों ही दोषरूप हैं।

कहा गया है— मनुष्यों के लिये तीन पदार्थ बड़े लुभावने अर्थात् आकर्षित करने वाले होते हैं। प्रथम स्त्री, दूसरा, अन्न, जल तीसरा ऐश्वर्य अतः ब्रह्मविद् को चाहिए कि इनसे दूर रहे अर्थात् सजग रहे। ज्ञान के समान कोई नेत्र नहीं है क्रोध के समान कोई शत्रु नहीं है और लोभ के समान कोई दुःख नहीं है अतः त्याग से सुख की प्राप्ति है।

अतः विषयों को क्षणिक जानकर हजारों में कोई एक ही विरक्त होता है। ये सभी विषयदोष कहे गये हैं। इससे भी बढ़कर कोई दोष है? उत्तर देते

क्षये च पुनः पुनरर्जनं क्रियते रक्षणं च। यदि सङ्गदोषो न स्यात् कथम्? यावदयमिन्द्रिययुक्तो विषयानभिलषति, तावदस्य तृप्तिरुपशान्तिरौत्सुक्यविनिवृत्तिश्च न भवति। भूय एव विषयानन्वेष्टुमारभते। ततः पुनरतृप्त्यादयो भवन्ति तद्वद्। तस्मादशोभनम्। उक्तं हि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयः एवाभिवर्धते।।

तत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत् तृप्त्यै तस्माद् विद्वान् शमं व्रजेत्।।

इति। एवं विषयाणां सङ्गदोषं ज्ञात्वा विरज्यते शतानां सहस्राणां वा यदि कश्चित्। तथान्यः कथम्? इति। सन्त्येते विषयाणामर्जनादयो दोषाः। ते भवन्तु तेषाम्। न वयं तान् प्रतिषेधयामः। अयं त्वन्यः कष्टतमो विषयाणां दोषः। कश्चासाविति? उच्यते—हिंसादोषः। शक्यमेतेषां विषयाणामर्जनादि कर्तुम्, इन्द्रियलौल्यदोषोऽपि भवतु। यदि हिंसादोषो न स्यात्। कथम्? एतेषामेव

हैं— सङ्गदोष है। क्योंकि आसक्ति दोष से बार-बार अर्जन, रक्षण, बार-बार क्षय का क्रम जीवन में लगा रह जाता है। सङ्गदोष कैसे नहीं होगा? कहते हैं कि जब इन्द्रियाँ विषयों से सङ्ग करती है तो उसे सदा प्राप्ति की ही इच्छा होती है, उसके लिये बार-बार प्रवृत्ति करता है और क्षणिक सुख की कामना करता है, अतः इससे दूर होना चाहिए। कहा गया है— कामनाओं के उपभोग से कामना की पूर्त्ति नहीं होती है बल्कि अग्नि में घी डालने के समान प्रज्वलित ही होती है।

इस पृथिवी पर धन, धान्य, रत्न, पशु, स्त्री इसमें कोई भी मनुष्य को तृप्त नहीं कर सकता, अतः इन सबों से शान्ति में ही कल्याण है।

इस प्रकार विषयासक्ति दोषों को जानकर सैकड़ों हजारों में कोई एक ही विरक्त होता है। दूसरे लोग कैसे होते हैं? उनमें विषयार्जनादि बहुत से दोषों दूषित हो जाते हैं। वे लोग विषयाकाराकारित हो जाते हैं। आसक्त जनों को कोई निषेध नहीं कर सकता। विषयों में सबसे कष्टकारक दोष कौन हैं? उत्तर में हिंसा दोष होता है। विषयों के सङ्ग से इन्द्रिय चाञ्चल्य दोष भी होता है, यदि हिंसा दोष की प्राप्ति न समझा जाय? कैसे? क्योंकि विषयों के उपभोग

विषयाणामुपभोगे वर्तता अवश्यमेव हिंसादिदोषाः कर्तव्याः। कस्मात्? नानुपहत्य भूतानि विषयोपभोगः शक्यते कर्तुम्। तत्र शब्दनिमित्तं तावदयं क्रियते। तद्यथा—वीणानिमित्तं खदिरादीन् छिद्यमानान् दृष्ट्वा, तन्त्रीनिमित्तं वा कांश्चिद्धिंस्यमानान् दृष्ट्वा यदि कश्चिद् ब्रूयाद् अशोभनोऽयं भूतवधः क्रियते, कदनं कर्म क्रियते [स वक्तव्योऽत्र ते न शोभनोऽयम्। यदा भिक्षाप्रदगृहेषु रम्यान् शब्दान् श्रोष्यसि, तत्र परः परितोषो भविष्यति तथा] सूत्रादिनिमित्तं तावद् भूतवधः क्रियते। तद्यथा—कोशकारादीन् वध्यमानान् दृष्ट्वा यदि कश्चिद् ब्रूयाद् अशोभनोऽयं भूतवधः, कदनं कर्म क्रियते। स वक्तव्योऽत्र ते न शोभनोऽयम्। यदा भिक्षदगृहेषु मृदुतरस्पर्शानि वासांसि प्राप्स्यसि, तत्र ते परः परितोषो भविष्यति। तथा रूपनिमित्तं तावद् भूतवधः। तद्यथा अशोकादीन् वृक्षान् छिद्यमानान् दृष्ट्वा हस्तिनश्च दन्तनिमित्तं वध्यमानान् दृष्ट्वा यदि कश्चिद् ब्रूयाद् अशोभनोऽयं भूतवधः कदनं कर्म क्रियते। स वक्तव्योऽत्र ते न शोभनोऽयम्। यदा भिक्षदगृहमलङ्कृतकवाटगोपुरं द्रक्ष्यसि, तत्र ते परः परितोषो भविष्यति। तथा रसनिमित्तं तावद् भूतवधः क्रियते। तद्यथा—तित्तिरिमयूरवराहादीन् वध्यमानान् दृष्ट्वा यदि कश्चिद् ब्रूयाद् अशोभनोऽयं भूतवधः क्रियते। स

में हिंसादि दोष होते ही हैं। कैसे? उत्तर देते हैं— जैसे शब्द विषय को लेने पर— मधुर शब्द सुनाने के लिये वीणा होती है, वीणा, खैर वृक्ष के स्कन्ध च्छेदन से बनती है, इस प्रकार काटते हुए खैर वृक्ष को देखकर यदि कोई कहे कि हिंसा हो रही है, यह उपयुक्त नहीं है तो ऐसा कहना शोभनीय नहीं होगा। भिक्षा मिलनेवाली घरों में वीणा के मधुर शब्दों को सुनाकर भिक्षुक सन्तुष्ट करता है उससे दोनों की संतुष्टि होती है। उसी प्रकार रेशमी वस्त्रों के लिये कीटों को नष्ट करने पर सूत्र की प्राप्ति होती है, उन सूत्रों से कपड़ा तैयार होता है, उसे देखकर कोई कहे कि हिंसा हो रही है, यह उपयुक्त नहीं है तो ऐसा कहना यथार्थ नहीं होगा। भिक्षा प्रद गृहों से सुन्दर वस्त्र प्राप्त होते हैं जिससे परम संतुष्टि होती है। उसी प्रकार सुन्दर सजावट के लिये हाथी के दन्तों से बने आभूषणों को देखकर कहे कि हाथी का वध हुआ है, दोष युक्त है, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि भिक्षदगृह के फाटक एवं सजावट को देखकर प्रसन्नता होती है। उसी प्रकार षड्रस भोजन की प्राप्ति में अनेक प्रकार के पशुपक्षियों का वध देखा जाता है, उससे भोजनकर्ता संतुष्ट होता है, तो इसे

वक्तव्योऽत्र ते न शोभनोऽयम्। यदा भिक्षदगृहेषु षड्रसमांसप्रकारैर्भोक्ष्यसे, तत्र ते परः परितोषो भविष्यति। तथा गन्धनिमित्तं तावद् भूतवधः क्रियते। तद्यथा— (पञ्च)नखादीन् वध्यमानान् दृष्ट्वा यदि कश्चिद् ब्रूयाद् अशोभनोऽयं भूतवधः कदनं कर्म क्रियते। स वक्तव्योऽत्र ते न शोभानोऽयम्। यदा भिक्षदगृहेषु सुगन्धान् गन्धान् प्राप्स्यसि, तत्र ते परितोषो भविष्यति। एवं—

कामः क्रोधश्च लोभश्च भयं स्वप्नश्च पञ्चमः।
रागो द्वेषश्च मोहश्च ।।

इति। अर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादिमूलत्वादतोऽत्र शब्दादयो विषया दोषाः। दोषाश्च कथम्? (दुष) चित्तवैचित्ये। दूषयन्तीति दोषाः। दूषयन्ति यस्मादध्ययनध्यानादि-निष्ठं साधकं विचित्तं कुर्वन्तीति दोषाः। दोषाणाम् इति षष्ठीबहुवचनम्। आह—किं दोषाणामेव दोषेभ्य एव वा छेत्तव्यमुक्तम्? न। यस्मादाह—हेतुः। अत्र हेतुरधर्मः। कस्मात्? चित्तच्युतिहेतुत्वात्। यस्मात् तेनाविष्टः साधकोऽध्ययन-स्मरणादिभ्यश्च्यवतीत्यतोऽत्राधर्मो हेतुः। धर्मस्तु स्थित्यादिहेतुः। आह—कस्यायं हेतुः? उच्यते—जालस्य। अत्र यदाऽधर्मः कूटस्थोऽनारब्धकार्यस्तदा हेतुरित्युच्यते।

अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार पञ्चनख वाले पशुओं के वध को देखकर कहे कि यह उपयुक्त नहीं है तो ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि भिक्षदगृहों से सुगंधित पदार्थ की प्राप्ति संतुष्टि को देती है।

इस प्रकार, काम, क्रोध, लोभ, भय, स्वप्न, राग, द्वेष, मोह सबके सब दोष पूर्ण हैं। इसके अर्जन में, रक्षण में, नष्ट होने में, आसक्ति में, हिंसादि मूल दोष विद्यमान रहते हैं अतः सभी शब्दादि विषय दोषपूर्ण होते हैं। दोष कैसे हैं? उत्तर देते हैं— दुष अर्थात् चित्त को वैचित्त करता है। जो दुषित करे उसे दोष कहते हैं क्योंकि साधक के चित्त को ध्यानाध्ययन से पृथक् करता है। दोष में षष्ठी बहुवचन है— कहते हैं दोषों का या दोषों के लिये छिद् शब्द सूत्र में आया है, हेतुधर्म है। कैसे? उत्तर देते हैं— चित्त का पतन होने के कारण। जिससे साधक अध्ययन स्मरण आदि से च्युत होता है वह यहाँ धर्म हेतु है। धर्म का तात्पर्य है कि स्थिति, पालन, संहारकर्तृक हेतु है। प्रश्न करते हैं? किसका हेतु है? उत्तर देते हैं— जाल का। अर्थात् दोष समूह का। यहाँ जन्म-जन्मान्तर से संचित अधर्म हेतु है। जब अज्ञान वश अधर्म की स्थिति

यदा त्वज्ञानवासनावशाद्धृत्या स्थित्यादिभावमापन्नस्तदा जालाख्यां लभते। कस्मात्? जालादिवत् समूहस्येत्यर्थः(?), अन्यस्य तन्मयकारणस्याभावात्। जालस्येति षष्ठी खेदनशेषत्वे वर्तते। अतश्छिन्नमेव भवति। कस्मात्? दोषचित्तसन्निपातप्रभवत्वाद्धेतुजालयोः। आह—किं प्रतिसम्बन्धि दोषहेतुजालसंश्लिष्टं भवति? तदा कथमभिलभ्यते? तदुच्यते—मूलम्। अत्र मूलमित्युक्ते कस्येति भवति। दोषचित्तसन्निपातप्रभवत्वाद्धेतुजालयोः प्रवृत्तेरित्यतोऽवगम्यते संयोगमूलमेवात्र मूलमिति॥३४॥

आह—केनायं छेत्ता मूलच्छेदं करोति? तदुच्यते—

बुद्ध्या॥३५॥

अन्तःकरणाख्या बुद्धिरित्युक्ता। तया धर्मस्मृतिचोदनादिसहितया विद्यागृहीतया बुद्ध्या छेद्यं स्थाप्यं चेत्यर्थः॥३५॥

आह—किं दोषादिसहगतवधादिविश्लिष्टमपि तत् परतन्त्रमुच्यते? न। यस्मादाह—मूलाख्यायां निवृत्तायाम्।

संचित्तम्॥३६॥

आदि का भाव होता है तब वह जाल या समूह कहते हैं। कैसे? उत्तर देते हैं— साधक की इन दोषों में तन्मयता नहीं होती अतः सभी दोषों के हेतुभूत जालों का च्छेदन करके योग की प्राप्ति करे॥३४॥

कहते हैं— .किन साधनों के द्वारा साधक दोषों के मूलों का च्छेदन करता है? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद एवं भाष्यानुवाद— अन्तःकरण के रूप में कही जाने वाली बुद्धि के द्वारा दोषों का उच्छेदन करे, तथा वेदस्मृति के अनुसार ज्ञान प्राप्त कर ऐसी विशिष्ट बुद्धि के द्वारा च्छेदन तथा दुःख निवृत्ति में स्थायित्व प्राप्त करे॥३५॥

कहते हैं— क्या अर्जन, रक्षण, क्षय, सङ्ग और हिंसादि दोषों के स्थित रहने के कारण ही साधक परतन्त्र कहा जाता है? उत्तर देते हैं— नहीं। जब तक दोषों के मूल का नाश नहीं होगा तब तक वह परतन्त्र कहा जायेगा।

सूत्रानुवाद— चित्त स्वाभाविक रूप से दोषादि से युक्त होकर रहता है।

अत्र सम् इति दोषादिविशिलष्टं स्वयमेव स्वगुणत्वेन परिगृह्यते, अग्न्युष्णत्ववन्नित्यानुबन्धित्वाच्चेत्यर्थः। आह—किं तद् इति? उच्यते—चित्तम्। अत्र चिती संज्ञाने, चेतयति चिनोति वाऽनेनेति चित्तम्। चेतयति सुखंदुःखं पदार्थान् चिनोति धर्माधर्मौ अर्जयतीत्यतश्चेतयति चिनोति वाऽनेनेति चित्तम्। चित्तं मनोऽन्तःकरणमित्यर्थः। अत्र त्वेतेभ्यो दोषहेतुत्वादिभ्यो युगपच्छेत्तव्यम्, विद्यमानेभ्यस्तु क्रमशः क्षपणमिति॥३६॥

आह—छित्त्वा तच्चित्तं किं कर्तव्यम्? उच्यते—रुद्रस्थम्। यस्मादाह—

स्थापयित्वा च रुद्रे॥३७॥

अत्र ष्ठा गतिनिवृत्तौ। चित्तस्य रुद्रादव्यवधानं स्थितिरित्युच्यते। 'त्वा' इति श्मशानाद्यवस्थस्य स्मृतिकर्मणो निष्ठा। चशब्दः समुच्चये। न केवलं छित्त्वा स्थेयम्, किन्तु स्थापयितव्यं चेत्यर्थः। 'रुद्रे' इति कारणापदेशे। रुद्रस्य

भाष्यानुवाद— जैसे अग्नि में उष्णता संलग्न रहती है। कहते हैं— वह क्या है? उत्तर देते हैं— वह चित्त है, चित्त शब्द चिती संज्ञाने धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ होता है, ज्ञान करना तथा दोषगुणों को एकत्रित करना। सुख रूप पदार्थों तथा दुःखरूप पदार्थों का ज्ञान करता है अथवा धर्माधर्म का अर्जन के कारण इसको मन या अन्तःकरण भी कहते हैं। अतः इस शास्त्र के अनुसार सभी दोषों के मूलभूत अधर्म का नाश तथा विद्यमान सभी दोषों का नाश एक साथ करना चाहिए॥३६॥

कहते हैं— चित्त के दोषों का नाश करने के बाद चित्त को क्या करना चाहिए? उत्तर देते हैं—

सूत्रानुवाद— रुद्र भगवान् में स्थित होना चाहिए।

भाष्यानुवाद— साधक का चित्त स्थायी रूप से रुद्र में स्थित होना ही चित्त की सफलता है। सूत्र में त्वा शब्द का तात्पर्य है कि साधक श्मशान, गूहावास, अध्ययन, ध्यानादि यन्त्रों के द्वारा चित्त को निर्मल करके रुद्र में स्थित होवे। च से दोष च्छेदन तथा स्थिति दोनों कार्य करे। रुद्र की रुद्रता पहले ही कही जा चुकी है। रुद्र में जो सप्तमी है वह आधाराधेय का है। रुद्र में ही चित्त को स्थापित करे अन्यत्र नहीं। इस प्रकार साधक अपनी इन्द्रियों

रुद्रत्वं पूर्वोक्तम्। रुद्र इत्यौपश्लेषिकं सन्निधानम्। रुद्रे चित्तमुपश्लेषयितव्यम्, नान्यत्रेत्यर्थः। एवं विषयेभ्य इन्द्रियाणां जयः कर्तव्यः। अत्र यो जेता? आत्मा। यया जेतव्यानि? बुद्ध्या। यथा जेतव्यानि?, क्रमशश्च। यत्प्रयोजनं जेतव्यानि? चित्तस्थित्यर्थम्। यस्मिंश्च जिते जितानि भवन्ति? चित्तं (? त्ते) इत्येतदपि व्याख्यातम्। एवं जपयन्त्रधारणात्मकच्छेदादिष्वपि योज्यम्। तथान्तः-करणवृत्तिमास्थाय कालविशेषनिमित्तरश्मिमणिदीपवत्, तथात्मवृत्तिरध्ययनध्यान-स्मरणादीनि। चित्तस्थितिश्च व्याख्याता। श्लोको निर्वचनः।।३७।।

आह—कार्यकरणं च तच्चित्तस्थितिसमकालमेव रुद्रे स्थितानि तानि युक्तानि, अथ किं तान्येव युक्तस्य लक्षणानीति? उच्यते—न। यस्मादाह—

एकः क्षेमी सन् वीतशोकः।।३८।।

अत्र धर्माधर्मयोर्वृत्त्योरुपरमेऽवसितप्रयोजनत्वात् पक्वफलवत् सर्पकञ्चुकवद् गतप्रायेषु कार्यकरणेषु रुद्रे स्थितचित्तो निष्कल एक इत्यभिधीयते। तथा

को रूप, रस, गन्ध आदि विषयों से पृथक् कर जीत को प्राप्त करे। यहाँ जो जीतने वाला है वह आत्मा यानी साधक है। जिस साधन के द्वारा जीता गया वह बुद्धि है जो जेतव्य हैं वे विषय हैं। विषयों के जो हेतु हैं वे ही जीतने योग्य हैं। चित्त की रुद्र में स्थिति के लिये उसका प्रयोजन है। चित्त में स्थित विषयों को जीतना ही जीत है। इस प्रकार चित्त की व्याख्या पूर्ण हुई। इस प्रकार जीतने के लिये जप, ध्यान आदि यन्त्रों को भी समझ लेना चाहिए। मणिदीप के सूक्ष्म किरणों के समान बहुत समय से स्थित अन्तःकरण की वृत्तियों को अध्ययन, ध्यानादि से निर्मल कर रुद्र में स्थिति करे। इस प्रकार सूत्र का तात्पर्य कहा गया।।३७।।

कहते हैं— रुद्र में कार्यकरण के साथ चित्तस्थिति होना ही युक्त है? या अध्ययन, ध्यान-स्मरणादि ही युक्त का लक्षण है? उत्तर देते हैं— नहीं। जैसे कहा गया है—

यहाँ धर्माधर्म वृत्ति से रहित अर्थात् कर्म की शान्ति होने पर योगी सर्पकञ्चुक और पक्के फल के समान सभी कर्त्तव्यों से मुक्त हो जाता है तब वह शुद्ध निर्मल होकर आत्मारूप से रुद्र में स्थित हो जाता है। उसी को एकः शब्द से विशेषित करते हैं। उसी प्रकार योगादियों के माध्यम से अधर्म को

योगव्यासङ्गकरेऽधर्मे निवृत्ते दोषादिविश्लिष्टो निस्तीर्णकान्तारवदवस्थितो रुद्रे स्थितचित्त: 'क्षेमी' इत्यभिधीयते। तथा सूक्ष्मस्थूलसबाह्याभ्यन्तरसलक्षणविलक्षणासु क्रियासु विनिवृत्तासु रुद्रे स्थितचित्तो निष्क्रिय: 'सन्' इत्यभिधीयते। आह— अथ निष्क्रियोऽयमिति कथमवगम्यते? किं चात्र युक्तस्य लक्षणत्रयमेव? उच्यते—न। यस्मादाह—वीतशोक:। अत्र शोकश्चिन्तेत्यनर्थान्तरम्। सा च चिन्ता द्विविधा भवति— कुशला चाकुशला च। तत्र कुशला नाम अध्ययनध्यानस्मरणाद्या। अकुशला नाम अनध्ययनाध्यानास्मरणाद्या। एवं जपयन्त्रणधारणादींश्च करिष्यामि न करिष्यामीत्येवमनेकविधायामपि चिन्तायां विनिवृत्तायां व्यपगतशोको वीतशोक इत्यभिधीयते।।३८।।

एवमत्र योगपदार्थ: समाप्त:। कस्मात्? अर्थानां निर्वचनत्वात्। यस्मादस्याध्यायस्यादावुद्दिष्टा ये पदार्थास्ते दोषच्छेदासङ्गस्थित्यादिषु व्याख्याता:। एवमनेन युक्तेन ब्रह्मादयो देवा विशेषिता भवन्ति, तदसङ्गादिवचनात्।

निवृत्त कर दोषादियों से रहित होकर कान्ताराग के समान रुद्र में स्थित होना ही क्षेमी कहलाता है, उसी प्रकार सूक्ष्म स्थूल, बाह्य, आभ्यन्तर, लक्षण, विलक्षण क्रियाओं से पूर्णत: निवृत्त एवं निष्क्रय होते हुए रुद्र में स्थिति सन् पदवाच्य है। पुन: प्रश्न करते हैं— रुद्र में स्थित चित्त निष्क्रिय हो गया यह कैसे जाना जायेगा? अथवा एक:क्षेमी, सन् क्या युक्त योगी के यही तीन स्वरूप हैं? उत्तर देते हैं— नहीं। आगे भी है वीतशोक:। शोक रहित अथवा चिन्ता रहित होना भी युक्त का लक्षण है। शोक और चिन्ता पर्यायवाची शब्द हैं। वह चिन्ता दो प्रकार की होती है। एक कुशला दूसरी अकुशला। अध्ययन, ध्यान, स्मरणादि को कुशला चिन्ता कहते हैं। इसके विपरीत अकुशला चिन्ता है। जब कुशला चिन्ता होती है तो योगी जप, ध्यान, स्मरण आदि में तत्पर हो जाता है, जब अकुशला चिन्ता होती है तो शुभ कार्यों से विरति हो जाती है, इस प्रकार की चिन्ताओं से जो मुक्त होता है वही वीत शोक होता है।।३८।।

इस प्रकार योग पदार्थ प्रकरण समाप्त हुआ। कैसे? इस अध्याय के उद्दिष्ट पदार्थों के निर्वचन से। इस प्रकरण में दोषों का उच्छेदन आसक्ति इत्यादि की भी व्याख्या हो गयी। इस प्रकार रुद्र में स्थिति हो जाने पर योगी ब्रह्मा आदि पदों से विशेषित हो जाता है।

आह—अथ सांख्ययोगमुक्ताः किं न विशेषिताः?। उच्यते—विशेषिताः। कथम्?। तज्ज्ञानातिशयात्। कथम्? सांख्ययोगमुक्ताः कैवल्यगताः स्वात्मपरात्मज्ञानरहिताः संमूर्छितवत् स्थिताः। अस्य तु ज्ञानमस्ति। यस्मादाह—

अप्रमादी गच्छेद् दुःखानामन्तम् ईशप्रसादात्।।३९।।

इति। एवं कुर्वन् सर्वज्ञोऽस्यासंमोहं ज्ञापयति। उक्तं हि—

कार्यकरणाञ्जनेभ्यो निरञ्जनेभ्यश्च सर्वपुरुषेभ्यः।
अप्राप्तान्तं पुरुषं योऽभ्यधिकं वर्णयेत् स बुधः।।

आह—गतं यद् गन्तव्यम्। अथ किमयमुपचारः? उच्यते—न। अपरिज्ञानान्नास्माकं योगनिष्ठं तन्त्रम्, अपि तु तत्कैवल्यव्यतिरिक्तोऽपि सर्वज्ञेनोच्यते(?) अप्रमादाद् गच्छेद् दुःखानामन्तमीशप्रसादात्। अत्र प्रमादशब्दोऽनागतानवधानगतत्वं पारतन्त्र्यं च ख्यापयतीत्यर्थः। तदङ्कुरपरिरक्षणवदनागतकालप्रतीकारकरणेन चैवायम् अप्रमादीशब्दो द्रष्टव्यः। तस्माद् युक्तेनैवाप्रमादिना स्थेयम्। तथा वर्तमाने माहेश्वरमैश्वर्यं प्राप्तमेवेत्युक्तम्। गच्छेद् इति। गतिः प्राप्तिर्भवति। गम्ल

कहते हैं— क्या सांख्ययोग शास्त्र के अनुसार मुक्त होने वाले विशेषित नहीं होते? उत्तर देते हैं— उनसे पाशुपत शास्त्रवाले विशेषित हैं। कैसे? कहते हैं— सांख्ययोग की मुक्ति ज्ञानशून्य होती है। यहाँ की मुक्ति में ज्ञान बना रहता है यही विशेषता है। जैसे कहा गया है—

सूत्रानुवाद— पाशुपत विधि के अनुसार जो अप्रमादी होता है वही भगवान् की कृपा से दुःखान्त को प्राप्त करता है।

भाष्यानुवाद— ऐसा करते हुए अपने को सर्वज्ञ के रूप में जानने लगता है। कहा गया है— साञ्जन पुरुष और निरञ्जन पुरुष के प्राप्त पुरुष को जब अत्यधिक वर्णन करता है तो वही ज्ञानी कहा जाता है। कहते हैं— जहाँ जाना चाहिए वहाँ चला गया। क्या यही नियम है? उत्तर देते हैं—नहीं। हमारे सिद्धान्त में ज्ञानरहित साधक योग निष्ठ नहीं कहा जा सकता। मुक्त होने पर भी ज्ञानवान् होना चाहिए। भगवान् की कृपा से दुःखान्त की प्राप्ति अप्रमादी साधक को ही होता है। यहाँ प्रमाद से तात्पर्य है कि भविष्य में होने वाले दोषों से जो सावधान नहीं रहता है, उसी को परतन्त्र भी कहते हैं। अप्रमादी शब्द से तात्पर्य है कि किसी बीजाङ्कुर की रक्षा भविष्य में भी रहे

सृप्लृ गतौ। प्राप्नोतीत्यात्मेति। पत्रपाण्डुताफलपाकवत्। कथम्? तस्मिन्नेव प्रवर्ततो योऽयं दुःखापोहो गुणास्तत्र यं गतिरिति संज्ञा क्रियत इत्यर्थः। दुःखानाम् इत्यत्र प्रसिद्धानि दुःखान्याध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानि। तत्राध्यात्मिकं द्विविधम्-दुःखम् शारीरं मानसं च। तत्र मनसि भवं मानसं क्रोधलोभमोहभयविषादेर्ष्यासूयाद्वेषमदमानमात्सर्यारत्याद्यविशेषदर्शनादिनिमित्तं तद् दुःखम्। तथा शारीरमपि शिरोरोगदन्तरोगाक्षिरोगज्वरप्रतिमत्स्यातिसारकास-श्वासोदरामयादिनिमित्तोत्पन्नं दुःखम्।

तथान्यदपि पञ्चविधं दुःखं भवति। तद्यथा— गर्भजन्माज्ञानजरामरणमिति। तत्र गर्भे तावद्—यदायं पुरुषो मातुरुदरे न्यस्तगात्रः खण्डशकटस्थ इव पुमान् नियमश्रममनुभवन्नवकाशरहित आकुञ्चनप्रसारणादिष्वपर्याप्तावकाशः सर्वक्रियासु निरुद्ध इत्येवमद्वारकेऽन्धतमसि मूढो बन्धनस्थ इव पुमान् अवश्यं समनुभवति।

ऐसा सोचकर जो रक्षण करता है वह अप्रमादी साधक है। अतः अप्रमादी होकर रुद्र में स्थिति साधक है। इस प्रकार का साधक सदा विद्यामान रहने वाले माहेश्वर के ऐश्वर्य को प्राप्त करता है। गच्छेद् से तात्पर्य है माहेश्वर की प्राप्ति। गम्लृ और सिप्लृ धातु प्राप्ति अर्थ मैं है। अर्थात् आत्मा की प्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार वृक्ष के पक्के पत्र विकार रहित होकर अपने स्वरूप में स्थित रहता है उसी के समान विकार रहित होकर आत्मस्थिति हो जाती है। सूत्र में दुःखानाम् पद का तात्पर्य है कि दुःख तीन प्रकार के होते हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक। आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार के होते हैं— शारीरिक दुःख दूसरा मानसिक दुःख। मन से उत्पन्न होने वाले क्रोध, लोभ, मोह, भय, विषाद, ईर्ष्या, असूया, द्वेष, मान, मात्सर्य इत्यादि जो दुःख है वह मानसिक अर्थात् आध्यात्मिक हैं। उसी प्रकार शरीर में उत्पन्न दुःख जैसे शिरदर्द, दन्तदर्द, चक्षुपीड़ा, ज्वर, शरीर में छटपटाहट, दस्त, कफ, खाँसी, उदररोग आदि जो होते हैं वह भी आध्यात्मिक दुःख है।

इसके अतिरिक्त भी पाँच प्रकार के दुःख होते हैं। जैसे— गर्भ में रहना, जन्मकष्ट, जराकष्ट, मरणकष्ट आदि ये सभी आध्यात्मिक कष्ट हैं। गर्भ कष्ट जैसे जब पुरुष माता के उदर में रहता है। उस समय सिकुड़ा हुआ टूटी हुई गाड़ी के समान औंधा हुआ, माता के खान-पान का अनुभव करता हुआ, थोड़ी जगह में पड़ा हुआ, न वह जीव अपने को फैला सकता है न संकुचित

कस्मात्? चेतनत्वाद् भोक्तृत्वात् तन्मयत्वाच्च। न तु कार्यकरणानि। कस्मात्? अचेतनत्वादभोक्तृत्वादतन्मयत्वाच्च।

तथा जन्मदु:खमपि। यदायं पुरुषो जायमान: पुरीषपङ्कमग्नवदनो मूत्रधाराभिरभिषिच्यमानो देहे संवृतदारके योनिनिस्सरणसङ्कटेऽत्यर्थं पीड्यमानोऽस्थिमर्मबन्धनैः प्रघृष्यमाणे विक्रोशन् निनदंश्च जायते। पश्चात् पुनस्तस्यानुचितेन बाह्येन वायुना जननावर्तेन स्पृष्टस्य तीव्रं दु:खमभिव्यज्यते। राजपुष्टकादिवत्। तेन चास्य जात्यन्तरादिस्मृतिहेतुसंस्कारलोपो भवति। एवं जन्मदु:खं पुरुष एवानुभवति। कस्मात्? चेतनत्वाद् भोक्तृत्वात् तन्मयत्वाच्च। न तु कार्यकरणानि। कस्मात्? अचेतनत्वाद-भोक्तृत्वादतन्मयत्वाच्च।

तथा अज्ञानदु:खमपि। अहङ्कारसात्कृतगात्रो न जानन् कोऽहं कुतोऽहं कस्याहं केन वा बन्धनेन बद्धोऽहमिति, किं कारणं किमकारणं किं भक्ष्यं किमभक्ष्यं किं पेयं किमपेयं किं सत्यं किमसत्यं किं ज्ञानं किमज्ञानम् इत्यज्ञानदु:खं

कर पाता है, केवल एक स्थिति में ही पड़ा रहता है, सभी क्रियाओं से निरुद्ध बिना दरवाजा के घोर अन्धकार में पड़ा हुआ अतिकष्ट का अनुभव करता है। प्रश्न है— कैसे अनुभव करता है? उत्तर देते हैं— गर्भगत ज्ञान से, सुखदु:ख के भोग से, बन्धन की तन्मयता से। दु:ख और दु:ख के साधन से दु:खी नहीं है—क्योंकि ज्ञान शून्यत्व, भोक्तृत्व और तन्मयत्व है।

उसी प्रकार जन्मगत दु:ख भी होता है— जैसे जब पुरुष उत्पन्न होता है उस समय सारी गन्दगियों से भरापूरा रहता है तथा माता के गर्भ से बाहर होने में अति पीड़ा का अनुभव करता हुआ, उसके कोमल अस्थिचर्म में घर्षण होने से भी पीड़ा का अनुभव करता हुआ बाहर आकर जोर से चिल्लाता है। जन्म होने के बाद अनुचित बाहरी हवा के कारण भी तीव्र दु:ख का अनुभव करता है। जैसे राजपुरुष को सदा दु:ख का अनुभव होता है। उस पीड़ा के चलते पहले की स्मृति भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार मनुष्य जन्म दु:ख का अनुभव करता है। कैसे?— चेतनता से, भोग से, तन्मयता से। कार्यकरण से नहीं जो पहले कहा जा चुका है।

उसी प्रकार अज्ञान भी दु:ख है। क्योंकि जड़ शरीर को ही मैं से जानता है। मैं क्या है, उसे पता नहीं, कहाँ से आया हूँ, किसका हूँ, किस बन्धन

पुरुष एवानुभवति। कस्मात्? चेतनत्वाद् भोक्तृत्वात् तन्मयत्वाच्च। न तु कार्यकरणानि। कस्मात्?। अचेतनत्वादभोक्तृत्वादतन्मयत्वाच्च।

तथा जरादुःखमपि। यदायं पुरुषो जराजर्जरितः कृशशरीरः शिथिलीकृतनयन-कपोलनासिकाभ्रूदशनावरणः क्रौञ्चजानुरिव निर्विण्णोऽक्षिदूषिकादिष्वप-कर्षणादिष्वसमर्थो विहङ्ग इव लूनपक्षो लङ्घनप्लवनधावनादिष्वसमर्थः पूर्वातीतानि भोगव्यायामशिल्प-कर्माण्यनुस्मरमाणः स्मृतिवैकल्यमापन्नोऽवश्यं क्लेशमनुभवति। कस्मात्? चेतनत्वाद् भोक्तृत्वात् तन्मयत्वाच्च? न तु कार्यकरणानि। कस्मात्? अचेतनत्वादभोक्तृत्वादतन्मयत्वाच्च।

तथा मृत्युदुःखमपि। यदायं पुरुषो मरणसमये श्लथकरणः शिरोधरमव-लम्बमानः श्वसनोच्छ्वसनतत्परः खुरुखुरायमाणकण्ठः स्वोपार्जितमणिकनकधन-धान्यपत्नीपुत्रपशुसङ्घातः कस्य भविष्यतीत्यनुतप्यमानः विषयाननु दोदूयमानः

से बद्ध हूँ, क्या कारण है, क्या अकारण है, क्या भक्ष्य है, क्या अभक्ष्य है, क्या पेय है, क्या अपेय है, क्या सत्य है, क्या असत्य है, क्या ज्ञान है, क्या अज्ञान है, ये सबका उसको ज्ञान नहीं है अतः अज्ञान भी दुःख है।

उसी प्रकार वृद्धावस्था भी दुःख है। जब पुरुष बुढ़ापा से जर्जरित, दुबला पतला शरीर, दृष्टिहीन, कपोल, नासिका, भौंहे, दन्तों का नष्ट स्वरूप भयावह जीव के समान दुःखी आँख के दोष से लेन देन में असमर्थता, कटे हुए पंख वाला पक्षी के समान जो चलने फिरने में असमर्थ, पहले के किये हुए भोगों का स्मरण करके दुःखी होना, याददाश्त विहीन पुरुष अत्यन्त दुःख का अनुभव करता है। कैसे? इसका उत्तर सभी दुःखों में समान है। अर्थात् कार्यरूप पञ्चमहाभूत कारणरूप ज्ञानेन्द्रियाँ ये सब जड़ होने के कारण दुःखी नहीं होते अपितु बद्ध जीव ही दुःखीसुखी होता है।

उसी प्रकार मरण दुःख भी है। जैसे मृत्यु के समय मनुष्य सभी अङ्गों से शिथिल हो जाता है। उसका शिर बिना सहारे नहीं टीक पाता, उर्ध्व श्वांस चलने लगता है, कंठ से धर्रधर्र की आवाज आने लगती है, आने से उपार्जित, रत्न, स्वर्ण, धन-धान्य, पत्नी, पुत्र, पशु समूह किसका होगा ऐसा सोचकर दुःखी तथा विषयों से कष्ट अनुभव करता हुआ, जल पीने की इच्छा जताता हुआ रक्तविहीन मुख, अन्तःकरण की पीड़ा का अनुभव करता हुआ,

सलिलादि याचमानो विरक्तवदनो मर्मभिश्छिद्यमानैरवश्यं क्लेशमनुभवति। कस्मात्? चेतनत्वाद् भोक्तृत्वात् तन्मयत्वाच्च। न तु कार्यकरणानि। कस्मात्?। अचेतनत्वादभोक्तृत्वादतन्मयत्वाच्च। उक्तं हि—

गर्भे प्रविशन् दुःखं निवसन् दुःखं विनिष्क्रमन् दुःखम्।
जातश्च दुःखमृच्छति तस्मादपुनर्भवः श्रेयान्।।

इति। तथान्यदपि पञ्चविधं दुःखं भवति। तद्यथा— इहलोकभयं परलोकभयम् अहितसंप्रयोगः, हितविप्रयोगः इच्छाव्याघातश्चेति। तथान्यदपि त्रिविधं दुःखं भवति— आध्यात्मिकमज्ञानं पुरुषे, आधिभौतिकं विषयित्वम्, आधिदैविकं च पशुत्वं त्रिविधम् अपरं प्राहुः। इत्येवमादीनि बाधनाया अप्रीतिफलाया जन्मनिमित्तत्वाद् दुःखानीत्युपचर्यन्ते। आह—चरणाधिकारेऽनतिप्रसादादशिवत्वसंज्ञके सर्वाण्यनतिप्रसादबीजत्वात् कुतो नात्यन्तनिवृत्तानि भवन्ति? कस्मात्(?)। संहारं प्राप्तस्य निगलमुक्ताधिकारवन्मुक्तावतिशयितगुणप्राप्त्यर्थम् उच्यते—गच्छेद् दुःखानामन्तम्। दुःखानामत्यन्तं परमापोहो गुणावाप्तिश्च परं

अवश होकर दुःख का अनुभव करता है। कैसे? चेतनता से भोक्तृता से, आसक्ति से। न तु कार्यकरण कष्ट प्राप्त करते हैं, क्योंकि वे जड़ हैं।

क्योंकि कहा गया है— गर्भ प्रवेश दुःख, गर्भवास दुःख, जन्म दुःख इत्यादि दुःख मनुष्य को अवश्य मिलते हैं अतः दुःखान्त करना ही मनुष्य के लिये श्रेयस्कर है ताकि पुनः जन्म मरण न होवे।

इसके अतिरिक्त भी पाँच प्रकार के दुःख हैं। जैसे— (१) इस लोक का भय, (२) परलोक का भय, (३) शत्रु भय, (४) हितवियोगभय, (५) इच्छा की पूर्ति न होने का भय। इसके अतिरिक्त भी तीन प्रकार के दुःख हैं। (१) पुरुष में जड़ चेतन की अज्ञानता, (२) प्राणियों के विषयधर्म से भय, (३) आधि दैविक अर्थात् ग्रहादियों का भय आदि दुःख हैं। जीव धर्म भी तीन प्रकार के हैं। ये सभी बाधायें दुःख के कारण हैं। सभी दुःख विपरीत फल के देने वाले जन्म के कारण ही होते हैं। प्रश्न करते हैं— भिक्षाचरण प्रसङ्ग में जब भिक्षा की अनुकूलता नहीं होती तो वह भी दुःख का कारण है, इस प्रकार किसी भी क्रिया की पूर्ति न होने पर एक नया बीज दुःख का अंकुरित हो जाता है तो कैसे आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति होगी? कैसे मुक्ति से भी

भवतीति। तदुभयमपि इत एव भवतीति। तदाह—ईशप्रसादात्। अत्रेश इत्येतद् भगवतो नामधेयम्। ईशः कस्मात्? विद्यादिकार्यस्येशनादीशः। प्रसादो नाम सम्प्रदानेच्छा। तस्मात् प्रसादात् सर्वदुःखापोहो गुणावाप्तिश्चदिमुपाध्यन्तरात् परपरिवादादिवचनात् शुद्धिरिव युगपदित्यर्थः(?)। एवमयमथशब्दः पशुपतेरित्युद्दिष्टयोर्दुःखान्तप्रसादयोर्गच्छेद् दुःखानामन्तमीशप्रसादादिति दुःखान्तं परिसमाप्तमिति।।३९।।

एवमध्यायपरिसमाप्तिं कृत्वा युक्तं वक्तुम्—

अत्रेदं ब्रह्म जपेत्।।४०।।

इति। अस्य पूर्वोक्तोऽर्थः। विधिनैव पूर्वोक्तेन विधिना जप्तव्यम्। न तु दुःखान्तगतेन गणपतिवदि(अ.१, सू.३८)त्यर्थः।।४०।।

आह—कामित्वात् कृपया भगवता दुःखान्तो दत्तः स्वेच्छयैव, न पुनरदुःखान्तं करिष्यति। अथाशक्तस्तथाप्यस्य शक्तिव्याघातः पाचकवदकर्मापेक्षत्वं चोच्यते(?)।

अधिक गुण की प्राप्ति होती है? उत्तर देते हैं— दुःखों का अन्त हो जाता है जब भगवान् महेश्वर की कृपा होती है। भवभीति और दुःखों का अन्त इसी लोक से होता है। ईश प्रसाद का क्या तात्पर्य है— उत्तर देते हैं— ईश भगवान् का नाम है। कैसे ईश है? तो कहते हैं— सभी विद्यादि कार्यों को वश में रखने के कारण ईश हैं। प्रसाद अर्थात् सब कुछ देने की इच्छा ही प्रसाद है। अतः कृपा से ही दुःख की निवृत्ति और गुणों की प्राप्ति तथा तिरस्कारादि वचनों की शुद्धि एक साथ सम्पन्न हो जाती है। इस प्रकार अथ शब्द से प्रारम्भ पाशुपत शास्त्र दुःखान्त तक समाप्त हुआ।।३९।।

इस प्रकार अध्याय की परिसमाप्ति में पुनः कहते हैं—

यह सूत्र पहले को दोनों अध्यायों में आया है, जिसका निर्वचन हो चुका है। पाशुपत विधि से ब्रह्म का जप चिन्तन करना चाहिए। दुःखान्त की प्राप्ति के बाद तो गणपति देव के समान हो जाता है।।४०।।

कहते हैं— सभी इच्छाओं की पूर्ति करने वाले भगवान् कृपा और स्वेच्छा से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति देकर पुनः कभी दुःख नहीं देते। साधक के अशक्त होने पर शक्ति का प्रक्षेप करते हैं, जैसे खाये हुए अन्न को

अत्र यथा नित्यो दुःखान्तस्तथा वक्ष्यामः। यथा च काङ्क्षतो लिप्सतश्च साधकाधिकारनिवृत्तिस्तथा वक्ष्यामः। पदार्थनिगमनार्थे चोच्यते—

ईशानः सर्वविद्यानाम्।।४१।।

अत्र ईशनाद् ईशानः। अत्रेशनादीशान इत्युक्तं कारणम्। ईशानः, प्रभुः, धातेत्यर्थः। आह—कस्यायमीशानः? तदुच्यते—सर्वस्येशानः। सर्वशब्दो विद्या-प्रकृतेर्निरवशेषवाची द्रष्टव्यः। विद्यानां धर्मार्थकामकैवल्यतत्साधनपराणाम् ईशानः। विद्यानामिति षष्ठीबहुवचनम्।।४१।।

आह—किं विद्यानामेवेशानः?, न तु विद्याभिर्ये विदन्ति?। उच्यते—

ईश्वरः सर्वभूतानाम्।।४२।।

अत्र निरतिशय ऐश्वर्येण ईश्वरः। पुरुषः चैतन्यवदित्यर्थः(?)। आह—कस्यायमीश्वरः?। तदुच्यते—सर्वभूतानाम्। अत्र चेतनाचेतनेषु सर्वशब्दः, न केवलं पृथिव्यादिषु, किन्तु सिद्धेश्वरवर्जं चेतनेष्वेव सर्वभूतप्रकृतेर्निरवशेषवाची सर्वशब्दो द्रष्टव्यः। कस्माद् भूतानि? भावनत्वाद् भूतानीत्युक्तम्। भूतानमिति षष्ठीबहुवचनम्।।४२।।

पचाने के लिये किसी कर्म की अपेक्षा नहीं। यहाँ जो नित्य दुःखान्त है उसको आगे कहेंगे। पदार्थों के निगमन के लिये कहते हैं—

यहाँ सत्तावान् को ईशान कहते हैं। ईशान अर्थात् स्वामी सबका कारण है। ईशान को प्रभु और धाता भी कहते हैं। कहते हैं—किसका यह स्वामी है? उत्तर देते हैं—सबका। सर्व शब्द सभी विद्या के लिये आया है। विद्याओं का अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में जो साधन हैं उन सबका प्रभु है। विद्यानाम् में षष्ठी बहुवचन है।।४१।।

कहते हैं—क्या विद्याओं का ही स्वामी हैं? उत्तर देते हैं—नहीं। अपितु जो विद्याओं के द्वारा प्राप्त करते हैं, उनका स्वामी हैं। जैसे कहते हैं—

निरतिशय ऐश्वर्यवाले को ईश्वर कहते हैं। पुरुष और चैतन्य के समान। कहते हैं— किसका यह ईश्वर है? उत्तर देते हैं— सर्वभूतानाम् अर्थात् अखिल ब्रह्माण्ड का। भूत शब्द से केवल पृथिव्यादि ही नहीं बल्कि सिद्धेश्वर को छोड़कर सभी चेतनों में ईश्वरत्व है। भूतानि क्यों कहा? भावनाओं में रहने वाले को षष्ठी बहुवचन देकर निर्वचन हुआ।।४२।।

आह—अत्र केचिद् विद्याभूतव्यतिरिक्तं ब्रह्माणमिच्छन्ति। तस्यायं किं प्रभुर्भवति नेति? उच्यते—प्रभुः। यस्मादाह—

ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा।।४३।।

अत्र योऽयं विरिञ्चिः परमः पतिः सर्वचेतनव्यतिरिक्तः क्षेत्रज्ञः, तस्मिन् ब्रह्मसंज्ञा। न तु प्रधानादिषु। कस्मात्? अधिपतिवचनविरोधात्। ब्रह्म च कस्मात्? बृंहणत्वाद् बृहत्त्वाद् ब्रह्मा। बृंहयते यस्माद् विद्याकलाभूतानि, बृहच्च तेभ्य इत्यतोऽधिपतिर्ब्रह्मा। ब्रह्मण इति षष्ठी। अधिरधिष्ठातृत्वे। तत्स्वाभाव्यात् संहृते चासंहृते च कार्य इत्यर्थः। पत्युः पतिः। अधिपतिः। राजराजवत्। पतिः पालने, पतिदर्शने भोगे च। पालयते यस्माद् ब्रह्मादीन् ईश्वरः। पाति ब्रह्मादिकार्यम्, अधिपतिः ब्रह्मा, अधिपतिरीश्वरः, एवं बृंहयते यस्माद् विद्यादिकार्यम्, बृहच्च तेभ्य इत्यतोऽधिपतिर्ब्रह्मा भगवानिति।।४३।।

आह—अत्र कार्यकरणमहाभाग्यमेवात्र ब्रह्मणि चिन्त्यते, न तु साधकस्य लिप्सा लाभो वेति? उच्यते—न। यस्मादाह—

कहते हैं— यहाँ कुछ लोग विद्या और भूत से विशिष्ट ब्रह्म की इच्छा करते हैं। उसका क्या यह प्रभु है? उत्तर देते हैं— उसका भी प्रभु है। जैसा कि—

यह जो ब्रह्मा है वह सर्वश्रेष्ठ स्वामी है। सभी चेतन से विशिष्ट जो क्षेत्रज्ञ है उसमें ब्रह्म संज्ञा है। न कि प्रकृति का। कैसे? अधिपति शब्द के कथन से। ब्रह्म किसे कहते हैं? सबसे बड़ा होने से ब्रह्म है। जिसके द्वारा अखिल ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति है अतः अधिपति ब्रह्म है। ब्रह्मणः पद में षष्ठी है। अधि का तात्पर्य अधिष्ठातृ अर्थात् व्यवस्थापक है। वह अपने स्वभाव से सृष्टि और प्रलय करता है, यह उसका कार्य है। जो पति का पति होता है वह अधिपति कहलाता है। जैसे राजाओं के राजा। पति का अर्थ पालन, दर्शन और भोग है। जिसके द्वारा ब्रह्मादि का पालन होता है अर्थात् देवाधिपति ब्रह्मा है। अधिपति ईश्वर जो छोटे से बड़ा करना जानता है, अर्थात् विद्यादि कार्यों को उत्पन्न करता। बड़े से भी जो बड़ा हो वह अधिपति ब्रह्मा भगवान् है।।४३।।

कहते हैं— ब्रह्म में कार्यकरण और महा ऐश्वर्य का चिन्तन है न कि साधक की इच्छा लाभ है? उत्तर देते हैं— नहीं। जैसा कि कहा गया है—

शिवो मे अस्तु।।४४।।

अत्र येषां साधिकारत्वादनतिप्रसन्नस्तेषामशिवत्वं दृष्ट्वा दुःखान्तं गतेषु च शिवत्वं दृष्ट्वा आह—शिवो मे अस्तु इति। 'मे' इत्यात्मापदेशे। ममेत्यर्थः। अस्त्विति काङ्क्षायाम्। काङ्क्षति लिप्सति मृगयतीत्यर्थः।।४४।।

आह—कियन्तं कालं भवानस्य शिवो भवति? तदुच्यते—नित्यम्। यस्मादाह—

सदा।।४५।।

अत्र सदा नित्यं सन्ततमव्युच्छिन्नमित्यर्थः।।४५।।

आह—कमेवमाह? को वास्य शिवो भवतीति? उच्यते—

शिवः।।४६।।

अत्र शिव इत्येदपि भगवतो नाम। शिवः कस्मात्? परिपूर्णपरितृप्तत्वाच्छिवः। तस्मात् सदाशिवोपदेशान्नित्यो दुःखान्तः कारणाधिकारनिवृत्तिः। तदर्थं नित्यो दुःखान्त इति सिद्धम्।।४६।।

अधिकारी पाशुपतव्रती अप्रसन्नता और अकल्याणता को देखकर आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति करता है तथा शिवत्व की प्राप्ति को देखकर तब कहता है— मेरी आत्मा शिव होवे। 'मे' से आत्मा का कथन है। 'अस्तु' से इच्छा की प्राप्ति है।।४४।।

कहते हैं— कितने समय तक साधक को शिवत्व की प्राप्ति रहती है? उत्तर देते हैं— नित्य। जैसा कि कहा गया है—

यहाँ सदा अर्थात् निरन्तर जिसका कभी वियोग नहीं होता।।४५।।

कहते हैं— किसको ऐसा कहते हैं? अथवा साधक का कौन शिव है? उत्तर देते हैं—

यहाँ शिव भी भगवान् का नाम है। कैसे शिव है? परिपूर्णता और परितृप्तता होने से शिव है। इसलिये नित्य शिव के उपदेश से नित्य दुःखान्त होता है। कारणाधिकार की निवृत्ति हुई अतः नित्य दुःखान्त भी सिद्ध हुआ।।४६।।

एवमेते पञ्च पदार्थाः कार्यकरणयोगविधिदुःखान्ताः समासविस्तरविभाग-विशेषोपसंहारनिगमनतश्च व्याख्याताः। उक्तं हि—

"आदौ यद् भणति समासोक्तं मध्ये तस्य विस्तरतश्च विभागतश्चोपनयनिगमनेन सतामप्येष निश्चयः" इति।

अत्र यावत् पतिरिति कारणपदार्थस्योपदेशः समासेन। विस्तरस्तु—वामो देवो ज्येष्ठो रुद्रः कामो शङ्करः कालः कलविकरणो बलविकरणोऽघोरो घोरतरः सर्वः शर्वः तत्पुरुषो महादेव ओङ्कार ऋषिर्विप्रो महानीश ईशान ईश्वरोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिव इत्येवमाद्यो विस्तरः। विभागोऽपि—अन्यत् पतित्वम् अन्यदजातत्वम्, अन्यद् भवोद्भवत्वमित्याद्यो विभागः। विशेषः—अन्येषां प्रधानादीनि, अस्माकं तद्व्यतिरिक्तो भगवानीश्वरः। कारणाधिकारे यस्मादाह—ईश्वरः सर्वभूतानामिति। एष उपसंहारः—सार्वकामिक इत्याचक्षते। निगमनम्—ईश ईशान ईश्वरोऽधि-पतिर्ब्रह्मा शिव इति।

तथा पशुरिति कार्यपदार्थस्योद्देशः। तस्य विस्तरो—विद्या कला पशवः। उत्पाद्या अनुग्राह्यास्तिरोभाव्यकाल्य्यविकार्यमस्यपदस्य बोध्यधिष्ठेयत्वे चेत्येवमाद्यो

इस प्रकार पञ्च पदार्थों का अर्थात् कार्य, जीव जगत् का ज्ञान, कारण=परमेश्वर का ज्ञान, योग अर्थात् शिव से जीव की एकता, विधि=साधना क्रम, दुःख की निवृत्ति तक संक्षेप, विस्तार विभाग विशेष, उपसंहार और निगमन के द्वारा ग्रन्थ परिपूर्ण हुआ।

क्योंकि कहा गया है कि सज्जन लोग पहले सूत्र बोलते हैं, पश्चात् उसका भाष्य करते हैं, विभाग करते हैं, उसके बाद उपसंहार करते हैं।

इस ग्रन्थ में पति शब्द कारण पदार्थ का उपदेश करता है जो संक्षेप में है। उसी का विस्तार रूप वाम, देव, ज्येष्ठ, रुद्र, कामी, शङ्कर, काल, कलविकरण, बलविकरण, अघोर, घोरतर, सर्व, शर्व, तत्पुरुष, महादेव, ओङ्कार, ऋषिविप्र, महानीश, ईशान, ईश्वर, अधिपतिर्ब्रह्मा और शिव है। विभाग में भी, एक पतित्व, दूसरा अजातत्व और भवोद्भव आदि हैं। विशेष में प्रकृति आदि। कहते हैं, हमारा ईश्वर सबसे विशिष्ट है। कारणाधिकार में जैसा कि ईश्वरः सर्वभूतानाम् कहा गया। सर्वकामिक कहकर उपसंहार हुआ, स्थिति में, ईश, ईशान; ईश्वर, अधिपतिब्रह्मा और शिव कहा गया।

उसी प्रकार कार्य पदार्थ पशु का उपदेश हुआ। उसका विस्तार विद्या, कला, पशु के रूप में हुआ। विद्या से तात्पर्य है– उत्पाद्य, अनुग्राह्य, तिरोभाव,

सूत्रविद्याधर्मार्थकामैर्भेदैर्दु:खान्तो विद्या। कला द्विविधा:। कार्याख्या: करणाख्याश्च। तत्र कार्याख्या: पृथिव्याद्या:। करणाख्या बुद्ध्याद्या:। पशवश्च त्रिविधा:। देवा मनुष्यास्तिर्यञ्च:। तत्र देवा अष्टविधा ब्रह्माद्या:। मानुष्यं चानेकविधं ब्राह्मणाद्यम्। तीर्यग्योनि च पञ्चविधं पशुमृगाद्यम्। पशव: साञ्जना निरञ्जनाश्च। एवमाद्यो विस्तर:। विभागोऽपि—अन्या विद्या अन्या: कला अन्ये च पशव इत्येवमाद्यो विभाग:। विशेष:—अन्येषां प्रधानादीनि कारणानि, तानीह शास्त्रे कार्यत्वेन व्याख्यातानि। तत्र प्रधानं कारणमन्येषाम्, तदिह शास्त्रे पश्यनात् पाशकत्वेन कार्यत्वेन व्याख्यातम्। तथा पुरुष: कारणमन्यत्र, इह शास्त्रे पशुत्वात् कार्यत्वेन व्याख्यात:। तथा कर्ममध्यत्वात् काल: स्वभाव: उपसंहारवत् (?)। भूतानि विकार्यत्वात् कार्यत्वेन व्याख्यातानि। इत्येष विशेष:। उपसंहार:—सार्वकामिक इत्यर्थ:। निगमनम्—विद्याकलाभूतानि ब्रह्मेति।

तथा योगमिति योगपदार्थस्योद्देश:। तस्यैवं, चरत:, योग: प्रवर्तते (अ.१,सू.१९, २०), उभयथा यष्टव्य: (अ.२, सू.९), अत्यागतिं गमयते

काल्प्य, विकार्य, बोध्य, अधिष्ठेयत्व आदि तथा धर्म, अर्थ, काम और दु:खान्त है। कला दो प्रकार की है— १. कार्य, २. करण। कार्य जैसे स्थूल पृथिव्यादि हैं। करण में बुद्धि है। पशु भी तीन प्रकार के हैं— १. देव, २. मनुष्य, ३. तिर्यग् पक्षि आदि। देव आठ प्रकार के हैं, जो ब्रह्मादि हैं मनुष्य तो अनेक प्रकार के हैं जो ब्राह्मण, क्षत्रियादि से जाने जाते हैं। तिर्यग् योनि वाले भी पाँच प्रकार के हैं— पशु मृग आदि। पशु में भी सगुण और निर्गुण हैं। ये सब विस्तर है। विभाग में— विद्या अलग है, कला अलग है और पशु भी अलग है। विशेष में प्रकृति आदि जो कारण है उन्हीं को इस शास्त्र में कार्य रूप में व्याख्या हुई है। दूसरों में प्रधान कारण होता है किन्तु यहाँ दृश्य होने से कार्य रूप में लिया गया है। वैसे ही पुरुष दूसरी जगह कारण है तो यहाँ पशु होने से कार्य है। उसी प्रकार कर्म, काल, स्वभाव आदि उपसंहार हैं। भूत विकारी होने से कार्य रूप में कहा गया है। ये सभी विशेष में आते हैं। उपसंहार में सर्वकामिक है। निगमन में विद्या, कला, भूत और ब्रह्म है।

उसी प्रकार योग की व्याख्या या उपदेश है। जैसे, साधक विचरण करता है, देव और पितरों का यजन केवल रुद्र से ही सम्पन्न हो जाता, अतिगति की प्राप्ति, शंकर के अतिरिक्त किसी की भक्ति नहीं करना, इसी

(अ.२, सू.१७), नान्यभक्तिस्तु शङ्करे (अ.२, सू.२०), एवं देवनित्यता नित्ययुक्तता अध्ययनं ध्यानं स्मरणं नित्यसायुज्यमिति विस्तरः। विभागः— क्रियालक्षणं क्रियोपरमलक्षणम्, दूरदर्शनश्रवणमननविज्ञानानि (अ.१, सू.२१) गणपतिः (अ.१, सू.३८), भूयिष्ठं संप्रवर्तते (अ.५, सू.१३) सिद्धः, गच्छेद् दुःखानामन्तम् (अ.५,सू.२०, ३९) इत्येवमाद्यो विभागः। ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिश्च। तत्र ज्ञानशक्तिः श्रवणाद्या। क्रियाशक्ति; मनोजवित्वाद्या। इत्येवमाद्यो विभागः। विशेषः—अन्येषां कैवल्यम्, इह तु विशेषो विकरणमिति। प्रतिकरण इति कैवल्यधर्मातिशक्तिर्निष्कलमैश्वर्यमित्येष विशेषः। उपसंहारः—इत्येभिर्गुणैर्युक्त इति। अतो यावन्ति वाक्यविशेषाणि सन्निकृष्टविप्रकृष्टानि निर्वचनानि तानि च सर्वनिर्वचनानीति कृत्वा युक्तमुक्तम्॥

एवमत्र श्रीभगवत्कौण्डिन्यविरचिते श्रीमद्योगपाशुपतशास्त्रसूत्रव्याख्याने पञ्चार्थभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः सह ब्रह्मणा ग्रन्थतोऽर्थतश्च परिसमाप्त इति॥

॥ शिवम् ॥

प्रकार देव नित्यता, नित्य युक्तता, अध्ययन, ध्यान, स्मरण, नित्यसायुज्य आदि योग का विस्तार है।

विभाग में— क्रिया लक्षण, क्रिया से उपरम का लक्षण, दूरदर्शन, श्रवण, मनन की प्राप्ति, गणपति होना, भूयिष्ठ होना आदि सिद्धों का लक्षण दुःखान्त की प्राप्ति ही विभागरूप में है। जिसमें पहला ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति है। जैसे ज्ञानशक्ति, दूरदर्शन श्रवण आदि है और क्रिया शक्ति में मन के समान वेगवान होना आदि है। विशेष में दूसरे के लिये कैवल्य है, यहाँ साधनहीन होने अर्थात् विदेह हो जाना है, प्रतिकरण में कैवल्य धर्म से भी विशिष्ट निष्कल ऐश्वर्य की प्राप्ति यहाँ विशेष में आता है। उपसंहार में साधक इन सभी गुणों से युक्त होना है। अतः इस ग्रन्थ में जो भी विशिष्ट वाक्यों का संबन्ध है उन सभी की व्याख्या कर पूर्ण किया गया है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

इस प्रकार श्री भगवान् कौण्डिन्य विरचित श्रीमद्योग पाशुपतशास्त्र के सूत्र व्याख्यान और पञ्चार्थभाष्य का पञ्चमाध्याय तक हिन्दी अनुवाद पं. चक्रपाणि त्रिवेदी के द्वारा परिपूर्ण हुआ॥

◆·◆·◆

अकारादिक्रमेण सूत्रसूची

◆·◆·◆

शैवभारती शोध प्रतिष्ठानम्

जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी

प्रकाशित ग्रंथों की सूची

			सजिल्द	अजिल्द
१.	लिङ्गधारणचन्द्रिका	– नन्दिकेश्वर शिवाचार्य	रु.१५०	रु.१२५
२.	ब्रह्मसूत्रश्रीकण्ठभाष्यम्	– सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.१५०	- -
३.	वीरशैव अष्टावरण विज्ञान	–डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी	- -	रु.५०
४.	सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा	– डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी	रु.२००	- -
५.	निगमागम संस्कृति	– पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.२००	रु.१५०
६.	सूक्ष्मागमः	– सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.१५०	रु.१२५
७.	चन्द्रज्ञानागमः	– सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.२००	रु.१७५
८.	मकुटागमः	– सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.१२५	रु.१००
९.	कारणागमः	– सम्पा. पं. रामचन्द्र पाण्डेय	रु.१७५	रु.१५०
१०.	निगमागमीयसंस्कृतिदर्शनम्	– पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.३००	रु.२००
११.	पारमेश्वरागमः	– सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.३५०	रु.२००
१२.	Candrajñānāgam	—Tr. by Dr. Rama Ghose	Rs.300	- -
१३.	ईशावास्योपनिषद्	– सम्पा. पं. जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग	रु.१५०	रु.१००
१४.	केनोपनिषद्	– सम्पा. पं. जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग	रु.२००	रु.१५०
१५.	सिद्धान्तप्रकाशिका	– सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.१००	रु.७५
१६.	Makuṭāgama	—Tr. by Dr. Rama Ghose	Rs.175	Rs.150
१७.	शक्तिविशिष्टाद्वैततत्त्वत्रयविमर्शः	– डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी	रु.३००	रु.२००
१८.	अनुभवसूत्रम्	– सम्पा. पं. गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर	रु.२००	रु.१२५
१९.	सिद्धान्तशिखोपनिषद्	– सम्पा. पं. जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग	रु.३५०	रु.२५०
२०.	ब्रह्मसूत्रशाङ्करीवृत्तिः	– सम्पा. पं. केदारनाथ त्रिपाठी	रु.२५०	रु.१५०
२१.	सिद्धान्तसारावलिः	– सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.५५०	रु.४००
२२.	श्री गुरुगीता	– सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.२००	रु.१२५
२३.	शिवाद्वैतदर्पणः	– शिवानुभव शिवाचार्य	रु.१५०	रु.१००

२४.	सिद्धान्तशिखामणि मीमांसा	–सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.३५०	रु.२५०
२५.	देवीकालोत्तरागमः	– सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.१५०	रु.१००
२६.	**Pārameśvarāgama**	—Tr. by Dr. Rama Ghose	Rs.700	Rs.550
२७.	संस्कृत वाङ्मय में वीरशैव साहित्य	–एस. अक्कूरमठ (सम्पा.पं.प्रभुनाथ द्विवेदी)	रु.१५०	
२८.	ऋग्वेदस्यप्रथममण्डलस्य सायणवेंकटमाधव-भाष्ययोस्तुलनात्मकमध्ययनम्	– डॉ. प्रमोदिनी पण्डा	रु.४००	- -
२९.	तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन (२ भाग)	– पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.१२००	रु.९००
३०.	साम्ययोगमीमांसा	– मुकुट बिहारी लाल	रु.३५०	रु.३००
३१.	भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप	– पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.३५०	रु.३००
३२.	संस्कृत वाङ्मय वल्लरी	–डॉ. गंगाधर पण्डा एवं डॉ. प्रमोदिनी पण्डा	रु.३००	- -
३३.	मुण्डकोपनिषद्	– सम्पा. पं. जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग	रु.५००	रु.४५०
३४.	वातुलशुद्धाख्यतन्त्रम्	– सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.३००	रु.२००
३५.	**Transmigration** (जन्मान्तरवादः)	–पं. केदारनाथ त्रिपाठी	रु.२००	रु.१५०
३६.	सांस्कृतिक राष्ट्रवाद	–पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.३५०	रु.३००
३७.	पंचविंशतिलीलाशतकम्	–पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.४००	रु.३००
३८.	**Siddhānta Prakāśikā**	—Translated by T. Ganeshan		Rs.150
३९.	पंचवर्णसूत्रमहाभाष्यम्	–पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.२००	रु.१५०
४०.	तन्त्रागम सार-सर्वस्व	–पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.२००	रु.१५०
४१.	श्वेताश्वतरोपनिषद्	–पं. जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग	रु.४००	रु.३५०
४२.	सिद्धान्त शिखामणि (हिन्दी-व्याख्या)	–पं. राधेश्याम चतुर्वेदी	रु.६००	रु.४५०
४३.	**Siddhānta Śikhāmaṇi (English)**	— Dr. M. Shivakumar Swamy		Rs.1500.00
४४.	कैवल्योपनिषद्	– पं. जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग	रु.४००	रु.३००
४५.	पाशुपतसूत्रम्	– पं. चक्रपाणि त्रिपाठी	रु.४००	रु.३५०
४६.	तन्त्रागमीय ज्ञानकोशः	– डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी, राष्ट्रियपण्डित व्रजवल्लभ द्विवेदी, स्व. डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य स्वामीजी, निप्पाणी	रु.५००	रु.४००

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान
डी. 35/77, जंगमवाडीमठ
वाराणसी-221001